MAHATMA

प्रकाशकीय

महात्मा गाधी की कई पुस्तके 'मण्डल' से प्रकाशित हुई है। उनके जीवन तथा विचार-धारा से सबधित अन्य लेखको की लिखी हुई भी बहुत-सी पुस्तके निकली है। वस्तुत, 'मण्डल' की स्थापना ही गाधी-विचार-धारा को लक्ष्य मे रखकर लोकोपयोगी साहित्य प्रकाशित तथा प्रसारित करने के लिए हुई थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सस्था पिछले दस वर्ष मे प्रयत्नशील है।

'मण्डल' से अबतक गाधीजी की जितनी जीवनिया निकली है, वे प्राय सभी बहुत लोकप्रिय हुई है। उनमे लुई फिशर की 'गाधी की कहानी' और प्रभुदास गाधी की 'जीवन-प्रभात' को विशेष रूप से पसद किया गया है।

हमे हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा हमारे गाधी-साहित्य मे मूल्यवान वृद्धि हो रही है। इसके विद्वान लेखक ने गाधीजी-विषयक पुस्तके तथा अन्य सामग्री का सूक्ष्म अध्ययन करके बडे परिश्रम से यह पुस्तक लिखी है। इसमे गाधीजी की जीवनी तो आ ही गई है, उनके विचारो का भी महत्वपूर्ण ढग से समावेश हुआ है।

मूल पुस्तक अग्रेजी मे लिखी गई है और इग्लैण्ड की प्रमुख प्रकाशन-सस्था एलन एण्ड अनविन द्वारा प्रकाशित हुई है। ससार की कई भाषाओ मे इसके अनुवाद हो चुके है।

पुस्तक की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसकी लेखन-शैली अत्यत रोचक है, साथ ही, जो भी सामग्री इसमे दी गई है, वह प्रामाणिक है।

हम एलन एण्ड अनविन के आभारी है कि उन्होने पुस्तक के हिन्दी सस्करण को निकालने की अनुमति हमे प्रदान की।

हमे विश्वास है कि इस पुस्तक का सारे देश मे स्वागत होगा और यह सभी वर्गो के पाठको द्वारा पढी जायगी।

प्रस्तावना

गाधीजी की भाति अपने जीवन-काल मे निखिल मानवता के मन-प्राणो को इतना अधिक स्पदित और आदोलित करनेवाला तो शायद दूसरा कोई हुआ ही नही। आइस्टीन ने जुलाई १९४४ मे सच ही लिखा था कि "भावी पीढियो को विश्वास ही न होगा कि इस धरती पर हाड-मास का कोई गाधी कभी जन्मा भी था!" लाखो-लाख जनता उन्हे महात्मा के रूप मे पूजती थी, जबकि राजनैतिक विरोधी उन्हे चतुर राजनीतिज्ञ ही समझते थे। अग्रेज भी सत्ता का हस्तातरण हो जाने पर १९४६-४७ के बाद ही महा-विद्रोही मि० गाधी से मानव गाधी को भिन्न करके देख और उनके सही स्वरूप को पहचान सके। उनके पाकिस्तानी निदको को तो उनकी दु खद मृत्यु के बाद ही विश्वास हो सका कि गाधीजी की मानवता हिंदू धर्म मे उनकी श्रद्धा-भक्ति से कही ऊची थी।

अपने समसामयिको पर ऐसी जबर्दस्त छाप डालनेवाले व्यक्ति की जीवनी लिखना आसान काम नही है। लेकिन उन्हे हिंदू देव-परपरा मे अवतार-पुरुष की गरिमा से मडित किये जाने से बचाकर आत्मानुशासन और आत्म-विकास के लिए सतत सघर्षशील, परिस्थितियो से प्रभावित और साथ ही परिस्थितियो के नियामक-निर्माता सहज मानव के रूप मे प्रतिष्ठित करना भी नितात आवश्यक हो गया है, जिसने उन मानवी गुणो का दृढता से पालन और समर्थन किया, जिनकी कसमे तो सभ्य जगत खूब खाता है, पर जिनपर आचरण वह रत्तीभर भी नही करता।

इस जीवन-चरित का विन्यासकाल क्रमानुसार आयोजित करते हुए भी खास खास मामलो मे गाधीजी के दृष्टिकोण के यथोचित और यथावसर विश्लेपण का प्रयत्न भी मैने किया है। भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि, [illegible]जी के दक्षिण अफ्रीका मे लौटने पर भारत की राजनैतिक स्थिति

उनका धार्मिक विकास, जीवन की पद्धति मे परिवर्तन और नये मूल्यो का अभिग्रहण, उनके नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक आदोलन, युद्ध और अस्पृश्यता पर उनका रुख और रवैया—इन सभीपर अलग-अलग अध्यायो मे चर्चा की गई हे। कालानुसारी और विश्लेपणात्मक पद्धतियो के समन्वय से गाधीजी के विशद् जीवन की वैविध्यपूर्ण गाथा, उनके वैचारिक विकास और दोनो के अन्योन्याश्रित सबध को एक ही पुस्तक मे कुछ विस्तार मे प्रस्तुत करने की सुविधा हो गई। गाधीजी कोई सिद्धातशास्त्री नही थे, और न सिद्धातो के अधभक्त। उनके सिद्धात उनकी निजी आवश्यकताओ और जिस वातावरण मे वह रहते थे, अनिवार्यत उसीकी उपज हुआ करते थे। जिस प्रकार उन्हे प्रेरित करनेवाले विचारो को समझे बिना उनके जीवन की घटनाओ को नही समझा जा सकता, उसी प्रकार धर्म, नैतिकता, राजनीति और अर्थनीति आदि से सबधित उनके विचारो को उनके जीवन की परिस्थितियो के सदर्भ के बिना नही समझा जा सकता।

जो चालीस वर्षो तक गाधीजी का समकालीन रहा हो, उसके लिए उन घटनाओ के सबध मे, जिनके गाधीजी केद्र रहे हो, पूर्णत वस्तुनिष्ठ रह पाना कितना मुश्किल है, इसे मैं ही जानता हू, फिर भी घटनाओ और व्यक्तित्वों का मूल्याकन और पुनर्मूल्याकन करते समय किसीका समर्थन अथवा विरोध करने की अपेक्षा मेरा प्रयत्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे उनको समझना और उनका विवेचन करना ही रहा हैं। इसमे मैं कहातक सफल हो पाया हू, इसके निर्णय का भार मेरे पाठको पर ही है।

मैं भारत सरकार और राष्ट्रीय अभिलेखागार के निदेशक महोदय का कृतज्ञ हू, जिन्होने मुझे अभिलेखो और विवरणो की पडताल एव उनका उपयोग करने की अनुमति प्रदान की। मेरा विश्वास है कि उस सामग्री के आधार पर मै पहली बार तत्कालीन सरकार और गाधीजी के पारस्परिक सबधो की उभय-पक्षीय तस्वीर प्रस्तुत कर सका हू। सरकारी विवरणो पर आधारित गाधीजी के सघर्षो का चित्र निश्चय ही एकागी होता, इसलिए मैंने उन सूत्रो का उपयोग घटनाओ को उनके सही परिप्रेक्ष्य मे देखने और कुछ विस्मृत अथवा अस्पष्ट तथ्यो को उजागर करने मे ही किया हे।

गाधीजी के जीवन से सबधित सामग्री की कमी नही है। उनके विशद,

विपुल और नाना प्रवृत्तियो से भरे जीवन को एक पुस्तक के कलेवर मे समेट पाना सरल काम नही। मैं गाधीजी और भारतीय राष्ट्रीय आदोलन पर लिखनेवाले सभी लेखको का ऋणी हू। कुछका नामोल्लेख मैंने पुस्तक मे ही यथास्थान और कइयो का पाद-टिप्पणी मे कर दिया है। विशेप रूप से मैं नवजीवन ट्रस्ट, विक्टर गोलाज लिमिटेड, कैमल एड कपनी, कुर्टिस ब्राउन लिमिटेड, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, जोनाथन केप लिमिटेड और फिलिप मेसन आदि प्रकाशको का आभारी हू, जिन्होने अपनी प्रकाशित पुस्तको मे से उद्धरण देने की अनुमति प्रदान की।

गाधी स्मारक सग्रहालय, नई दिल्ली और विशेपकर श्री अवनीभाई मेहता, अतर्राष्ट्रीय मामलो की भारतीय परिपद् (इडियन कौसिल ऑव वर्ल्ड अफेयर्स) के पुस्तकालय-अध्यक्ष श्री गिरजाकुमार और उनके सहयोगियो एव केद्रीय सचिवालय के पुस्तकालय के कर्मचारियो से इस पुस्तक की तैयारी मे मुझे जो सहायता मिली, उसके लिए मै इन सबको धन्यवाद देता हू।

मैं सर्वश्री वी० के० कृष्ण मेनन, प्यारेलाल और काकासाहब कालेलकर का भी कृतज्ञ हू, जिन्होने चर्चाओ के द्वारा कुछ बातो का स्पष्टीकरण करने की कृपा की। इस पुस्तक मे जिन महानुभावो ने आरभ से ही रुचि ली और मेरा उत्साह बढाया, उनमे स्वर्गीय देवदास गाधी, श्री एन० सी० चौधुरी, श्री के० पी० मुक्तान और श्री एम० के० कौल का उल्लेख करना मैं अपना कर्तव्य समझता हू।

श्री वी० एन० खोसला ने पाडुलिपि को आद्योपात पढकर कई उपयोगी सुझाव दिये। लेकिन पुस्तक मे अभिव्यक्त विचारो और त्रुटियो का पूरा उत्तरदायित्व अकेले मुझीपर है।

पुस्तक के रचना-काल मे मेरी पत्नी ने जिस धैर्य का परिचय दिया, उसके और उनके प्रोत्साहन के लिए मै उनका आभारी हू।

—बी० आर० नदा

विषय-सूची

१	बचपन	१
२	इग्लैड मे	१
३	असफल बैरिस्टर	०
४	विधि निर्मित यात्रा	६
५	राजनीति मे प्रवेश	३२
६	बिना अपराध दड	४४
७	रोटी के बदले पत्थर	५१
८	धार्मिक जिज्ञासा	५६
९	विचारो मे गभीर परिवर्तन	६३
१०	सत्याग्रह की खोज	७०
११	पहला सत्याग्रह-आदोलन	७८
१२	दूसरी बार सत्याग्रह	८२
१३	आँखिरी दौर	९०
१४	दक्षिण अफ्रीका की प्रयोगशाला	९५
१५	उम्मीदवारी	१००
१६	भारतीय राष्ट्रीयता	१०७
१७	शानदार अलगाव	११६
१८	अमृतसर की काली छाया	१३२
१९	विद्रोह का रास्ता	१४०
२०	एक साल मे स्वराज्य	१५१
२१	उत्कर्ष	१५९
२२	अपकर्ष	१६८

२३	कौसिले और साम्प्रदायिकता	१७७
२४	नीचे से शुरुआत	१८७
२५	बढती हुई सरगर्मिया	१९२
२६	रियायत का एक साल	२०१
२७	सविनय अवज्ञा	२०७
२८	समझौता	२१६
२९	गोलमेज परिषद्	२२५
३०	सर्वांगीण युद्ध	२३३
३१	हरिजनोद्धार	२४४
३२	ग्रामीण अर्थव्यवस्था	२५६
३३	काग्रेस द्वारा पदग्रहण	२७०
३४	पाकिस्तान का प्रादुर्भाव	२७८
३५	भारत और द्वितीय महायुद्ध	२८७
३६	खाई बढती गई	२९६
३७	भारत छोडो	३०६
३८	अपराजेय आत्मा	३१४
३९	स्वाधीनता का आगमन	३२२
४०	ज्वालाओ का शमन	३३२
४१	पराजित की विजय	३४२
४२	उपसहार	३५३
	अनुक्रमणिका	३६५

महात्मा गांधी

: १ :

बचपन

"शनिवार को खेल के घटे से तुम गैर-हाजिर क्यों थे ?" प्रधानाध्यापक ने अपने सामने लाये गए चौदह वर्ष के लडके की ओर कडी नजर से देखते हुए पूछा।

"सर, मै अपने पिताजी की तीमारदारी कर रहा था।" लडके ने जवाब दिया, "मेरे पास घडी नही है, बादलो के कारण धोखा हुआ और समय का सही अदाज न लगा सका। जब मै पहुचा तो सब लडके जा चुके थे।"

"झूठ बोल रहे हो ?" प्रधानाध्यापक ने रुखाई से कहा।

१८८३ का साल था, और जगह थी राजकोट—गुजरात कठियावाड की एक छोटी-सी रियासत। वहा के एल्फ्रेड हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक दोराबजी एदलजी गीमी अनुशासन के मामले मे बडे कठोर थे। उन्होने ऊची कक्षाओ के छात्रो के लिए खेल अनिवार्य कर दिये थे। गैर-हाजिर रहनेवालो का कोई बहाना वह मानते नही थे। उस लडके का नाम था मोहन-दास गाधी। झूठे होने का यह आरोप वह सह नही सका, फूट-फूटकर रोने लगा। उसने सच ही कहा था, लेकिन उसकी यह समझ मे नही आ रहा था कि अपनी सचाई का विश्वास वह प्रधानाध्यापक को कैसे दिलाए। इस घटना पर उसने बहुत सोचा और अत मे इस नतीजे पर पहुचा कि "सच बोलनेवाले को चौकस भी होना चाहिए।" बस, उसने तय कर लिया कि आगे कभी ऐसा मौका ही नही आने देगा, जिससे उसकी किसी कैफियत को झूठा समझा जाय।

वह लडका न तो पढाई मे तेज था और न खेल मे। स्वभाव से ही शात, झेंपू और एकातप्रिय था। उस लडके के मुह से लोगो के सामने बोल

तक नही फूटता था। औसत दर्जे का विद्यार्थी समझे जाने की उसे जरा भी फिक्र न थी, लेकिन अपनी प्रतिष्ठा के मामले मे वह बडा सतर्क था। उसे इस बात का गर्व था कि अपने शिक्षको और सहपाठियो से वह कभी झूठ नही बोला था। उसकी नीयत पर कोई जरा भी शक करता तो उसे रोना आ जाता था।

चरित्र के प्रति ऐसी जागरूकता एक चौदह वर्ष के लडके मे कुछ अन-होनी-सी बात लगती है, लेकिन वास्तव मे वह गाधी-परिवार की परपरा का ही एक अग थी। मोहन के पिता करमचद और दादा उत्तमचद अपनी ईमानदारी और दृढ निष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे।

गाधी जाति से बनिया, व्यवसाय से पसारी और जनागढ रियासत के कुतियाणा गाव के मूल निवासी थे। गाधी-वश के एक उद्यागी सदस्य हर-जीवन गाधी ने सन् १७७७ मे पोरबदर मे एक मकान खरीदा, अपने बाल-बच्चो के साथ वही बस गये और छोटा-मोटा व्यापार करने लगे। लेकिन गाधी-परिवार की ख्याति उस समय हुई जब हरजीवन के बेटे उत्तम-चद के कार्यो से प्रभावित होकर वहा के राणा खीमाजी ने उन्हे अपनी रियासत का दीवान बनाया।

पोरबदर गुजरात-कठियावाड की तीनसौ मे से एक रियासत थी। इन रियासतो पर सयोग से राजा के घर पैदा होनेवाले और सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता की मदद से सिहासन पर बैठनेवाले राजकुमार राज करते थे। यो तो कठियावाड राजनैतिक दृष्टि से पिछडा हुआ और सामती इलाका था, लेकिन सदियो से भारत को बुनियादी एकता प्रदान करनेवाले धार्मिक आदो-लनो और सामाजिक सुधारो के प्रभाव से बिलकुल अछूता भी नही था। गुज-रात और कठियावाड मे हिंदुओ के कुछ प्रसिद्ध तीर्थ है। धुर पश्चिम मे श्रीकृष्ण के उत्तर-जीवन की लीलास्थली द्वारिकापुरी अवस्थित है और सोमनाथ का इतिहास-प्रसिद्ध मदिर भी यही है। प्राणी-मात्र को परमात्मा का अव-तस मानकर उसकी पावनता पर समान रूप से जोर देनेवाले बुद्ध, महावीर और वल्लभाचार्य के उपदेश एव मीराबाई के भजन तथा नरसी महेता के गीत यहा के लोगो को प्रेरणा देते रहे है। वैसे तो गुजरात अपने अध्यवसायी व्यापारियो के लिए प्रसिद्ध है, लेकिन वहा धार्मिक और सामाजिक सुधारको

ने भी जन्म लिया। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद काठियावाडी थे और करमचंद गांधी के समकालीन थे। गुजरातियों के चरित्र में बडी दृढता होती है। जब किसी उद्देश्य के लिए वे काम में जुट जाते है तो मार्ग में आनेवाली बाधाओं की परवा नही करते। गुजरात में जन्म लेने के ही कारण शायद गांधी और जिन्ना इस शताब्दी के भारतीय इतिहास को अलग-अलग ढंग से इतना अधिक प्रभावित कर सके।

उन दिनों किसी रियासत की दीवानगीरी चैन की नौकरी नही थी। मनमानी करनेवाले राजाओ, सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता के निरंकुश प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेटो और युगो से दबी-कुचली प्रजा के बीच में रहकर ठीक ढंग से काम करने के लिए काफी कूटनीतिक होशियारी, समझदारी और व्यवहार-कुशलता की जरूरत होती थी। उत्तमचंद गांधी अच्छे प्रशासक साबित हुए। जब वह दीवान बने तो पोरबंदर गले तक कर्ज में डूबा हुआ और वहा बदइंतजामी का बोलबाला था। उन्होंने सारा कर्ज चुका दिया और बहुत अच्छा इंतजाम किया। लेकिन बदकिस्मती से राणा खीमाजी जवानी में ही मर गये। अब महारानी ने हुकमत की बागडोर संभाली। मगर रानी को अपने दीवान की सचाई, स्वाभिमान और स्वतंत्र रूप से काम करना बिलकुल पसंद नही था। दोनों में संघर्ष अवश्यभावी हो गया। जब उत्तमचंद ने खजाने के एक छोटे, लेकिन ईमानदार कर्मचारी कोठारी का पक्ष लेकर उसे शरण दी तो रानी और दीवान में ठन गई। बात यह हुई थी कि कोठारी ने महारानी की बांदियों का गलत हुक्म मानने से इनकार कर दिया था। गुस्से से आगबबूला रानी ने फौज का एक दस्ता भेजकर दीवान के घर पर घेरा डलवा दिया और तोपें चलवा दी। बहुत दिनों तक गांधी-परिवार के पुश्तैनी मकान पर इस गोला-बारी के निशान बने रहे। सौभाग्य से अंग्रेज पोलिटिकल एजेंट को इस बात का पता चल गया और उसने रानी की इन कार्रवाइयों को फौरन रुकवा दिया। इस घटना के तुरंत बाद उत्तमचंद ने पोरबंदर छोड दिया और जूनागढ रियासत में अपने पैतृक गांव के लिए चल पडे। वहा के नवाब ने उनका अच्छा सत्कार किया। लेकिन दरबार में उत्तमचंद ने नवाब को बाए हाथ से सलाम किया। इस गुस्ताखी का कारण पूछे जाने पर उन्होंने जवाब दिया कि "मेरा दाहिना

हाथ तो, सबकुछ हो जाने पर भी, पोरबदर को ही अपना मालिक तसलीम करता है।'' इस बेअदबी के लिए उन्हे दस मिनट तक धूप मे नगे पाव खडे रहने की सज़ा दी गई। लेकिन साथ ही नवाब उनकी स्वामिभक्ति से खुश भी वहुत हुआ और यह इनाम दिया कि अगर वह पुश्तैनी गाव मे व्यापार करना चाहे तो उनसे और उनके वशजो से चुगी नही ली जायगी।

रानी की हुकूमत के वाद राणा विक्रमजीतसिह पोरबदर की गद्दी पर वैठे तो उन्होने फिर से उत्तमचद को अपना दीवान बनाना चाहा, लेकिन वह राजी न हुए। इसपर १८४७ मे उत्तमचद के वेटे करमचद गाधी को, जिनकी उम्र पच्चीस वरस थी, पोरबदर का दीवान वनाया गया। करमचद गाधी ने अट्ठाईस वरस तक पोरबदर की दीवानगीरी की। वह अपने पिता की ही तरह सच्चे और निडर दीवान थे। लेकिन आखिर मे उनका राजा भी उनसे किसी कारण नाराज हो गया। तव ये अपने भाई तुलसीदास को दीवान-गीरी सोपकर राजकोट चले आये और वहा के दीवान बन गये। राजकोट के दीवान की हैसियत से उन्होने एक वडा ही दुस्साहसिक काम किया। सर्व-शक्तिमान ब्रिटिश हुकूमत के असिस्टेट पोलिटिकल एजेट ने जव राजकोट के महाराज की शान मे अपमानजनक शब्द कहे तो करमचद ने उसे बुरी तरह फटकार दिया। इसपर वह गिरफ्तार कर लिये गए। लेकिन उन्हाने उस अग्रेज अफसर से माफी नही मागी। एक रियासती दीवान की इस निडरता से वह अग्रेज अफसर भौचक्का रह गया और मामले को रफा-दफा कर उन्हे छोड देना ही उसने ठीक समझा।

एक-एक करके लगातार तीन पत्नियो की मृत्यु हो जाने पर करमचद ने चौथा विवाह पुतलीबाई से किया, जो उनसे लगभग बीस वर्ष छोटी थी। इनसे उनके तीन पुत्र हुए—लक्ष्मीदास (काला), कृष्णदास (करसनिया) और मोहनदास (मोहनिया)। रलियात (गोकी) वहन नामक एक लडकी भी हुई, जो तीनो भाइयो के वाद तक जीवित रही। पहली पत्नियो से करमचद के दो पुत्रिया और भी थी।

सवसे छोटे और भावी महात्मा, मोहनदास का जन्म २ अक्तूबर, १८६९ को हुआ था।

पोरवदर के दीवान होते हुए भी करमचद अपने पाचो भाइयो के साथ

उसी तिमजिले पैतृक मकान मे रहते थे। जो हिस्सा उन्हे मिला वह नीचे की मजिल पर था। उसमे दो कमरे, एक छोटा रसोईघर और एक बरानदा था। उनके हिस्से का एक कमरा बीस फुट लम्बा और तेरह फुट चौडा तथा दूसरा कमरा तेरह फुट लम्बा और बारह फुट चौडा था। इसी मकान मे अपने भाइयो, बहनो, कई चाचाओ और अनेक चचेरे भाइयो के बीच मोहनदास गाधी बडे हुए। सकरी गलियो और भीड-भरे बाजारोवाला पोरबदर नगर अरब सागर के तट पर बसा हुआ है। पूरा नगर एक बडे परकोटे से घिरा हुआ है, जिसका ज्यादातर हिस्सा अब तोड दिया गया है। यहा के मकान और इमारतें स्थापत्य कला की दृष्टि से तो उल्लेखनीय नही, परन्तु एक ऐसे मुलायम सफेद पत्थर से अवश्य बनाई गई हैं जो समय के साथ सख्त होता जाता है और धूप मे सगमरमर की तरह चमकता है। इन सफेद पत्थरो के ही कारण इस नगर को 'धौलपुर' का रोमानी नाम दिया गया है। यहा की सडके मदिरो से भरी पडी है। खुद गाधी-परिवार का मकान भी दो मदिरो से लगा हुआ है। इस बदरगाह की जिदगी का समदर से जुडा होना स्वाभाविक ही है। १९वी शताब्दी के उतरार्द्ध मे भी यहा के बीसियो परिवारो के विदेशो से व्यापारिक सबध थे। यही के एक प्रवासी व्यापारी के बुलावे पर गाधीजी बाद मे दक्षिण अफ्रीका गये।

जब मोहनदास सात वर्ष के हुए तो उनके माता-पिता पोरबदर से १२० मील उत्तर, राजकोट रहने चले आये। इस प्रकार राजकोट गाधी-परिवार का दूसरा घर बन गया। लेकिन पोरबदर से भी उनके सबध बरा-बर बने रहे। राजकोट मे बच्चो के खेलने के लिए समुद्र का किनारा नही था, इस नगर मे 'धौलपुर' की सुदर छटा भी नही थी, लेकिन राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से यह उतना पिछडा हुआ नही था। पोरबदर मे मोहन एक प्राइमरी स्कूल मे जाता था, जहा बच्चे धूल मे अगुलियो से वर्ण-माला लिखते थे। लेकिन राजकोट मे हाई स्कूल था।

मोहन की माता पुतलीबाई बडी योग्य महिला थी। रनिवास मे उनकी इज्जत थी और राज-परिवार की महिलाओ से मैत्री। लेकिन खुद उन्हे अपने घर और परिवार के कामो मे लगे रहना ज्यादा सुहाता था। घर मे जब भी कोई बीमार पडता, वे उसकी तीमारदारी मे रात-दिन एक कर

देती थी। आम तौर पर औरतो मे पाया जानेवाला अच्छे कपडो और गहनो का शौक उनमे जरा भी नही था। उनका जीवन मानो व्रत और उपवासो का एक अतहीन सिलसिला ही था और अपनी इसी आस्था के बल पर उन्होने अपने बेहद कमजोर शरीर को टिका रखा था। दिन और रात मे, चाहे वह घर मे हो या मदिर गई हो, बच्चे उन्हे हर समय घेरे रहते थे। उनके इन व्रतो और लम्बे-लम्बे उपवासो मे बच्चे परेशान भी होते थे और आकर्षित भी। धर्मग्रथो मे वह पारगत नही थी। पढी-लिखी भी कुछ खास नही थी। केवल अटक अटककर गुजराती पढ लेती थी। धर्म-सबधी सारा ज्ञान उन्होने घर पर या कथा-वार्ता एव सत्सगो से प्राप्त किया था। वह आस्तिक भी थी और अधविश्वासी भी। बच्चो को न तो अत्यजो को छूने देती थी और न चद्रग्रहण को देखने ही देती थी। दूसरे बच्चो की अपेक्षा मोहन अधिक जिज्ञासु था। वह बडे बेढब प्रश्न पूछा करता। घर के भगी उका को छूने से छूत कैसे लग जाती है? ग्रहण को देखने से क्या नुकसान होता है? पुतलीबाई जो जवाब देती उनसे अक्सर उसका सन्तोष नही हो पाता था, लेकिन अपने सारे सशयो के बावजूद मोहन मा से इतना घुला-मिला था कि स्नेह के उस दृढ बधन को वह जीवन-भर अनुभव करता रहा। १९०८ मे जब गाधीजी, ३९ वर्ष के थे, एक लेखक ने लिखा है, "जब वह अपनी माता के बारे मे बाते करते है तो उनकी आवाज कोमल हो जाती है और आखे प्रेम मे आलोकित हो उठती हैं।" यह सच है कि पुतलीबाई अपने बेटे की जिज्ञासा को शान्त नही कर पाती थी और उसके मन को किशोरावस्था की अस्पष्ट नास्तिकता की ओर बहने से रोक भी नही सकती थी, परन्तु फिर भी उनके अनन्त प्रेम, सीमातीत, कठोरतम और दृढ इच्छा-शक्ति ने गाधीजी के जीवन को अमिट रूप से प्रभावित किया है। माता के ये गुण उस व्यक्ति के लिए प्रेरणा के अमर स्रोत बन गये, जिसे अपने भावी जीवन मे सयम और आत्म-नियन्त्रण के लिए सतत सघर्ष करना था और जिसकी सारी लडाइया मनुष्य के दिल को जीतने के लिए लडी जानी थी। पुतलीबाई से प्रेरित नारी की जो प्रतिमा उनके हृदय मे अकित हुई वह प्रेम और बलिदान की प्रतिमा थी। मातृत्व की इस सहज स्नेह भावना का कुछ अश गाधीजी मे भी था, जो उनकी उम्र के साथ

निरन्तर विकसित होता गया और अन्तत परिवार तथा समुदाय के सकुचित दायरो को तोडकर सम्पूर्ण मानवता मे व्याप्त हो गया। गाधीजी ने अपनी माता से सेवा का वह उत्साह ही नही पाया, जिसकी प्रेरणा से वह अपने आश्रम मे कोढियो के घाव धोया करते थे, बल्कि आत्म-पीडा द्वारा दूसरो के हृदय को प्रेरित और द्रवित करने की कला भी सीखी, जिसका कि पत्निया और माताए अनन्त काल से प्रयोग करती आ रही है।

मोहन के पिता करमचन्द गाधी ने स्कूली शिक्षा जरा भी नही पाई थी। लेकिन दुनियादारी का उनका ज्ञान बहुत बढा-चढा था। आदमियो की उनकी परख भी बहुत अच्छी थी। अपने पुत्र के शब्दो मे वह "अपने भाई-बन्धुओ को प्यार करनेवाले, सत्यवादी, वीर और उदार थे।" धन जोडने मे उनकी जरा भी रुचि नही थी, यहातक कि अपने पीछे बच्चो के लिए कोई जायदाद भी नही छोड गये। उनके घर मे रामायण और महाभारत जैसे पुराण ग्रथो का पारायण होता था। जैन मुनियो तथा पारसी और मुस्लिम मतो से धर्म के तत्त्व पर प्राय चर्चाए भी होती थी। लेकिन करमचन्द का धर्म अधिकतर औपचारिकता तक ही सीमित था। स्वय उनके बेटे का, अपनी बासठ वर्ष की उम्र मे कहना है, "जो भी धार्मिकता आप मुझमे देखते है वह मैंने अपनी मा से पाई है, पिताजी से नही।"[1]

करमचद और उनके सबसे छोटे बेटे की उम्र मे आधी सदी का अन्तर था। उम्र के इस फर्क ने पुत्र के लिए पिता को स्नेहशील साथी की जगह सोलहो आने पूजनीय बना दिया था और जब इस पितृभक्त बालक ने श्रवण की पितृभक्ति पर एक पुराना नाटक पढा तो अन्धे माता-पिता को कावर मे बिठाकर तीर्थ-यात्रा के लिए ले जाते हुए श्रवण का चित्र कोमल-मति मोहन के मस्तिष्क पर अमिट रूप से अकित ही नही हुआ, श्रवण उनका आदर्श भी बन गया। माता-पिता की आज्ञा का पालन उसका मूल-मन्त्र हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, माता-पिता के साथ-साथ पहले शिक्षको और तब सभी बडे लोगो की आज्ञा का तत्परता से पालन करना उसका अटल नियम बन गया। लेकिन बाल-सुलभ आच-

---

[1] 'महादेवभाई की डायरी', अग्रेजी सस्करण, खड १, ३१ मार्च, १९३२ का उल्लेख

रणो के इस परित्याग ने उसे इतना सकोची, भीरु और झेपू बना दिया कि उसने हमउम्र बालको के साथ खेलना ही नही, बोलना-बतियाना भी बन्द कर दिया। वह अपनेको इतना हीन और अयोग्य समझने लगा कि यदि स्कूल मे कोई पुरस्कार अथवा पदक मिलता तो इस आशका से उसे अन्दर की जेब मे रख लेता कि कही दूसरो को उसकी योग्यता की जानकारी न हो जाय।

मानो इतना काफी न हो, इसलिए तेरह वर्ष की कच्ची उम्र मे उस बेचारे का विवाह भी कर दिया गया। माता-पिता ने बचत और सुविधा के लिहाज से तीन शादिया एक साथ की—मोहन की, कृष्णदास की और उसके एक चचेरे भाई की। मोहन की वधू गाधी-परिवार के मित्र और पोरबदर के एक व्यापारी गोकलदास मकनजी की पुत्री थी। इन बच्चो मे और खास तौर पर मोहन मे किशोरावस्था की उमग के तूफानी जोश से प्रेम का उदय हुआ। एक छोटी-सी गुजराती पुस्तक से मोहन ने पत्नी के प्रति आजीवन निष्ठावान रहने का आदर्श ग्रहण किया। अपने इस सकल्प के बाद वह इस नतीजे पर पहुचा कि पत्नी को भी उसके प्रति ऐसी ही निष्ठा बरतनी चाहिए। मतलब यह कि पत्नी के चाल-चलन पर चौकसी रखने का उसे पूरा-पूरा अधिकार है। सहेलियो के यहा या मदिर जाने के लिए उसे अपने पति से इजाजत लेनी होती थी। मोहन उन दिनो एक बुरे मित्र की सोहबत मे था, जिसने उसकी ईर्ष्या को भडकाकर मामले को और भी जटिल कर दिया था। नन्ही कस्तूरबाई बडी ही मनस्वी लडकी थी। पति के इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण नियत्रणो से नाराज हो जाती और शात एव दृढ ढग से उनका विरोध करती। सदेहो और आशकाओ के वे दु खभरे दिन युवा पति के लिए काफी शिक्षाप्रद सिद्ध हुए। कई बरसो बाद, जॉन एस० होईलैड मे इस प्रसग की चर्चा करते हुए उन्होने कहा "पत्नी को अपनी इच्छा के आगे झुकाने की कोशिश मे मैने उनसे अहिसा का पहला सबक सीखा। एक ओर तो वह मेरे विवेकहीन आदेशो का दृढता से विरोध करती, दूसरी ओर मेरे अविचार से जो तकलीफ होती उमे चुपचाप सह लेती थी। उनके इस आचरण से मुझे अपने-आपपर शर्म आने लगी और मै इस मूर्खताभरे विचार से अपना पीछा छुडा सका कि पति होने के नाते मै

उनपर शासन करने के लिए जनमा हू । इस तरह वह अहिंसा की शिक्षा देने-वाली मेरी गुरु बनी ।" विवाह का सीधा नतीजा यह हुआ कि मोहन उस साल स्कूल मे फेल हो गया । लेकिन अगले साल उसने एक साथ दो कक्षाओ की परीक्षा देकर इस नुकसान की भरपाई कर ली । उसके बडे और चचेरे भाइयो को तो शादी के कारण पढाई से ही हाथ धोना पडा था, लेकिन सौभाग्य से मोहन के साथ ऐसा नही हुआ, उसकी पढाई जारी रही ।

आज्ञाकारी होने का मोहन को मन-ही-मन बडा गर्व था । उसने बडो की आज्ञा का पालन करना सीखा था, मीन-मेख निकालना नहीं । लेकिन एक समय आया जब यह आज्ञाकारिता उसके लिए दु खदायी हो गई । किशोरावस्था के विद्रोह का रूप तोडे जानेवाले निषेधो और वर्जनाओ की शक्ति पर निर्भर करता है । गाधी-परिवार वैष्णव सप्रदाय का अनुयायी था । इस सप्रदाय मे मास-भक्षण और धूम्रपान घोर पाप माने जाते थे । इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नही कि मोहन अपने जीवन के इस विद्रोही काल मे मास-भक्षण और धूम्रपान के प्रलोभनो मे फस गया । मह-ताब नामक एक धूर्त सहपाठी ने बडी चतुराई से उसे इस जाल मे फसाया । मास खाने का जोरदार समर्थन करते हुए उसने कहा कि ऊपर से चाहे जितनी कसमे खायं, मगर शहर के ज्यादातर बाशिन्दे, यहातक कि मदरसे के मास्टर भी छिप-छिपकर गोश्त खाते है । गोश्त खानेवाले अग्रेजो को ही देख लो, कितने हट्टे-कट्टे होते है, साग-सब्जी खानेवाले हिंदुस्तानी आजतक उन्हे हटा नही सके, गोश्त खाना सब बीमारियो की हुक्मी दवा है, इसको खानेवाले के फोडे-फुसी नही होते, और जिन भूतो से सपने मे इतना डरते हो, वे तो जहा तुमने गोश्त खाया कि रफूचक्कर हुए !

दोस्त के इन जोरदार कुतर्को ने मोहन की सारी दलीलो को काट फेका । लेकिन वह अपने माता-पिता को आघात नही पहुचाना चाहता था, इसलिए नदी के किनारे सुनसान जगह मे मास खाने का इन्तजाम किया गया । पहली बार मास खाने के बाद उसकी वह रात बहुत बुरी तरह गुजरी । लगता था जैसे बकरा पेट मे मिमिया रहा हो । लेकिन थोडे-थोडे फासले से मासाहार का यह सिलसिला बराबर चलता रहा और शुरु-शुरु मे जो घबराहट हुई थी, उस पर मोहन ने काबू पा लिया । लेकिन एक उलझन फिर

भी बनी रही। चोरी-छुपे मास खा आने के बाद, हर बार घर मे भोजन के समय मा के आगे भूख न होने का बहाना करना पडता था, और झूठ बोलना मोहन की आदत के खिलाफ था। आखिर मे उसने यह फैसला किया कि जब बडा हो जाऊगा और अपने किये की दूसरो को कैफियत नही देनी होगी तभी मेरे लिए मास खाना उचित होगा।

धूम्रपान इस उम्र का दूसरा अपराध था। एक हमजोली के साथ मोहन अपने काका के द्वारा फेके हुए बीडी के टुकडे पीने लगा। लेकिन इसमे पूरा मजा नही आता था और खरीदकर बीडी पीने के लिए उनके पास पैसे नही थे, इसलिए वे नौकरो के पैसे चुराने लगे। यह लूट-खसोट भी ज्यादा काम नही आई, तब विवश होकर वे एक जगली पौधे के पोले डठल को पीने लगे। इसमे तकलीफ होती, यहातक कि जीवन ही बेकार मालूम पडने लगा। अत मे इतने निराश हो गये कि आत्महत्या के द्वारा उस विकट समस्या को सुलझाने के इरादे से एक शाम सूने मदिर मे पहुचे। मगर ऐन वक्त पर हिम्मत जवाब दे गई और इस दुनिया से किनारा करने के बदले उन्होने धूम्रपान से ही किनारा करने का फैसला कर लिया।

इसी उम्र मे मोहन ने चोरी भी की। अपने भाई का कर्ज चुकाने के लिए उसने सोना चुराया था। लेकिन उसकी आत्मा अपराध के इस बोझ को सह न सकी। एक पत्र मे इस अपराध की बात लिखकर उसने पिताजी को सूचित कर दिया और उनसे माफी मागी। पिता और पुत्र दोनो एक साथ रो उठे। पुत्र ने रोकर पश्चात्ताप किया और पिता ने आसू बहाते हुए उसे माफ कर दिया।

मोहन की किशोरावस्था उसकी उम्र के दूसरे लडको से अधिक उपद्रव-कारी नही थी। मास-भक्षण और धूम्रपान-जैसे निषिद्ध कार्य करने का दुस्साहस या छोटी-मोटी चोरिया इस उम्र के लडको के लिए गैरमामूली बात न तब थी, न अब है। लेकिन जिस तरीके से मोहन के दुस्साहसपूर्ण कार्यो का अत हुआ वह जरूर असाधारण है। हर बार उसने एक समस्या को उठाया और नैतिक आधार पर उसका हल ढूढा। हर अपराध के बाद उसने आगे कभी वैसा अपराध न करने की कसम खाई और हमेशा उस कसम को निभाया।

शायद एक अस्वाभाविक गभीरता ओर सकोच-भीरुता के अलावा उनमे और उसकी उम्र के दूसरे लडको मे कोई फर्क नही था। देखने मे वह उन लडको-जैसा नही लगता था, जो धक्का-मुक्की करके भीड मे से रास्ता बना लेते है। ऊपर से शान ओर उत्साहहीन दिखाई देने के बावजूद उसमे आत्मोन्नति की प्रबल लालसा थी। जो अच्छा न लगे उसे भूल जाना और जो अच्छा लगे उसे करते जाना उसकी आदत मे शुमार हो गया था। जिसे दूसरे लडके मनोरजन के लिए पढते थे उसे वह ज्ञान हासिल करने के लिए रटता था। भारत के लाखो बच्चो ने प्रह्लाद ओर हरिश्चन्द्र की कथाए सुनी या पढी ह। प्रह्लाद असह्य कष्ट सहकर भी भगवान् की भक्ति पर अटल रहा ओर हरिश्चन्द्र ने सत्य के लिए सर्वस्व का त्याग कर दिया। ये पौराणिक चरित्र असल मे कवि की काल्पनिक सृष्टि है ओर पुराणो के पाठक इन्हे कवि-कल्पना ही समझते है। लेकिन मोहन के लिए वे जीवित आदर्श थे। इतिहास अथवा साहित्य उसके लिए विस्मय के अक्षय कोष ही नही, उच्च ओर पवित्र जीवन के अजस्र प्रेरणा-स्रोत भी थे। जब उसकी उम्र के दूसरे बच्चे रस्मी इनामो ओर तमगो के लिए होड बद रहे होते, यह भावुक लडका अपने लिए नैतिक समस्याओ को उभारकर उन्हीमे उलझा रहता ओर उनका समाधान खोजा करता।

२
इग्लैड मे

१८८७ मे मोहन ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। एक साल पहले पिता की मृत्यु हो जाने से घर की आर्थिक हालत बहुत विगड गई थी। घर मे पढाई जारी रखनेवाला अकेला वही लडका था। परिवार को उससे बडी उम्मीदे थी। इसलिए आगे पढाने के लिए उसे पास के शहर भावनगर के कालेज मे दाखिल कराया गया। लेकिन वहा पढाई अग्रेजी मे होती थी। मोहन अग्रेजी के व्याख्यान समझ नही पाता था। उसे बडी निराशा होती, यहातक कि तरक्की और कामयाबी की उम्मीद ही नही

रह गई ।

इसी बीच परिवार के एक मित्र, भावजी दवे ने सुझाया कि मोहन को इग्लैड जाकर कानून पढना चाहिए। उन दिनो इग्लैड से वैरिस्टरी करना कही आसान था। उसकी तुलना मे भारत के विश्वविद्यालय से डिग्री हासिल करने मे धन, समय और शक्ति तीनो अधिक लगते थे और नौकरी के बाजार मे उस डिग्री की उतनी कद्र भी नही थी। बम्बई की डिग्री हासिल कर लेने पर ज्यादा-से-ज्यादा क्लर्की मिल सकती थी, और दवे साहब का कहना था कि अगर मोहन अपने दादा और पिता की तरह काठियावाड की किसी रियासत का दीवान बनना चाहे तो उसे विदेश के किसी विश्वविद्यालय की डिग्री की जरूरत होगी। करमचद और उत्तमचद गाधी ऊचे पदो पर थे और उन्होने थोडी-सी शिक्षा से ही अपना काम चला लिया था, मगर अब जमाना बदल गया था। मैकाले की शिक्षा-योजना लागू हो चुकी थी। भारतीय विश्वविद्यालय हर साल हजारो की सख्या मे कला और कानून के स्नातक तैयार कर रहे थे। ऐसे स्नातको की तादाद बहुत अधिक हो गई थी। इसलिए विलायत जाकर डिग्री हासिल करना ऊची नौकरी की होड मे यकीनन फायदे की बात थी।

विदेश जाने की बात सुनकर मोहन खुशी से नाच उठा। भावनगर कालेज के अध्यापको के लेक्चर उसकी समझ मे नही आते थे। इसलिए दार्शनिको और कवियो के देश और सभ्यता के केन्द्र इग्लैड को देखने की उत्कठा के साथ-साथ कालेज से छुटकारा पाने की आशा बलवती हो उठी। उसके बडे भाई को भी यह प्रस्ताव पसद आया। पर उन्हे इस बात की फिक्र होने लगी कि खर्च के लिए पैसा कहा से आयगा ? और माता पुतलीबाई की तो छाती ही बैठ गई। अपने सबसे छोटे और लाडले बेटे को वह समन्दर-पार विलायत के अनजाने प्रलोभनो और खतरो के बीच कैसे भेज देती ? यह मसला उनके लिए बहुत बडा और टेटा था। जब इसमे उन्हे अपनी अकल चलती दिखाई न दी तो वह सोचने लगी कि "काश, इसका फैसला करने के लिए आज मोहन के पिता जीवित होते !" अत मे उन्होने मोहन को अपने काका के पास, जो गाधी-परिवार के बुजुर्ग और कर्ता-धर्ता थे, इस मामले मे सलाह के लिए भेजा। बैलगाडी और ऊट पर यात्रा

करके मोहन काका मे मिलने के लिए पोरवदर पहुचा। काका ने आव-भगत और स्नेह तो वहुत किया, लेकिन धर्म को भ्रष्ट करनेवाली समुद्री यात्रा के लिए इजाजत देने को खुले मन से राजी न हुए। मोहन पोरवदर राज्य के अग्रेज हाकिम मि० लेली से वजीफा मागने भी गया। गाधी-परिवार ने उस राज्य की वडी सेवाए की थी, लेकिन वहा भी निराशा ही हाथ लगी। उस अग्रेज अफसर ने नाम-मात्र का सौजन्य दिखाते हुए कहा, "पहले ववई विश्वविद्यालय की डिग्री ले लो, इग्लैड के लिए वजीफे की वात उसके वाद करना।" इस तरह हर कदम पर निराशा का सामना करना पड रहा था, लेकिन मोहन ने हिम्मत नही हारी। वह जानता था कि अगर इग्लैड जाना न मिला तो फिर भावनगर लौटना होगा, जो उसे जरा भी पसद न था। कोई चारा न देख वह पत्नी के गहने तक वेचने की वात सोचने लगा। लेकिन जव उदारमना वडे भाई ने रुपया इकट्ठा कर देने की हामी भर ली तो यह मजवूरी गैरजरूरी हो गई। और मा के इत्मीनान के लिए वेचरजी स्वामी नामक एक जैन मुनि ने मोहन से परदेस मे औरत, शराव और मास को न छूने की प्रतिज्ञा करवा ली।

लेकिन एक नई वाधा ठीक उस समय आ खडी हुई, जव मोहन समुद्र-यात्रा पर रवाना हो ही रहा था। उसकी जाति के वडे-वूढे मोढ वनियो ने जाति की पचायत करके मोहन से साफ शब्दो मे कह दिया, "इग्लैड जाना हिंदू-धर्म के खिलाफ है।" इसपर उन्नीस वरस का वह युवक, जो कालेज के विदाई-समारोह मे धन्यवाद के दो शब्द भी ठीक ढग से वोल नही सका था, अपनी जाति के वडी-वडी डाढियोवाले खुर्राट नेताओ के चढे तेवरो का मुकावला करने के लिए डट गया। मोहन की इस वेअदवी से नाराज होकर पचो ने उसे जाति से वहिष्कृत करने का फतवा दे डाला, लेकिन उनके इस नादिरशाही हुक्म के अमल मे आने से पहले ही, ४ सितम्वर १८८८ को, मोहन ववई से विदेश के लिए रवाना हो गया।

राजकोट के देहाती वातावरण से एकदम जहाज का सार्वदेशिक वातावरण मोहन के लिए वडा भारी परिवर्तन था। पश्चिमी ढग के भोजन, यूरोपीय वेशभूषा और रीति-रिवाजो मे अपने-आपको ढालना उसके लिए वडा ही कष्टदायी काम था। साथ के यात्री जव वोलते या पुकारते तो उससे

जवाव देते नही वनता था। स्कूल और कालेज मे जो थोडी-वहुत अग्रेजी सीखी थी वह यहा काम नही आती थी। जब भी बोलने के लिए मुह खोलता अपनी मूर्खता और अज्ञान का विचार उसके मन को बुरी तरह कचोटने लगता था। मास न खाने की प्रतिज्ञा ने उसकी कठिनाइयो को और भी वढा दिया था। वैरे से यह पूछने की हिम्मत न हो पाती थी कि खाने की कौन-सी चीज़ किसोकी वनी है, इसलिए घर से लाई हुई मिठाई और फलो से ही वह अपना काम चला रहा था। विनमागी सलाह देकर उसकी घवराहट को वढानेवालो की कोई कमी नही थी। एक सहयात्री ने उससे कहा कि अदन के वाद मास खाये विना तुम्हारा काम चलने का नही। जव अदन खैरियत से पार हो गय। तो उसे चेतावनी दी गई कि लाल सागर के वाद तो मास खाना निहायत जरूरी हो जायगा और भूमध्यसागर मे पहुचने पर तो मौत के एक मसीहा ने वडी गभीरता से यह घोषणा कर दी कि विस्के की खाडी मे पहुचने पर मास-मदिरा का सेवन करने या मौत को गले लगाने के सिवा और कोई चारा नही है।

इग्लैंड पहुचने के वाद अकेलापन उसपर पूरी तरह हावी हो गया। इसका एक कारण तो यह था कि अपनी मर्जी से देश छोडकर आनेवाले हर भारतीय विद्यार्थी की तरह उसे भी परदेश मे घर की याद सताती थी, और फिर आत्म-विश्वास की कमी, झेंपूपन और अतिशय भावुकताजन्य सशय और आशकाए उसके अकेलेपन की भावना को और उभार देती थी। अकसर उसका मन भटककर राजकोट के अपने घर मे प्यारी मा, पत्नी और नन्हे बच्चे के पास पहुच जाता था। उसे अपना भविष्य अधकारमय दिखाई देने लगता था। दूसरी तरह के जलवायु, अनोखे वातावरण और नये प्रकार के रहन-सहन मे अपने-आपको ढाल लेना आसान नही था। निरा-मिष भोजन की अपनी प्रतिज्ञा के कारण उसे हमेशा ही अधपेट रहने को मजबूर होना पडता था, फिर लोग उसकी खिल्ली भी उडाते थे। अकेले-पन के अतिशय दु ख से घवराकर जव वह सोचता कि लम्बे-लम्बे तीन साल यहा काटने होंगे तो उसकी आखो की नीद उड जाती और वह फूट-फूटकर रोने लगता।

शाकाहार की प्रतिज्ञा उसके जी का जजाल हो गई थी। इग्लैंड के

उसके मित्रो को यह फिक्र सताने लगी कि खान-पान का परहेज उसके स्वास्थ्य को चौपट ही नही कर देगा, वह यहा के समाज मे घुल-मिल भी नही पायगा और खासा नवक बनकर रह जायगा। मास खानेवालो की दलीलो का वह जवाब नही दे पाता था। सचाई तो यह है कि मास खाने की उसकी इच्छा भी होती थी, लेकिन प्रतिज्ञा के कारण हाथ बधे हुए थे। जब मन बहुत चलायमान हो जाता तो मा से की हुई प्रतिज्ञा का पालन करने की शक्ति पाने के लिए हाथ जोडकर भगवान से प्रार्थना करने लगता था।

एक दिन लदन मे घूमते हुए फेरिग्डन स्ट्रीट मे सहसा उसे एक शाकाहारी रेस्तरा मिल गया। इस बारे मे वह स्वय लिखता है कि "इस रेस्तरा को देखकर मुझे उतनी ही खुशी हुई जितनी अपनी मनपसद चीज को पाकर किसी बच्चे को होती है।" भारत से आने के बाद पहली बार इस होटल मे भरपेट खाना खाया। यहा से उसने शाकाहार का समर्थन करनेवाली 'प्ली फार वेजीटेरियनिज्म'[१] नामक किताब भी खरीदी, जिसके लेखक मिस्टर साल्ट थे। उनके तर्क उसके मन को भा गये। अबतक निरामिष भोजन उसके लिए भावना का विषय था, इस पुस्तक को पढने के बाद वह तर्क-सगत विश्वास और आस्था बन गया। मा के प्रति सम्मान-भावना मे अपनाया हुआ शाकाहार एक असुविधाजनक प्रतिज्ञा थी, जो अब उसके जीवन का लक्ष्य हो गया और उसने एक ऐसे शारीरिक और मानसिक अनुशासन को जन्म दिया, जिसकी बदौलत उसका पूरा जीवन ही बदल गया। इस रेस्तरा की खोज का सही महत्त्व वह उस समय नही आक पाया। लेकिन यही से उसकी विकास-यात्रा का वह लम्बा और कठिन मगर पक्का रास्ता शुरू होता है जो उसे लदन की फेरिंग्डन स्ट्रीट मे दक्षिण अफ्रीका की फिनिक्स और टॉल्स्टाय बस्तियो मे होता हुआ भारत मे साबरमती और सेवाग्राम आश्रमो तक ले जाता है।

शाकाहार के प्रति दृष्टिकोण के इस परिवर्तन से गाधीजी मे एक नये आत्मविश्वास का उदय हुआ। लोगो द्वारा सनकी समझे जाने की अब उन्हे जरा भी परवा नही थी। मित्रो को यह अदेशा तो था ही कि निरामिष

---

[१] 'शाकाहार के पक्ष-समर्थन में'

भोजन कही उनकी तदुरुस्ती को खराव न कर दे। अपने इन आलोचको का मुह वद करने और यह दिखा देने के लिए कि निरामिपभोजी भी अपने को नये वातावरण मे ढाल सकता है, उन्होने काफी जोर-शोर से अग्रेजी तौर-तरीको को अपनाना शुरू कर दिया। इस दिशा मे उन्हे अभी वहुत-कुछ सीखना था। भारत के स्कूल और कालेज मे वह काठियावाडी पोशाक पहनते थे, इसलिए जहाज पर यात्रा करते समय और इग्लैड पहुच जाने पर भी उन्हे यूरोपीय पोशाक मे बडी असुविधा होती और वह भोडी भी लगती थी। अग्रेजी उन्हे इतनी कम आती थी कि मामूली बातचीत मे भी पहले मातृ-भापा मे सोचकर तब अग्रेजी मे उलथा करना पडता था।

अव सोलहो आना अग्रेज वनने का निश्चय कर लेने के वाद उन्होने इसके लिए न धन की परवा की, न समय की। जब अग्रेजियत का मुलम्मा चढाने का फैसला कर लिया तो वह वढिया-से-बढिया होना चाहिए, कीमत जो भी देनी पडे। लदन के सवसे फैशनेबुल और महगे दर्जियो से सूट-सिलवाए गए। घडी मे लगाने के लिए भारत से सोने की दुलडी चैन मॅगवाई गई। बातचीत करने, नाचने और गाने की बाकायदा शिक्षा विशे-पज्ञो से ली जाने लगी। इस तरह की शिक्षा-दीक्षा और वेशभूपा से सज्जित वीस वरस के एम० के० गाधी को, १८९० के फरवरी महीने मे, पहली वार पिकैडली सर्कस मे देखने के वाद उनके समकालीन श्री सच्चिदानन्द सिनहा पर जो छाप पडी उसका वर्णन करते हुए वह लिखते है, "उन्होने एक चमचमाती हुई रेशमी टाप हैट पहन रखी थी। ग्लेडस्टन-शैली का उनका कालर एकदम कडक कलफवाला था। पतली धारियोवाली वढिया रेशमी कमीज पर इन्द्रधनुप के सातो रगोवाली शोख टाई वाधी गई थी। गहरे रग की धारीदार पतलून पर उसीके मेल की दुहरे पल्लेवाली वास्केट और ऊपर मार्निग कोट पहिना था। पावो मे पेटेट चमडे के वूट और टखनो को गरमानेवाली पट्टिया (स्पैट्स) थी। हाथो मे चमडे के दस्ताने और चादी की मूठवाली छडी भी। चश्मा जरूर नही लगा रखा था। उस जमाने की प्रचलित भाषा मे कहे तो खासमखास छैला, दिलफेंक रगीला—एक ऐसा विद्यार्थी जो पढाई से मुह मोडकर फैशन और मौज-शौक मे गले

तक डूबा हो।[1]

लेकिन गाधीजी इन प्रयोगो मे अपने-आपको दिलोजान से कभी नही लगा सके। आत्म-निरीक्षण की उनकी आदत ने कभी उनका पीछा न्ही छोडा। अग्रेज़ी नाच और गाना सीखना उनके लिए आसान काम नही था। दर्ज़ी, बजाज और नाचघर उन्हे 'अग्रेज़ साहब' तो जरूर बना देते, लेकिन वह साहबियत सिर्फ शहराती और ऊपरी होती। उनके भाई परिवार का पेट काटकर और शायद कर्ज लेकर, विलायत की महगी पढाई जारी रखने के लिए पैसा भेज रहे थे। जब गाधीजी ने इन सारी बातो पर विचार किया तो उन्हे लगा कि अग्रेज साहब बनने की मरीचिका निरी मूर्खता है।

तीन महीने फैशन की चकाचौंध मे भटकने के बाद उनका आत्मलीन मन फिर अपने घोंवे मे आ बैठा। अधाधुध फिज़ूलखर्ची ने अब अत्यधिक सतर्कतापूर्ण मितव्ययिता का रूप ले लिया। वे एक-एक फार्दिग का हिसाब रखने लगे। सस्ते कमरे मे आकर रहने लगे। नाश्ता खुद बना लेते और बस-किराया बचाने के लिए रोज आठ-दस मील पैदल चलते। इस तरह वह अपना पूरे महीने का खर्च सिर्फ दो पौंड मे चला लेते थे। परिवार के प्रति कृतज्ञता और अपने दायित्व को वह बडी गभीरता से अनुभव करते और उन्हे इस विचार से खुशी होती कि अब भाई से खर्च के लिए ज्यादा पैसा नही मगवाना पडेगा। सादगी ने उनके जीवन के बाह्य और आतरिक दोनो पक्षो को सतुलित कर दिया। शुरू के तीन महीनो की फैशनपरस्ती तो जो लोग उन्हे अग्रेजी समाज मे घुलने-मिलने के लिए अनुपयुक्त समझते थे, उनसे बचने का केवल रक्षात्मक आवरण थी।

आहारशास्त्र और धर्म को एक-दूसरे से जोडना ज्यादती ही है, लेकिन गाधीजी के विकास मे ये दोनो अविच्छिन्न रूप मे जुडे हुए है। शुरू-शुरू की निरामिषता उनकी वैष्णव वश-परम्परा का अग थी। उनके परिवार मे मास-भक्षण निषिद्ध समझा जाता था। कुछ समय के लिए उनके सह-

---

[1] 'अमृत बाजार पत्रिका' के २६ जनवरी, १९५० के गणतन्त्र-दिवस विशेषाक में प्रकाशित लेख

पाठी शेख महताव ने माम खाने के लिए उन्हे चतुराई से फुसला जरूर लिया था, लेकिन माता-पिता से झूठ बोलना उन्हे पसन्द नही था, इसलिए उन्होने फैसला किया कि वडी उम्र मे खुद मुख्तार हो जाने पर ही इस नियामत का उपभोग करेगे। मा से मास न खाने की जो प्रतिज्ञा कर आये थे, इग्लैड मे वडी सावधानी से उसका पालन करते रहे। लेकिन वह प्रतिज्ञा तर्कसम्मत होने की अपेक्षा भावना-जन्य ही अधिक थी और गाधीजी भी इस वात को अच्छी तरह जानते थे। निरामिप भोजन की अच्छाइयो का ज्ञान उन्हे साल्ट की पुस्तक पढने के वाद ही हुआ। फिर तो नये मुल्ला के उत्साह से वह आहारशास्त्र की किताबो-पर-किताबे पढने और पाक-विज्ञान के प्रयोग करने मे जुट गये। उन्होने मिर्च-मसाले छोड दिये और यह नतीजा निकाला कि स्वाद का सवध जीभ से उतना नही, जितना मन से है। स्वाद और रसना पर नियत्रण उस आत्मानुशासन की दिशा मे पहला कदम था, जो कई वरसो के वाद समग्र सयम मे प्रस्फुटित हुआ। आहार के जो प्रयोग उन्होने स्वास्थ्य और मितव्ययिता की दृष्टि से शुरू किये थें, वे आगे चलकर उनके धार्मिक और आध्यात्मिक विकास के अग वन गये।

इग्लैड मे शाकाहार के तर्कसम्मत रूप ग्रहण करने का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि उनकी झिझक काफी हद तक मिट गई और वह सकोच छोडकर धीरे-धीरे समाजोन्मुख होने लगे। 'वेजीटेरियन' (शाकाहारी) पत्रिका मे नौ लेख लिखकर उन्होने पत्रकारिता की दिशा मे पहला कदम उठाया। ये लेख मुख्यत वर्णनात्मक थे। इनमे भारतीयो के भोजन, आदतो, सामाजिक प्रथाओ और त्योहारो का वर्णन किया गया था और यहा-वहा व्यग्य की फुहारे भी थी। यदि इस तथ्य को ध्यान मे रखकर विचार किया जाय कि भावनगर कालेज मे अग्रेजी व्याख्यानो को वह समझ नही पाते थे तो इन लेखो को छपने के लिए भेजना निस्सदेह उनकी वहुत वडी उपलब्धि थी। वह लदन की शाकाहारी सस्था की कार्य-कारिणी के सदस्य वन गये और उसका सदस्यता-पदक वनाने का काम उन्होने अपने जिम्मे ले लिया। वेज़वाटर मे, जहा वह कुछ समय तक रहे थे, उन्होने एक शाकाहारी क्लव की स्थापना भी की। उस समय के प्रमुख

शाकाहारी सर एडविन आर्नोल्ड से उनका सम्पर्क भी हुआ। इनकी लिखी 'लाइट ऑव एशिया' (एशिया की ज्योति बुद्ध-चरित्र) और 'सौग मेलेशियल' (दिव्य सगीत भगवद्गीता का अनुवाद) का गाधीजी पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। लदन के निरामिष जलपान-गृहो और भोजनागारो मे उनकी भेट खान-पान मे परहेज करनेवाले धुनियो और मनकियो मे ही नही, कट्टर धर्म-धुरीण व्यक्तियो से भी हुई। इन्ही धर्म-धुरीणो मे से किसी एक के द्वारा गाधीजी का बाइबल मे पहला परिचय हुआ।

इग्लैड मे तीन वर्ष रह लेने के बाद भी उनका बेहद शर्मीलापन पूरी तरह से दूर नही हुआ। शाकाहारियो के सगठन के अतिरिक्त जिस दूसरे सगठन ने उन्हे आकर्षित किया, उसका नाम था अजुमन इस्लामिया। यह भारत के मुसलमान विद्यार्थियो का सगठन था। ये विद्यार्थी जलपान-गोष्ठियो मे सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नो पर बहस किया करते थे। गैर-मुस्लिम विद्यार्थी भी इन चर्चाओ मे भाग ले सकते थे। इस प्रकार यह सगठन इग्लैड मे कई ऐसे भारतीय विद्यार्थियो को एक-दूसरे के निकट लाया, जिन्होने बाद मे भारत के सार्वजनिक जीवन मे बडा नाम और काम किया। इन लोगो मे गाधीजी, अब्दुर्रहीम, मजरुल हक, मुहम्मद शफी, सच्चिदानन्द सिनहा, और हरिकृष्णलाल गोबा मुख्य थे। गाधीजी सच्चिदानन्द सिनहा और हरिकृष्णलाल की तरह राष्ट्रवादी विचारो के थे, परन्तु वह बहुत कम बोलते थे और दूसरो की तरह अपने मत का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने की क्षमता भी उनमे नही थी।

अठारहवी सदी के आठवे और नवे दशक के इग्लैड मे नई साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक शक्तिया उभर रही थी। पर गाधीजी के उनसे प्रभावित होने का कोई प्रमाण नही मिलता। अपने इग्लैड निवास के बारे मे उन्होने चालीस पृष्ठो का जो विवरण लिखा है उसमे कही भी कार्ल मार्क्स, डार्विन या हक्सले का उल्लेख नही है। विज्ञान, साहित्य और राजनीति उन्हे आन्दोलित नही कर पाते थे। वह पूरी तरह निजी और नैतिक प्रश्नो मे ही उलझे रहते। इस समय उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण और जटिल समस्याए थी—माता से की हुई प्रतिज्ञा को निभाने के लिए मन की दृढता, मास, मदिरा और मायाविनी के निरन्तर प्रलोभनो से अपनी रक्षा, और

दैनदिन जीवन मे सादगी, मितव्ययिता और सोद्देश्यता का समावेश। उनकी पत्रकारिता 'वेजीटेरियन' मे लेख लिखने तक सीमित रही और स्वाध्याय 'गीता' तथा बाइबल के 'नये इकरार' (न्यू-टेस्टामेट) तक। धर्म को छोड किसी भी विषय मे उनका मन नही रमा था और उनका धर्म-सबधी ज्ञान भी अभी अधूरा और आरभिक था, यहातक कि हिन्दू-धर्म-सबधी ज्ञान भी।

२० जून, १८९१ के 'वेजीटेरियन' के एक लेख मे गाधीजी ने अपने इग्लैंड मे विताये दिनो का लेखा-जोखा करते हुए लिखा है, 'अन्त मे मुझे यह मजूर करना चाहिए कि इग्लैड मे तीन साल रहने के बाद भी कई ऐसे काम हैं, जिन्हे मैं कर नही सका लेकिन फिर भी इतना सतोष मुझे जरूर है कि यहा रहते हुए मैने मास और मदिरा को नही छुआ और अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर जानता हू कि इस देश मे भी कई शाकाहारी हैं।''

इस तरह गाधीजी ईमानदार परन्तु सकोच-भीरु युवक थे। उनकी कुछ निश्चित परन्तु सीमित रुचिया थी। घोर पक्षपाती निरीक्षक भी इग्लैड से भारत के लिए रवाना होनेवाले इस युवक वैरिस्टर मे किसी विशेष योग्यता के लक्षण या चिह्न नही खोज सकता था। ऐसा लगता ही नही था कि वह किसी पेशे मे चमकने और नामवरी हासिल करने के लिए वने हो। कानून और राजनीति मे उनके नाम कमाने की बात तो सोची भी नही जा सकती थी।

: ३ :

असफल बैरिस्टर

अग्रेजी तौर-तरीको को सीखने से मुह मोडकर जब गाधीजी ने सारा ध्यान अध्ययन की ओर लगा दिया तो कानून की पढाई के बाद भी काफी समय बचने लगा। उन्होने इस समय का सदुपयोग अपनी शिक्षा-सबधी बुनियादी कमी को दूर करने मे किया। हाई स्कूल तक की उनकी शिक्षा

मामूली ही थी, खास तौर पर अंग्रेजी मे कच्चे थे वह जिससे खासी दिक्कतो का सामना करना पडता था। कैम्ब्रिज या ऑक्सफोर्ड मे भर्ती होने के लिए न तो समय था और न पैसा ही, इसलिए उन्होने लन्दन विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा देने का फैसला किया और तैयारियो मे लग गये। पहली वार लैटिन मे नापास हो गये, पर हिम्मत नही हारी। मेहनत करके दुबारा वैठे ओर पास हुए। लैटिन भाषा का यह ज्ञान कानून की पढाई मे तो काम आया ही आगे चलकर जब दक्षिण अफ्रीका मे वकालत की, तब भी इससे बडी मदद मिली, क्योकि वहा की अदालतो मे रोमन-डच कानून चलता था, और अंग्रेजी लिखने की उनकी सरल और प्रवाहपूर्ण शैली के निर्माण मे भी इस लेटिन ज्ञान का काफी हाथ है।

उन दिनो कानून की परीक्षाए मुश्किल नही हुआ करती थी। परीक्षक उदार होते थे और काफी विद्यार्थी पास हो जाया करते थे। कानून के ज्यादातर विद्यार्थी परीक्षा मे पास होने के लिए पाठ्य-पुस्तको के साराश रट लेते थे, लेकिन गाधीजी को यह तरीका अच्छा नही लगा। उन्होने दत्तचित्त होकर पढाई की।

लैटिन भाषा मे पूरा 'रोमन ला' पढा, ब्रूम के 'कामन ला'[1] का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया, स्नेल का 'इक्विटी'[2] टयूडर के 'लीडिग केसेज'[3] और विलियम तथा एडवर्ड की 'रीयल प्रापर्टी'[4] पाठ्य-पुस्तको को खूब मेहनत से और पूरा-पूरा पढा। आत्मविश्वास की कमी और ईमानदार होने के कारण उन्होने कानून की परीक्षा मे जरा भी लापरवाही नही बरती। पढाई और तैयारी मे एडी चोटी का पूरा जोर लगा दिया। पास हो गये, पर मन मे नई चिंताए और नई आशकाए उभरने लगी। कानून तो खैर पढ लिया और पास भी हो गये, मगर वकालत कर भी पायगे ? चार आदमियो के बीच तो अजनबियो से बोलते नही बनता है, भरी अदालत मे विरोधी पक्ष के वकील से जिरह और बहस कैसे की जायगी ? सर फीरोजशाह मेहता जैसे धाकड वकीलो का नाम उन्होने सुन रखा था। ऐसे दबग वकीलो के सामने पड जाने पर अपनी दुर्गति के विचार-मात्र से उनका कलेजा कापने लगता। आखिर किसीसे सलाह लेना

[1]सामान्य कानून, [2]न्याय सगति, [3]नजीर मुकदमे, [4]वास्तविक सपत्ति

बहुत जरूरी हो गया, मगर जाते किसके पास ? महान देशभक्त और प्रख्यात वकील दादाभाई नौरोजी उन दिनो इग्लैड मे ही थे, लेकिन क्या उस समय गाधीजी उनसे मिलने की हिम्मत कर सकते थे ? अत मे एक अग्रेज वकील के पास गये। उसने घबराये हुए भारतीय नौजवान को सलाह दी कि विभिन्न विषयो पर खूब पढो, इतिहास का अपना ज्ञान बढाओ और मानव-स्वभाव का अध्ययन करते रहो। गाधीजी ने बात मान ली। तुरत बाजार से मुखाकृति-विज्ञान पर एक किताब खरीद लाये और वकालत के मुश्किल काम के लिए वकीलसाहब की सलाह के अनुसार अपने-आपको तैयार करने मे लग गये। घबराहट जरूर बहुत हो रही थी, इसलिए उस अग्रेज वकील की इस राय से गाधीजी को बडी सात्वना मिली कि उच्च-कोटि की विचक्षणता, अच्छी याददाश्त और पूरी काबलियत से ही इस पेशे मे सफलता मिलती हो सो बात नही, ईमानदारी और मेहनत से काम करनेवाले भी तरक्की कर सकते हैं। मतलब यह कि जब भारत के लिए रवाना हुए तो 'निराशा के घटाटोप मे आशा की एक मद्धिम सी किरण भी थी।'

बम्बई मे जहाज से उतरते ही एक अत्यन्त दु खद समाचार सुनने को मिला। जब वह इग्लैंड मे थे तभी मा की मृत्यु हो गई थी। परिवारवालो ने जान-बूझकर उनसे इस खबर को छिपाये रखा था। गाधीजी को इस क्रूर आघात से बडी गहरी चोट लगी। कई बरसो बाद, अपनी 'आत्मकथा' मे उन्होने लिखा

" मेरे बहुत-से मनोरथ मिट्टी मे मिल गये।" माता का तप पूत जीवन, दृढ आस्था और प्रचुर प्यार गाधीजी के हृदय-पटल पर अमिट रूप से अकित हो गया। भविष्य के अपरिग्रही, मौन व्रत और उपवासो मे सलग्न, मार्ग-दर्शन के लिए ईश्वर पर निर्भर, घृणा का प्यार से जवाब देनेवाले लुगीधारी महात्मा के निर्माण मे सबसे अधिक प्रभाव उनकी माता पुतलीबाई का ही था।

लौटकर आने पर गाधीजी को सबसे पहले अपनी मोढ वणिक् जाति से निपटना पडा, जिसने उन्हे विलायत-यात्रा के दड-स्वरूप जाति से बहिष्कृत

कर दिया था। भाई के आग्रह पर गाधीजी को गोदावरी के पवित्र जल मे शुद्धि-स्नान के लिए नासिक जाना पडा। लेकिन इससे जाति के सिर्फ एक ही फिरके का समाधान हुआ। दूसरे फिरके ने उनपर लगाई रोक को उठाने से साफ इनकार कर दिया। गाधीजी ने इस अत्याचार का बिलकुल नये ढग से सामना किया। न तो उन्होने विरोध किया और न मन मे कीना रक्खा, उल्टे बहिष्कार को मजूर कर लिया और बराबर उसका पालन करते रहे। इस आचरण से कालातर मे जातिवालो का अत्याचार और विरोध काफी कम हो गया और अन्त करण की भाषा ने यहा तक काम किया कि मोढ बनियो मे जो कट्टर विरोधी थे, आगे चलकर उनमे से अधिकाश उनके सामाजिक और राजनैतिक आदोलनो के प्रबल समर्थक बन गये। आरभिक काल के इन अनुभवो मे गाधीजी के मन मे किसी तरह की कटुता नही पैदा हुई। वर्णाश्रम धर्म का उन्होने बराबर समर्थन किया, हा, जाति-प्रथा की रूढिवादिता और कट्टरता को अवश्य कभी प्रश्रय नही दिया।

घरवालो को गाधीजी से बडी उम्मीदे थी, क्योकि उनकी शिक्षा पर काफी खर्च किया गया था। बडे भाई तो एक साथ 'धन, नाम और यश' तीनो की आस लगाये बैठे थे। गाधीजी सबकी आशाए पूरी करने को उत्सुक भी थे। परन्तु बैरिस्टरी की डिग्री जादू-टोना तो थी नही कि आते ही आदमी अदालत मे चमक जाता और वकालत से सोना बरसने लगता! यहा आने पर गाधीजी को पता चला कि विलायत के पाठ्य-क्रम मे हिंदू और मुस्लिम कानून पढाया ही नही जाता। राजकोट के देशी वकील को भारतीय कानून की ज्यादा जानकारी थी और वह बैरिस्टरो की अपेक्षा फीस भी कम लेता था। ऐसी दशा मे राजकोट मे प्रैक्टिस करने का अर्थ था अपनी खिल्ली उडवाना। इसलिए गाधीजी के मित्रो ने उन्हे यह सलाह दी कि वह बम्बई जाकर भारतीय कानून का अध्ययन करे, वरिष्ठ न्यायालय मे अनुभव प्राप्त करे और इस बीच जो छोटे-मोटे मुकदमे मिल जाय उन्हे वहा की अदालत मे लडे। गाधीजी उनकी सलाह मानकर बम्बई चले आये और भारतीय कानून के अध्ययन मे जुट गये। थोडे ही समय मे उन्होने साक्ष्य अधिनियम (एविडेंस एक्ट) का मनन कर डाला, मेइन के

'हिंदू ला' को छान गये और दीवानी प्रक्रिया सहिता (जाव्ता दीवानी) मे भी पारगत हो गए।

इस तरह भारतीय कानून की जानकारी और समझ तो वढी, लेकिन आमदनी मे कोई वढती नही हुई। प्रैक्टिस वढाने का आजमदा ढग था दलालो को कमीशन देकर मुकदमे पाना, लेकिन गाधीजी इसे अपने पेशे की शान के खिलाफ और अपमानजनक समझते थे। पर खुद होकर तो मुकदमे देर से ही आते हैं। लवे इतजार के वाद ममीवाई नामक एक गरीव औरत का मुकदमा उन्हे मिला। यही उनका सवसे पहला मुकदमा था, जिसके लिए उन्होने तीस रुपया फीस ली और खफीफा अदालत के हाकिम के इजलास मे पेश हुए। लेकिन जव गवाह से जिरह करने के लिए उठे तो बुरी तरह घवरा गये। मुह से बोल तक नही निकला, पाव कापने लगे, सिर चकरा गया और कुर्सी थाम लेनी पडी। मुवक्किल के फीस के रुपये लौटा दिये गए और गाधीजी का मन घोर निराशा से भर गया। जिस पेशे की शिक्षा के लिए विलायत जाकर इतना पैसा खर्च किया था, उसमे पहले ही मौके पर ऐसा वुरा हाल हुआ! उन्हे अपना भविष्य भयकर रूप से अवकारमय दिखाई देने लगा।

उस समय की उनकी परेशानी का अदाज इसी वात से लगाया जा सकता है कि ववई के एक हाई स्कूल मे पचहत्तर रुपये मासिक पर वह कुछ घटो के लिए मास्टरी करने को तैयार हो गये और दरख्वास्त भी भेज दी। लदन की मैट्रिक्यूलेशन पास थे और उसमे लैटिन दूसरी जवान थी, इसलिए नौकरी पा जाने की पूरी आशा थी। लेकिन स्कूल तो किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय का स्नातक चाहता था, इसलिए गाधीजी को वहा भी नौकरी न मिल सकी। अत मे वे अर्जी दावे लिखने लगे और यह जानकर कुछ सतोप हुआ कि इस काम मे गुजर-वसर की जा सकती है। लेकिन इस काम के लिए ववई रहना जरूरी नही था। वह अपना मामूली-सा कारवार समेटकर राजकाट लौट आये और अर्जी-दावे लिखकर लगभग तीनसौ रुपया महीना कमाने लगे।

अर्जी-दावे लिखनेवाले वैरिस्टर के रूप मे उनका काम शायद जम भी जाता, लेकिन सहसा एक मुसीवत गले आ पडी। उनके वडे भाई लक्ष्मीदास

पहले राजकोट मे ऊचे पद पर थे। उनपर राणा को गलत सलाह देने की तोहमत लगाकर इसकी शिकायत वहा के पोलिटिकल एजेंट से कर दी गई। इस अग्रेज अफसर से गाधीजी विलायत मे मिल चुके थे। उससे मुलाकात करके मामले को सभालने का बडे भाई ने गाधीजी से आग्रह किया। पोलिटिकल एजेंट ने गाधीजी के इस बीच-बचाव का विरोध ही नही किया, उन्हे अपने घर से निकाल भी दिया। गाधीजी इस अपमान से झल्ला उठे। वह इस अग्रेज अफसर पर मानहानि का मुकदमा दायर करने की बात सोचने लगे। जो लोग अग्रेज नौकरशाही के तौर-तरीको से वाकिफ थे, उन्होने समझाया कि इस तरह का मुकदमा तो उलटे तुम्हीको तबाह कर देगा। अत मे बबई के नामी वकील सर फीरोजशाह मेहता से सलाह ली गई। उन्होने कहा, "ऐसे अनुभव तो सभी वकील-बैरिस्टरो को रोज ही होते है। गाधी विलायत से नया ही आया है, इसलिए उसका मिजाज जरा-सा तेज है। अगर वह कुछ सीखना चाहता है तो उसे इस अपमान को पी जाना चाहिए।" उन दिनो भारत मे राजनैतिक जागरण अभी हुआ नही था और सर्वत्र ब्रिटिश हुकूमत का बोल-बाला था। वकील और इसी तरह के पेशे के दूसरे लोग अग्रेज हाकिमो के नादिरशाही रवैये और गुस्ताखियो के मारे परेशान थे, मगर उन्हीके पाव तले गर्दन दबी होने के कारण कुछ कर भी नही सकते थे। हालत यह थी कि अग्रेज अफसर के गुस्से की आग मे प्राय कई होनहार पर तेजमिजाज नौजवानो के पख झुलस जाया करते थे।

काठियावाड के अगणित छोटे-छोटे राजाओ और उनके कृपापात्रो मे आपसी लाग-डाट और दरबारी कुचक्रो का बाजार सदैव गर्म रहता था। ऐसा भ्रष्ट और जोड-तोडवाला वातावरण गाधीजी के स्वभाव से जरा भी मेल नही खाता था। फिर जिस पोलिटिकल एजेंट से झगडा हो गया था उसीकी कचहरी मे उनका ज्यादातर काम रहता था। यह सब उन्हे जहर-जैसा लगता। इसलिए जब एक साल के लिए दक्षिण अफ्रीका जाने का सदेश मिला तो उन्होने खुशी-खुशी मजूर कर लिया। वहा चालीस हजार पोड के दीवानी दावे का काम था। आने-जाने के फर्स्ट क्लास के किराए और रहने-खाने के खर्च के अलावा १०५ पोड नकद मेहनताना दिया जा रहा था। मेहनताने की रकम ज्यादा नही थी, न यही तय हो पाया था कि उन्हे

कानूनी सलाहकार की हैसियत से ले जाया जा रहा है या लिखा-पढी करने के लिए, फिर भी गाधीजी ने मजूर कर लिया, क्योकि चुनाव करने की स्थिति मे वह उस समय थे ही नही।

यह गाधीजी की दूसरी विदेश-यात्रा थी। पहली बार १८८८ की विदेश-यात्रा की ही तरह इस बार भी वह अपनी तात्कालिक कठिनाइयो से घबराकर दक्षिण अफ्रीका जा रहे थे। स्वदेश मे तो उनके स्वाभिमान को पग-पग पर ठोकरे खानी पड रही थी तथा व्यावसायिक प्रगति और भविष्य के मार्ग मे बाधाए-ही-बाधाए दिखाई देती थी।

लेकिन दक्षिण अफ्रीका मे जन-सेवा और आत्म-विकास के जो अपूर्व अवसर मिलनेवाले थे उनकी तो गाधीजी ने सपने मे भी कल्पना नही की थी, और उस घमडी अग्रेज अफसर को ही कहा पता था कि एक युवक बैरिस्टर को अपने घर से धकियाकर उसने अनजाने ही ब्रिटिश साम्राज्य का कितना बडा अहित कर डाला था!

: ४ :

विधि-निर्मित यात्रा

गाधीजी १८९३ के मई महीने मे डरबन पहुचे। उनके मुवक्किल अब्दुल्ला सेठ ने बदरगाह पर उनका स्वागत किया। ये नैटाल के सबसे धनी भारतीय व्यापारियो मे गिने जाते थे।

गाधीजी डरबन मे एक सप्ताह रुके और फिर प्रिटोरिया चले गए, क्योकि वही रहकर उन्हे काम करना था।

डरबन मे उन्हे पहली बार रग द्वेष का दु खद अनुभव हुआ। अब्दुल्ला सेठ उन्हे डरबन की अदालत दिखलाने ले गये। वहा यूरोपियन मजिस्ट्रेट ने गाधीजी को अपनी पगडी उतारने का हुक्म दिया। उन्होने हुक्म मानने से इनकार कर दिया। अदालत के कमरे से बाहर चले आये और उसी समय स्थानीय पत्रो को मजिस्ट्रेट के दुर्व्यवहार के खिलाफ जोरदार पत्र लिखे वहा के समाचारपत्रो ने इस सवाद के सिलसिले मे गाधीजी का उल्लेख,

'विनबुलाये मेहमान' (अनवेलकम गेस्ट) शब्दो से किया था। गाधीजी के लिए यह बिलकुल नया अनुभव था। इस तरह के खुल्लमखुल्ला रग-भेद से कभी उनका सावका नही पडा था। भारत मे ब्रिटिश अधिकारियो की उद्दडता का कारण गाधीजी उन लोगो का दिमागी फितूर मानते थे, क्योकि इग्लैड मे वह स्वय कई भले और सुशील अग्रेजो के सपर्क मे आ चुके थे और उनके सद्व्यवहार और भलमनसी के कायल थे।

लेकिन डरबन से प्रिटोरिया जाते हुए रास्ते मे उनके साथ जो-कुछ गुजरा उसकी तुलना मे डरबनवाली घटना कुछ भी नही थी। शाम को जब उनकी गाडी मैरित्सवर्ग पहुची तो उन्हे पहले दर्जे का डिब्बा छोडकर निचले दर्जे के आखिरी डिब्बे मे जाने के लिए कहा गया। इनकार करने पर धक्का मारकर बडी बेहूदगी से उन्हे पहले दर्जे से नीचे उतार दिया गया। ठड मे ठिठुरती हुई रात मे वह मैरित्सवर्ग स्टेशन के अधेरे वेटिग-रूम मे जा बैठे और सारी घटना पर विचार करने लगे। दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो को जिन अपमानजनक परिस्थितियो मे रहना पड रहा था उसके बारे मे उनके मुवक्किल अब्दुल्ला सेठ ने कुछ भी नही बताया था। वह सोचने लगे कि ऐसी दशा मे इकरारनामे को रद्द करके भारत लोट जाना वाजिव होगा या जो भी गुजरे उसे सहते जाना और काम पूरा करने के बाद ही लौटना? भारत उन्हे इसीलिए तो छोडना पडा था कि पोलिटिकल एजेट से झगडा हो गया था और राजकोट मे रहना मुश्किल हो रहा था। अब दक्षिण अफ्रीका मे यह मुसीबत सामने आई तो क्या यहा से फिर भाग जाय? लेकिन इस तरह कबतक भागते रहेगे? आखिर कही तो इसे रोकना होगा। अत मे जो भी सहना पडे उसे सहने और जिस तरह भी हो आगे जाने का उन्होने निश्चय किया।

चार्ल्सटाउन इस लाइन का अतिम स्टेशन था। वहा से स्टेडरटन घोडे की सिकरम से जाना होता था। गाधीजी को सिकरम के अदर गोरे यात्रियो के साथ नही बैठने दिया गया। उन्हे बाहर कोचवान के पास जगह दी गई। थोडी देर बाद वहा से उठाकरो पैर रखने की पटरी पर बैठने के लिए कहा गया। गाधीजी ने इसका विरोध किया और सिकरम के अदर बैठाये जाने की माग की। इस गुस्ताखी पर सिकरम कपनी का गोरा नायक आगबबूला हो उठा और उसने गाधीजी पर हाथ उठा दिया। उन्हे बुरी तरह पिटते

देख कुछ गोरे यात्रियो ने वीच-वचाव किया। गाधीजी ने मार खाना स्वीकार किया, परतु जहा वैठे थे वहा से हटे नही। गोरे की उद्दडता और पाशविक शक्ति के खिलाफ शातिभरे साहस और मानवी गरिमा का वह दुर्लभ दृश्य किसी भी महान कलाकार को अमरकृति की रचना के लिए प्रेरित करता रहेगा।

स्टैडरटन पहुचने पर वहा के कुछ भारतीय व्यापारी गाधीजी से मिलने के लिए आये। उन्होने वताया कि जो कुछ आपके साथ गुजरा है वह तो ट्रासवाल मे भारतीयो के साथ रोज ही हुआ करता है। यहा गाधीजी ने सिकरम कपनी के एजेट से अपने साथ किये गए वुरे व्यवहार की शिकायत की, लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि मारनेवाले गोरे पर मुकदमा चलाने का उनका कोई इरादा नही है। जोहान्सवर्ग पहुचने पर वह वहा के ग्राड नेशनल होटल मे ठहरने के लिए गये तो उनसे कहा गया कि यहा हिदुस्तानियो को ठहराने की इजाजत नही है। जोहान्सवर्ग का स्टेशन मास्टर भी, वडी कहा-सुनी और रेलवे के नियम-कानून दिखलाने के वाद, प्रिटोरिया के लिए पहले दर्जे का टिकट देने को राजी हुआ, और टिकट मिल जाने पर भी अगर एक गोरे सहयात्री ने वीच-वचाव न किया होता तो गाधीजी मैरित्सवर्ग की तरह वहा भी पहले दर्जे के डिव्वे से वाहर धकेल दिये जाते।

इस तरह डरवन से प्रिटोरिया तक की पाच दिन की यात्रा गाधीजी के लिए काफी कष्टप्रद रही। परतु उसने दक्षिण अफ्रीका मे भारतीय प्रवासियो की वास्तविक स्थिति का ज्वलत चित्र भी उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। यहा के भारतीय व्यापारी इन अपमानो को व्यवसाय मे मिलने वाले धन की तरह चुपचाप स्वीकार करना सीख चुके थे। इस तरह के दुर्व्यवहार कोई नई वात नही थी। हा, इनको लेकर गाधीजी पर जो प्रतिक्रिया हुई वह अवश्य नई वात थी। आजतक वह अपनी राय और अपने हको पर कभी अडे नही थे। यह वात उनके स्वभाव मे थी ही नही। असल मे तो वह शर्मीले और खामोश रहनेवाले व्यक्ति ही अधिक थे। लेकिन उस रात मैरित्सवर्ग स्टेशन की उस घटना और वहा के ठडे-अधेरे वेटिंग-रूम ने जैसे उनका कायाकल्प कर दिया। अपने अपमान के वारे मे व्यग्र होकर वह जितना ही सोचते गये, एक इस्पाती दृढता और निश्चय उनमे उतना ही

बलवान होता गया। उस घटना को वह अपने जीवन का सबसे सृजनशील और नियामक अनुभव मानते थे। उसी क्षण मे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के शासकीय और वर्ण-विद्वेषक सामाजिक अन्याय के खिलाफ कमर कस ली। फिर कभी उन्होंने उस अन्याय को स्वीकार नही किया। तर्क मे, अनुरोध से, अनुनय-विनय से, वह शासक-जाति की न्याय-बुद्धि और सोई हुई मानवता को जगाने का प्रयत्न बराबर करते रहे। एक क्षण के लिए भी उन्होंने रग-भेद और जातीय औद्धत्य के आगे अपने हथियार नही डाले। क्योंकि यह प्रश्न अकेले उन्हीके अपने आत्म-सम्मान की रक्षा और प्रस्थापना का नही, समस्त भारतीयो, भारत देश और सारी मानवजाति के गौरव की रक्षा और स्थापना का था।

जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो को मौन भाव से कष्ट सहते देखा और पाया कि वे निरक्षर, अशिक्षित और अधिकारहीन ही नही है, प्राप्त अधिकारो का उपभोग करना तक नही जानते तो बडी ही चमत्कारिक बात हुई। उनकी झिझक और शर्मीलापन हमेशा के लिए खत्म हो गया। हीनता और आत्म ग्लानि की जो भावना इग्लैड के विद्यार्थी-काल मे और भारत मे वकालत के समय कभी पीछा नही छोडती थी, एकबारगी गायब हो गई। कहा तो बबई की खफीफा अदालत मे जिरह के समय उनके मुह से बोल भी नही फूटा था और यहा प्रिटोरिया मे आते ही सबसे पहला जो काम किया वह था वहा के भारतीय निवासियो को 'ट्रासवाल मे उनकी सही हालत बतलाने के लिए' सभा करना। इस सभा मे बडी सफलता मिली। गाधीजी ने भारतीय प्रवासियो की शिकायतो पर कार्रवाही करने के लिए एक सगठन बनाने का सुझाव दिया। यह व्यावहारिक नेतृत्व की दिशा मे उनका पहला कदम था। इस सभा मे जो भारतीय व्यापारी अग्रेजी नही जानते थे, उन्हे अग्रेजी सिखाने का काम गाधीजी ने अपने ऊपर ले लिया। एक नाई, एक क्लर्क और एक छोटा दूकानदार—ये पहले तीन विद्यार्थी थे, जिन्हे गाधीजी उन लोगो के घरो पर जाकर मुफ्त पढाने लगे। शीघ्र ही वह प्रिटोरिया के हर भारतीय से परिचित हो गये। वह वहा के ब्रिटिश एजेट से भी मिले और उसे भारतीयो की कठिनाइयो के बारे मे बतलाया। उसने बडी सहानुभूति से गाधीजी की बात

सुनी, परतु कुछ कर सकने मे अपनी असमर्थता प्रकट की, क्योकि ट्रासवाल बोअर राज्य होने के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के अतर्गत नही था। बोअर सरकार ने पहले ही बहुत-से भारतीयो को ऑरेज फ्री-स्टेट से बडी बेदर्दी से निकाल बाहर कर दिया था। सारे दक्षिण अफ्रीका मे किसी स्वाभिमानी भारतीय के लिए सिर ऊचा करके खडे रहने को भी जगह नही थी। अब गाधीजी का ज्यादातर समय इसी सोच-विचार मे जाने लगा कि हालत को कैसे सुधारा जा सकता है।

इसके साथ ही उन्हे उस दीवानी दावे पर भी काम करना था, जिसके लिए वह भारत से दक्षिण अफ्रीका आये थे। झगडा केवल चालीस हजार पौड की बडी रकम का ही नही था, दक्षिण अफ्रीका के सबसे बडे दो भारतीय व्यापारियो की व्यापारिक लाग-डाट के साथ कुछ घरेलू अनबन भी थी। इनमे से एक थे नेटाल के अब्दुल्ला और दूसरे थे ट्रासवाल के तैयब सेठ। दोनो फरीकैन सच्चे मुकदमेबाज भारतीयो की तरह अदालत से फैसला करवाने पर तुले हुए थे, चाहे तबाह ही क्यो न हो जाय! गाधीजी को अब्दुल्ला की पेढी के बही-खाते जाचकर मुकदमे के पोषक तथ्य इकट्ठे करने और बडे बैरिस्टर की मदद करने का सामान्य काम सौपा गया था। एक तरह से तो रोकड-बही लिखने और हिसाब जाचने का ही काम था। उनकी जगह कोई दूसरा बैरिस्टर होता तो इसे अपना अपमान समझता। गाधीजी ने इसे सीखने और काम कर दिखाने का अवसर माना। उन्होने मुकदमे मे पूरा मन लगाया और उसमे डूब गये। मामले से सबधित छोटी-से-छोटी बात पर पूरा ध्यान दिया, बही-खातो का बारीकी से अध्ययन कर हिसाब रखने की पद्धति को समझा, व्यापार के नियमो की जानकारी हासिल की और गुजराती कागज़-पत्रो का अग्रेजी मे उलथा करके अनुवाद करने की शक्ति और अग्रेजी का अपना ज्ञान बढाया। जो मसाला वे तैयार करते थे उसमे से सालिसिटर कितना रखता है और बैरिस्टर उसमे से कितने का और किस तरह से उपयोग करके मुकदमा बनाता है, इसे गाधीजी बहुत ध्यान से देखा और समझा करते थे।

बाल की खाल निकालनेवाली जिरह, जोरदार बहस और कानून के पोथो से ढूढ-खोजकर उपयुक्त नजीरे पेश करने को ही गाधीजी कभी

वकालत मे सफलता पाने का गुर समझते थे। लेकिन अब्दुल्ला के मामले मे साल-भर की कडी मेहनत के बाद उनकी समझ मे आया कि असल मे वकील का काम तथ्यो के आधार पर सच्चाई का पता लगाना है। वह इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि उनके पास न तो वक्तृत्व-कला है और न विद्वत्ता ही, इसलिए केवल ईमानदारी, लगन और परिश्रम से ही सफलता की आशा कर सकते थे। पुराने बैरिस्टर के दफ्तर मे रहकर नया वकील जो-कुछ सीखता है उसकी शिक्षा भी उन्हे इसी मुकदमे से मिली। इस मुकदमे मे उनमे यह आत्मविश्वास भी जागा कि एक वकील के रूप मे वह असफल नही हो सकते, क्योकि कानून का तीन-चौथाई अश तो तथ्य ही होते है और यदि "तथ्य पर हमारा सच्चा कब्जा रहे तो कानून अपने-आप हमारे पास आ जायगा।"[1]

बारीकी से जाच-पडताल करने पर गाधीजी को अब्दुल्ला का मुकदमा तथ्यो और कानून दोनो ही दृष्टियो से काफी मजबूत लगा। लेकिन वह यह भी समझ गये कि अदालती लडाई मे दोनो फरीकैन तबाह हो जायगे। वकीलो की फीस चढती जाती थी, दुकान और व्यापार के रोजमर्रा के काम मे हर्ज होता था और आपसी दुश्मनी बढती जाती थी। इसलिए गाधीजी ने आपस मे झगडा निपटा लेने की सलाह दी। काफी न-नू के बाद दोनो फरीकैन पच से फैसला कराने के लिए राजी हुए। पच-फैसले मे अब्दुल्ला की जीत हुई। यदि फैसले की तुरत तामील की जाती तो तैयब सेठ का दिवाला निकल जाता। गाधीजी के अनुरोध पर उनके मुवक्किल ने मुकदमा जीतकर भी उदारता दिखाई और तैयबजी को काफी लबी मोहलत दे दी। इस पहले मुकदमे से गाधीजी को बडा सतोष हुआ। स्वय उन्हीके शब्दो मे—"मैने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य-स्वभाव का उज्ज्वल पक्ष ढूढ निकालना सीखा, मनुष्य-हृदय मे पैठना सीखा। मुझे जान पडा कि वकील का कर्तव्य फरीकैन के बीच मे खुदी हुई खाई को भरना है।"[2]

---

[1] आत्मकथा महात्मा गाधी, सस्ता साहित्य मडल (१९६०), पृष्ठ १९२

[2] वही, पृष्ठ १३६

इसके वाद तो गाधीजी मुकदमे लडने के वदले फरीकैन की आपस मे सुलह कराने की कोशिश मे ही लगे रहते। इससे केवल फरीकेन को ही फायदा पहुचता रहा हो सो बात भी नही। जैसा कि वह अपनी 'आत्मकथा' मे लिखते है—"मैने भी कुछ नही खोया। पैसे के घाटे मे रहा, यह भी नही कहा जा सकता। आत्मा तो नही ही गवाई।'

: ५ :

राजनीति मे प्रवेश

प्रिटोरियावाला दीवानी मुकदमा जब इस तरह खुशी-खुशी निबट गया तो गाधीजी का अनुवध भी पूरा हुआ और वह भारत लौट जाने के लिए डरबन आये। वहा उनके मुवक्किल अब्दुल्ला ने उनके सम्मान मे एक विदाई-भोज का आयोजन किया। उस भोज मे 'नेटाल मरकरी' अखवार के पन्ने पलटते हुई गाधीजी की निगाह 'इडियन फ्रेंचाइज़' (भारतीयो का मताधिकार) शीर्षक एक समाचार पर पडी। दक्षिण अफ्रीका मे बसे भारतीयो को मताधिकार से वचित करने के लिए एक विधेयक नेटाल की विधान-सभा मे पेश किया जा रहा था। गाधीजी न अपने मेजवान अब्दुल्ला और भोज मे शरीक दूसरे भारतीय व्यापारियो से इस विधेयक के बारे मे जानकारी चाही तो वे लोग उन्हे कुछ भी नही बता सके। उन लोगो को वहुत कम अग्रेज़ी आती थी। अपने गोरे ग्राहको की बात समझ लेते और उनसे दो-चार बाते कर सकते थे। अखबार उनमे से शायद ही कोई पढ पाता और नेटाल विधान-सभा की कार्रवाही समझने लायक अग्रेज़ी का ज्ञान तो उनमे से किसीको भी नही था। वे लोग नेटाल मे व्यापार करने के लिए आये थे, राजनीति मे उनकी कोई दिलचस्पी नही थी। इधर-उधर राजनीति ने उनके व्यापार मे दखल देना शुरू किया था। औरेज फ्री स्टेट से भारतीय व्यापारियो को हाल मे ही निकाल वाहर किया गया था और अव नेटाल मे भी वर्ण द्वेष का कानून लागू होने जा रहा था। "यह तो हिंदुस्तानियो की हस्ती को मिटाने का पहला कदम है।" गाधीजी ने भोज

मे शरीक भारतीय व्यापारियो को वतलाया। इसपर सव लोगो ने उन्हे नेटाल मे रुक जाने और उनकी ओर से इस लडाई को लडने का आग्रह किया। अभी तक उनको यूरोपियन वैरिस्टरो के भरोसे रहना पडा था, अव अपने काम के लिए एक भारतीय वैरिस्टर मिल गया तो सभीको वडी खुशी हुई। गाधीजी इस काम के लिए नेटाल मे एक महीने तक रुकने को तैयार हो गये। उनका खयाल था कि इस मामले का एकाध महीने मे जरूर निपटारा हो जायगा।

उन्होने एक भी क्षण नही गवाया और तुरत काम मे जुट गये। विदाई का जलसा भारतीयो के विधेयक-विरोधी आन्दोलन की राजनैतिक समिति वन गया। गाधीजी न पच्चीस वर्ष की उम्र मे अपने पहले राजनैतिक आन्दोलन की जो रूपरेखा और रणनीति वनाई वह उनकी समझ-वूझ का अच्छा परिचय देती ह प्रिटोरिया मे रहते हुए वहा के भारतीय निवासियो की उन्होने जो जानकारी हासिल की थी वह इस समय उनके खूव काम आई। उनकी रणनीति के तीन अग थे—एक तो दक्षिण अफ्रीका को जुदा-जुदा जातियो के प्रवासी भारतीयो मे एकता की भावना पैदा करना। वम्वई के मुसलमान व्यापारी और उनके हिन्दू एव पारसी क्लर्क, मद्रास के अर्द्ध-गुलामो—जैसे 'गिरमिटिया' मजदूर और नेटाल मे पैदा हुए हिंदुस्तानी ईसाई—सभी अपनेको एक देश की सन्तान अर्थात् भारतीय समझे। खास तौर पर नेटाल के हिंदुस्तानी ईसाइयो मे यह भावना पैदा करनी थी कि ईसाई होने से ही उनका हिन्दुस्तानीपन खत्म नही हो जाता। उधर व्यापारियो मे भी यह भावना पैदा करनी थी कि वेहद गरीवी के कारण दूर देश नेटाल मे आकर गिरमिटिया वनने को मजवूर होनेवाले वदनसीव मजदूर भी आखिर उन्हीके देश-भाई हैं। दूसरा अग था, भारतीयो को मताधिकार से वचित किये जाने के सही-सही माने और उससे होनेवाले नतीजो को न केवल वहा के भारतीय निवासियो को वल्कि नेटाल की सरकार और यूरोपियन आवादी मे जो समझदार तवका था उन सवको समझाने का काम और तीसरा अग था, भारत और इग्लैड की सरकारो और दोनो देशो के जनमत को इस आन्दोलन के पक्ष मे करने के लिए व्यापक प्रचार-कार्य।

यह गाधीजी के प्रचार-कार्य की ही खूबी थी कि भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने अपने दिसम्बर, १८९४ के वार्षिक अधिवेशन मे मताधिकार विधेयक के विरोध मे प्रस्ताव पास किया और लन्दन के 'टाइम्स' अखबार ने तीन साल के दरम्यान दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो की समस्या पर आठ विशेप लेख छापे। पाच-सौ भारतीयो के दस्तखतोवाली गाधीजी की लिखी एक अर्जी भी नेटाल की विधान-सभा को भेजी गई। उस अर्जी से विधायक मडल और नेटाल की सरकार दोनो काफी प्रभावित हुए, लेकिन मताधिकार-वाला विधेयक फिर भी मजूर हो ही गया। इस पर भी भारतीयो ने हिम्मत नही हारी। इस हलचल का कम-से-कम यह नतीजा तो हुआ ही कि वे अपनी राजनैतिक तन्द्रा से जाग पडे। खुद गाधीजी के लिए भी अपना यह पहला राजनैतिक आन्दोलन काफी फायदेमन्द साबित हुआ। जो सकोच-भीरुता और लज्जाशीलता असाध्य मालूम पडती थी उनसे उनका भी पीछा छूट गया। लेकिन इसका यह मतलब नही कि उनमे अहकार आ गया, उल्टे विनम्रता की ही मात्रा बढी, जैसा कि दादाभाई नौरोजी को, जो उन दिनो ब्रिटिश पार्लमिट के भारतीय सदस्य थे, अपनी सीमाओ और अक्षमताओ का हवाला देते हुए ५ जुलाई १८९४ को लिखे उनके पत्र से प्रकट होता है—"कुछ अपने बारे मे और कुछ जो काम मैने यहा किया उसके बारे मे। मेरी उम्र ज्यादा नही है और अनुभव भी नही है, इसलिए गलतिया भी हो सकती है और हुई होगी। मेरी योग्यता के हिसाब से यहा की जिम्मेवारिया बहुत ज्यादा है। लेकिन फिर भी आप देखेगे कि मैने अपनी योग्यता से अधिक ऐसे किसी काम मे हाथ नही डाला है, जो भारतीयो के हितो की उपेक्षा करके केवल मेरे अनुभवो को बढानेवाला हो। असल बात यह है कि यहा इस तरह का काम करने वाला मै ही अकेला आदमी हू। इसलिए इस कार्य मे मेरा मार्ग-प्रदर्शन करने और उचित सलाह-सुझाव देने का आपसे आग्रह-अनुरोध करता हू और विश्वास दिलाता हू कि आपके सभी पितृतुल्य आदेशो का मै पुत्रवत् पालन करूगा।"[1]

अन्य भावनाओ की तरह हीनता की भावना भी सापेक्ष है। जब लोगो

---

[1] मसानी, आर० पी० 'दादाभाई नौरोजी', लदन, पृष्ठ ४६८

ने गाधीजी से नेतृत्व की अपेक्षा की तो वह अपनी मर्यादाओ और हीनभाव को भूल गये। दूसरी जगह जिम काम के वह शायद पास भी न फटकते, उसी को पूरा करने की जिम्मेदारी यहा 'अकेला आदमी' होने के कारण उन्होने अपने ऊपर ले ली।

मताधिकार विधेयक को नेटाल की धारा-मभा ने तो पाम कर दिया, लेकिन इग्लैड की महारानी की मजूरी के विना वह कानून का रूप नही ले मकता था। यह काम अभी वाकी था, इसलिए लडाई का एक मौका और मिल गया। गाधीजी ने इग्लड के उपनिवेश-मन्त्री को एक वहुत वडी अर्जी भेजने का फैमला किया। उस अर्जी पर दस हजार दस्तखत लिये गए। कहना चाहिए कि नेटाल मे वसे हुए सभी 'मुक्त' भारतवासियो ने उमपर अपने हस्ताक्षर किये थे। इस आन्दोलन मे गाधीजी का एक खास ढग यह रहा कि वह हर वहाने मे लोगो को राजनैतिक शिक्षा भी देते जाते थे। उदाहरण के लिए, जवतक हर आदमी अर्जी मे लिखी वात को समझ और स्वीकार नही कर लेना, उमपर उमके दस्तखत नही करवाये जात थे। अर्जी की कोई हजार प्रतिया छपवाकर प्रमुख राजनैतिक नेताओ और समाचार-पत्रो को भेजी गई। भारत और इग्लैड दानो ही देशो के समाचार-पत्रो मे नेटाल के भारतीयो की समस्याओ पर खूब चर्चा हुई।

इम तरह महीना पूरा हो गया और गाधीजी के भारत लौटने का दिन आ गया, लेकिन नेटाल के भारतीयो ने उन्हे जाने न दिया, नेटाल मे स्थायी रूप से रहने का आग्रह किया। ब्रिटिश सरकार इस अपमानजनक विधेयक को रद्द कर देगी, ऐसी कोई आशा नही थी। फिर स्वय गाधीजी ने ही तो कहा था कि यह हमारी हस्ती को मिटाने का पहला कदम है। तो क्या वह लडाई को अधवीच मे छोडकर चले जायगे और अपने किये-कराये पर पानी फिर जाने देगे ? गाधीजी रुक गए। लेकिन अव प्रश्न यह था कि उनकी गुजर-वसर कैसे होगी ? सार्वजनिक कार्य का पैसा लेने को तो वह किसी भी तरह राजी नही हुए, इसलिए वीस व्यापारियो ने वकालत का काम देने की हामी भरकर उनका एक वर्ष का तीन सौ पौड वर्षासन वाध दिया। इतनी रकम मे वह डरवन मे अपना खर्च आराम से चला सकते थे।

नेटाल के सर्वोच्च न्यायालय मे वकालत की सनद के लिए दरख्वास्त .ने पर वहा की वकील-सभा ने गाधीजी का विरोध किया, परतु प्रधान न्याय-ग्रीश ने दाखिला मजूर कर लिया। उसके वाद वकीलो के लिए वने हुए अदालत के पोशाक-सबधी नियमो के अनुसार उन्हे अपनी पगडी उतारने के लिए कहा गया। एक साल पहले नीचे की अदालत के इसी प्रकार के हुक्म के विरोध मे गाधीजी अदालत के कमरे से वाहर चले आये थे, परतु इस वार वह अपमान की इम घट को पी गये। अभी उन्हे रग-भेद के खिलाफ कई वडी लडाइया लडनी थी। इसलिए इस तरह की छोटी लडाइयो मे अपना समय और शक्ति गवाना उन्होने उचित नही समझा।

सबसे पहले तो गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो के हितो की चौकसी करनेवाला एक स्थायी सगठन वनाने की तात्कालिक आव श्यकता महसूस की। दादाभाई नौरोजी के सम्मान मे, जो भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के १८९३ के अधिवेशन के अध्यक्ष रह चुके थे, उन्होने अपने नये सगठन का नाम 'नेटाल इडियन काग्रेस' रखा। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के विधान और उसके काम करने के ढग के वारे मे गाधीजी को कोई जानकारी नही थी। यह उनके हक मे अच्छा ही हुआ। वह नेटाल इडियन काग्रेस को नेटाल के भारतीयो की आकाक्षाओ और आवश्यक-ताओ के अनुरूप वना सके। उस जमाने की भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस वुद्धि-जीवियो का मच था, जहा वे साल मे एक वार जमा होकर लच्छेदार भाषण देते, अर्जिया तैयार करते और विरोध-प्रदर्शन करते थे। फिर साल-भर तक उसका कही नाम भी नही सुनाई देता था। इसके विपरीत नेटाल काग्रेस पूरे साल काम करनेवाला प्राणवान सगठन था, जो सदस्यो के राजनैतिक हितो की ही चौकसी नही करता था, उनके नैतिक और सामा-जिक उन्नयन के लिए भी प्रयत्नशील था। जिन लोगो की सेवा के लिए 'नेटाल इडियन काग्रेस' वनाई गई थी, उनका राजनैतिक अनुभव और ज्ञान न-कुछ के वरावर था, लेकिन फिर भी वह किसी व्यक्ति-विशेष का एका-धिकारी सगठन नही वना। महामत्री गाधी हर कदम पर सभीका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए अथक परिश्रम करते, जिससे काम मे सार्व-जनिक उत्साह और रुचि वरावर वनी रहती। सदस्य वनाने और चदा

जमा करने-जैसे मामूली कामो को भी उन्होने एक महान् अनुष्ठान का रूप दे दिया था। आधे मन से सहयोग देने और अधूरा समर्थन करनेवालो के साथ वह नैतिक दबाव का विनम्र परतु साथ ही दृढ ढग अपनाते थे। एक बार किसी कस्बे के भारतीय व्यापारी के यहा वह इसलिए सारी रात भूखे बैठे रहे कि वह नेटाल कांग्रेस का चदा बढा नही रहा था, आखिर सवेरा होते-होते उन्होने उसे तीन के बदले छ पौड देने को राजी कर लिया।

लदन मे विद्यार्थी-काल मे ही गाधीजी अपने दैनिक खर्च का नियमित हिसाब बडी सतर्कता से रखने लगे थे। अब नेटाल इडियन कांग्रेस के आय-व्यय का हिसाब भी उतनी ही मुस्तैदी से रखने लगे। यहा भी किफायत-शारी उनका मूल मत्र था और पाई-पाई का हिसाब इतनी अच्छी तरह रखा गया कि तीस बरस बाद वह अपनी 'आत्मकथा' मे लिखते हैं—"मै समझता हू कि आज भी नेटाल कांग्रेस के दफ्तर मे १८९४ के हिसाब के पूरे ब्यौरेवाली बहिया मिल जानी चाहिए।" सस्था के पैसो मे से वह स्वय कुछ भी नही लेते थे। वह मानते थे कि पैसा लेकर सार्वजनिक काम करने-वाला सस्था और समाज की स्वतत्रता और निर्भीकता से सेवा नही कर सकता। अवैतनिक सार्वजनिक सेवा को वह जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य ही नही, अपनी स्वाधीनता की गारटी भी समझते थे। ये आरभिक दिन उनके सार्वजनिक जीवन और राजनैतिक कार्यों के प्रशिक्षण के दिन थे। इसी समय उन्होने अपने लिए एक राजनैतिक आचरण-सहिता भी बनाई। राज-नीति मे अपने दल के लिए उचित-अनुचित सभी उपायो का अवलबन करने का प्रचलित मत उन्हे कदापि स्वीकार नही था। वकालत के दौरान तथ्यो के जिस महत्त्व को उन्होने जाना था, राजनीति मे भी उसीपर दृढता से अमल करने लगे। उनकी मान्यता थी कि तथ्य अपने पक्ष मे हैं तो सचाई और न्याय भी स्वय चले आयगे और तथ्यो को सजाने-सवारने या नमक-मिर्च लगाने की जरूरत नही हुआ करती। बात या वस्तु-स्थिति को बढा-चढाकर कहने से स्वय तो बचते ही थे, अपने साथियो-सहकर्मियो को भी रोका-टोका करते। 'नेटाल इडियन' कांग्रेस उनके निकट भारतीय अल्प-सख्यको के राजनैतिक एव आर्थिक अधिकारो की सुरक्षा का माध्यम

ही नही, उनके सुधार और उनमे एकता कायम करने का अस्त्र भी थी। गलतियो के लिए वह अपने देशवासियो को भी नही वख्शते थे, खामियो के लिए उनकी पूरी आलोचना करते थे। हमेशा इस वात पर जोर देते रहते कि भारतीयो को व्यापार-धधे मे ईमानदारी वरतनी चाहिए और अपने रहन-सहन के ढग को सुधारना और ऊचा उठाना चाहिए। वह नेटाल मे वसे भारतीयो के सबसे कट्टर हिमायती और मित्र ही नही, उनके जबर्दस्त आलोचक भी थे।

यहा दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो की समस्या के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना वहुत आवश्यक है, क्योकि समस्या के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना गाधीजी और नेटाल इडियन काग्रेस ने जो काम किया उसके सही महत्त्व को समझना बहुत मुश्किल होगा।

लार्ड मिलनर का कहना था कि यूरोपियन वाशिदे जरा भी नही चाहते, फिर भी एशियावाले अपने-आपको जबर्दस्ती थोपे जा रहे है। लेकिन सचाई तो कुछ और ही कहती है। १८६० और उसके वाद के वर्षो मे भारतीय प्रवासियो ने वहा के गोरे अधिवासिया के आग्रह और निमत्रण पर ही दक्षिण अफ्रीका मे जाना शुरू किया था। इन गोरे वाशिदो के पास चाय, काफी और गन्ने की वडी-वडी जमीदारिया थी, पर उनपर काम करने के लिए मज़दूरो की भारी कमी थी। गुलामी की प्रथा का अत हो जाने से नीग्रो लोगो को काम करने के लिए मजबूर नही किया जा सकता था। इसलिए नेटाल के यूरोपियन वाशिदो ने भारत सरकार से लिखा-पढी करके उसे इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह भारतीय मज़दूरो को वहा जाने और वसने की इजाजत दे। गोरे जमीदारो के भर्ती-एजेट मद्रास और वगाल के सवसे घनी और गरीव आवादीवाले इलाको मे जाने और वहा के मुसीवतजदा लोगो को नेटाल के सब्ज-वाग दिखाने लगे। किराया, खाना और मकान मुफ्त। पहले साल दस शिलिग माहवार तनख्वाह और हर साल एक शिलिग तरक्की। पाच वरस काम करने का इकरारनामा (जिसे 'गिरमिट प्रथा' कहते है और जिसके अतर्गत मजदूर 'गिरमिटिया' कहलाता है) और इकरार पूरा होने पर मुफ्त भारत लौट आने का हक (या अगर चाहे तो वही वसने की छूट)। हजारो गरीव और

अनपढ भारतीय इस दम-दिलासे मे आ गये और दूर देश नेटाल की ओर चल पडे।

भारत मे 'गिरमिटिया मज़दूरों' का पहला जहाज सन् १८६० के नवबर महीने मे डरवन पहुचा। १८९० तक वहा लगभग चालीस हजार गिरमिटिया मज़दूर भारत से बुलवाये गए। सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हटर के शब्दो मे "उनकी हालत अर्द्ध-गुलामो-जैसी थी।" यह सच है कि सारे जमींदार बुरे, क्रूर और कठोर नही थे, लेकिन मालिक के बुरे व्यवहार के विरोध मे कोई भी गिरमिटिया अपनी नौकरी नही छोड सकता था, न उसे नई नौकरी मिल सकती थी। पाच बरस की अवधि पूरी हो जाने पर जो भारतीय मजदूर गिरमिट का नया इकरारनामा नही करता था उसके रास्ते मे हर तरह के रोडे अटकाये जाते, लेकिन इन सारी कठिनाइयो और बाधाओ के बावजूद अवधि पूरी हो जाने पर बहुत-से भारतीय मज़दूर दक्षिण अफ्रीका मे ही बस गये, क्योकि भारत से उनके सारे रिश्ते खत्म हो चुके थे। वे जमीन का छोटा-बडा टुकडा खरीद लेते, साग-सब्जी पैदा करते, अच्छी तरह गुजर-बसर हो जाती। और अपने लडके-बच्चो को पढाने भी लगे। गोरे व्यापारियो ने इस नये वर्ग को अपने लिए बडा खतरा समझा। वे आदोलन करने लगे कि जो भी भारतीय मजदूर अवधि पूरी हो जाने पर गिरमिट का नया इकरारनामा न करें, उन सभीको भारत भेज देना चाहिए। मतलब यह कि नेटाल मे भारतीय गुलाम बनकर ही रह सकता था, आजाद भारतवासी के लिए वहा कोई जगह नही थी। १८८५ मे प्रवासी भारतीयो की स्थिति का अध्ययन करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया। उस आयोग ने दक्षिण अफ्रीका के यूरोपीय जनमत को वहा कृषि या व्यापार मे लगे सभी भारतवासियो के प्रति अत्यत असहिष्णु और उनकी उपस्थिति का घोर विरोधी पाया। लेकिन आयोग ने यह राय दी कि गिरमिट से मुक्त भारतीय दक्षिण अफ्रीका के लिए जिम्मेदारी नही, वरदान ही है। उसे वहा से निकालना उसपर अन्याय तो है ही, उपनिवेश की समूची अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक भी होगा। आयोग का यह उदार दृष्टिकोण, जो दक्षिण अफ्रीका के गोरे बाशिदो के अपने ही हित मे था, यूरोपियन जमीदारो के गले नही उतरा।

उन्हे असल डर तो यह था कि भारतीयो के निम्न जीवन-स्तर और सस्ता बेच सकने की सामर्थ्य के कारण गोरे व्यापारी होड मे उनके आगे टिक न सकेगे।

१८९३ मे नेटाल को उत्तरदायी शासन का अधिकार मिल गया। इससे वहा की रग-भेद की नीति पर लदन के उपनिवेश मत्रालय का पहले जो थोडा-बहुत नियत्रण था वह भी समाप्त हो गया। अब नेटाल के गोरे वाशिदो का एक प्रतिनिधि-मडल भारत सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव लेकर पहुचा कि या तो सभी भारतीय मजदूरो के लिए गिरमिट की प्रथा लाजमी कर दी जाय या सभीको लाजमी तौर पर वहा से भारत बुला लिया जाय और नही तो प्रति व्यक्ति पच्चीस पौड का वार्षिक कर लगाने की अनुमति दी जाय। भारत की गोरा नौकरशाही को नेटाल की असली हालत और भारतीयो की समस्या का जरा भी ज्ञान नही था और फिर वह दक्षिण अफ्रीका मे बसे अपने गोरे देशवासियो की मदद के लिए उतावली भी बहुत थी। बिना सोचे-समझे उसने गिरगिट से मुक्त भारतीय मजदूर के परिवार के हर सदस्य पर वार्षिक तीन पौड का कर लगाये जाने की मजूरी दे दी। उसने इतना भी नही सोचा कि जिस इकरारनामे से भारतीय मजदूर दक्षिण अफ्रीका जाता है उसी इकरारनामे की शर्ते उसे नेटाल मे बसने का अधिकार भी देती है और वह केवल अपने उस अधिकार का उपयोग कर रहा है, फिर उसपर किसी भी तरह का दड-कर क्यो लगाया जाना चाहिए ? सिर्फ दस से बारह शिलिग मासिक मजदूरी पानेवाले फटे-हाल गिरमिटिया मजदूरो के लिए तो यह कर कमरतोड बोझ ही था। गरीब, अनपढ और असगठित होने के कारण वे पूरी तरह असहाय थे और उसपर देश मे अकेले भारतीय व्यापारी ही थे जिनसे वे सहानुभूति और सहायता की आशा कर सकते थे।

भारतीय व्यापारी भारतीय मजदूर के पीछे-पीछे दक्षिण अफ्रीका पहुचा था और वहा भारतीय मजदूरो और नीग्रो लोगो मे उसका वणिज्-व्यापार बडल्ले से चल निकला था। नीग्रो लोग उससे इसलिए खुश थे कि वह गोरे व्यापारी के मुकाबले मे विनम्र और आवभगत करनेवाला था और लूटता भी कम था। लेकिन भारतीय व्यापारी के कारोबार की यह

बढती शीघ्र ही गोरे व्यापारी की आखो का शूल बन गई। भारतीयो को मताधिकार से वंचित करनेवाला विधेयक असल मे भारतीय व्यापारी के घुटने तोडने के ही उद्देश्य से पेश किया गया था। नेटाल मे केवल वही मत दे सकता था जिसके पास कम-से-कम पचास पौंड मूल्य की स्थायी सम्पत्ति हो या जो दस पाउंड वार्षिक किराया देता हो। इस शर्त के अनुसार वहा दस हजार गोरे मतदाताओ के मुकाबले सिर्फ ढाई सौ भारतीयो को ही मत देने का अधिकार था। लेकिन इतने थोडे-से भारतीय मतदाताओ से ही वहा के गोरो की जान घबराने लगी। गोरे तो बिलकुल ही नही चाहते थे कि भारतीय या कोई भी काला, सावला या पीला हब्शी नेटाल की सपदा और वहा के शासन मे हिस्सा बटाये। वहा के राजनैतिक नेता और कार्यकर्ता खुले आम कहते फिरते थे कि "इस विधेयक का मकसद भारतीयो को काफिर बनाना—गुलाम के दर्जे तक पहुचा देना" और "आगे चलकर जो दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्र बननेवाला है उससे उन्हे परे रखना है।" एक दूसरे राजनीतिज्ञ की राय मे इस विधेयक का उद्देश्य "नेटाल की अपेक्षा उनकी अपनी मातृभूमि मे ही भारतीयो के जीवन को अधिक सुखी बनाना" था।

भारतीयो को मताधिकार से वंचित करने वाला विधेयक नेटाल की विधान-सभा ने पास कर दिया और वहा के गवर्नर ने उसपर अपनी मजूरी भी दे दी। लेकिन लदन के उपनिवेश मत्रालय ने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यह विधेयक ब्रिटिश साम्राज्य के एक भाग के निवासियो के साथ भेद-भाव बरतनेवाला है। लदन की इस अस्वीकृति का बहुत-कुछ श्रेय गाधीजी के प्रभावशाली प्रचार-आदोलन का भी देना होगा। नेटाल, के गोरे लदन के इस विशेषाधिकार से निरुत्साहित नही हुए। अब उन्होने दूसरा दाव चला जिसमे वर्ण-बाधा और रग-भेद का कही उल्लेख भी नही था। एक सशोधित विधेयक पारित किया गया, जिसके अनुसार 'गवर्नर जनरल की विशेष अनुमति के बिना जिन देशो (यूरोप के अतिरिक्त) मे पार्लामेंटरी ढग की चुनाव प्रणाली और उससे बनी जन-प्रतिनिधि सस्थाए नही है, वहा के मूल निवासियो का नाम मतदाता-सूची मे दर्ज नही" हो सकता था। यह सशोधित विधेयक भी मूल विधेयक की ही भाति भारतीय को मताधिकार से वचित करता था।

भारतीय व्यापारियो और प्रवासियो पर तरह-तरह की कोचनेवाली बाधाए लगा दी गई। अब नेटाल मे बिना लाइसेस के कोई व्यापार ही नही कर सकता था, यूरोपियनो को तो लाइसेस बडी आसानी से, मागते, ही मिल जाता था, लेकिन भारतीयो को या तो मिलता ही न था या बहुत कोशिशो और खर्चे के बाद मिलता था। हर प्रवासी के लिए किसी एक यूरोपीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि अपनी मर्जी से जानेवालो के लिए दक्षिण अफ्रीका के के दरवाज़े बन्द हो गये, लेकिन इकरारनामे के मातहत लाये जानेवाले अर्द्धगुलाम गिरमिटियो के लिए ऐसी कोई शर्त और रोक नही थी।

असल मे देखा जाय तो इस भारतीय-विरोधी अभियान मे नेटाल के गोरे ट्रासवाल और औरेंज फ्री-स्टेट के अपने बोअर पडोसियो का ही अनुकरण कर रहे थे। ट्रासवाल (बोअर) रिपब्लिक का प्रेसिडेट क्रूगर तो बडा ही झगडालू और बदतमीज था। उसने एक भारतीय प्रतिनिधि-मडल से यहातक कह दिया, "तुम इस्माइल के वशज हो, इसलिए तुम्हारा जन्म ही हुआ है ईसू के वशजो की गुलामी करने के लिए।" उन दिनो प्रिटोरिया मे ब्रिटिश सरकार का एक प्रतिनिधि रहता था। जब उससे शिकायत की गई तो उसने कुछ भी करने मे अपनी मजबूरी जाहिर कर दी। बाद मे जब बोअर युद्ध छिडा तो बोअरो पर लगाये गए अनेक आरोपो मे भारतीयो के साथ उनका दुर्व्यवहार भी एक था। लेकिन उस समय दक्षिण अफ्रीका मे अग्रेजो मे न्याय पाने की भारतीयो की आशा दुराशा ही थी। शीघ्र ही उन्हे पता चल गया कि न तो उन्हे बोअरो से न्याय मिल सकता है और न अग्रेजो से।

भारतीयो की कानूनी स्थिति तो बुरी थी ही, लेकिन उन्हे रोज गोरो के हाथो जो अपमान सहने पडते थे वे तो और भी कष्टदायी थे। भारतीय कोई भी क्यो न हो, 'कुली' नाम से पुकारा जाता था। भारतीय स्कूलमास्टर 'कुली स्कूल मास्टर' था, भारतीय स्टोर-कीपर 'कुली स्टोर-कीपर' और भारतीय दुकानदार 'कुली दुकानदार।' गाधीजी का 'कुली बैरिस्टर' कहा जाता था। जिन जहाज कपनियो के मालिक भारतीय थे, उनके जहाजो को 'कुली जहाज' कहा जाता था। भारतीयो का वर्णन आम तौर पर 'गाली

के योग्य एशिआई गदगी, बुराइयो के भडार, भातखोर और गदे कीट-पतग खानेवालो' के रूप मे किया जाता था। नेटाल के सवैधानिक ग्रथ मे उनका उल्लेख 'अर्द्ध-वर्बर एशियाई या एशिया की असभ्य जाति के लोग' कहकर किया गया था। बिना अनुमतिपत्र के न तो वे फुटपाथ पर चल सकते थे और न रात मे घर से बाहर ही निकल सकते थे। पहले और दूसरे दर्जे के टिकट उन्हे दिये नही जाते थे। गोरे यात्री के एतराज करने पर उन्हे बिना कहे-सुने रेलगाडी के डिब्बे से बाहर धकेल दिया जाता था। कभी-कभी तो उन्हे रेलगाडी के फुटबोर्ड पर खडे-खडे मुसाफिरी करनी पडती थी। यूरोपियन होटलो मे वे प्रवेश नही कर सकते थे। 'केप टाइम्स' नामक अखबार ने ठीक ही लिखा था कि "जिन लोगो के बिना उसका काम एक क्षण भी नही चल सकता, उन्हीसे भयकर घृणा का विचित्र दृश्य नेटाल मे हमे देखने को मिलता है। यहा से सारे भारतवासियो के चले जाने पर इस उपनिवेश के वाणिज्य और व्यवसाय की जो दुरवस्था होगी उसकी कल्पना करते भी डर लगता है। लेकिन फिर भी भारतीयो को यहा बडी बुरी तरह दुरदुराया और हीन समझा जाता है।"

ट्रासवाल मे भारतीय व्यापारी खास जगहो के बाहर न तो रह सकते थे और न व्यापार ही कर सकते थे। 'लदन टाइम्स' ने इन स्थानो को यहूदियो की बदी-बस्तियो, 'गेटो, का नाम दिया था। औरेज फ्री-स्टेट के एक कानून के अनुसार न केवल एशियावासी बल्कि किसी भी रगीन जाति का कोई आदमी वहा व्यापार अथवा कोई भी कार-बार नही कर सकता था। 'कैप टाइम्स' अखबार ने लिखा था, "भारतीय जहा भी जाता है, काफी अच्छा और उपयोगी काम करता है। किसी भी तरह की सरकार क्यो न हो, वह उसके नियम-कानून का पूरा पाबन्द रहता है। बहुत थोडे मे वह अपना काम चला लेता है और स्वभाव से ही परिश्रमी होता है। लेकिन उसकी ये अच्छाइया ही उसकी दुश्मन बन जाती है। मेहनत-मजदूरी के जिस क्षेत्र मे भी वह प्रवेश करता है," इन सद्गुणो के कारण दूसरे उसे अपना दुर्दात प्रतिद्वद्वी मानने लगते है।' कई वर्षो बाद लायनल कर्टिस ने गाधीजी से सच ही कहा था कि यूरोपवासियो को कुपित करनेवाली असली बात

भारतीयो के सद्गुण ही थे, उनके दुर्गुण नहीं और उनपर राजनैतिक अत्याचार भी उनके इन सद्गुणो के कारण ही हुए।

: ६ :

बिना अपराध दंड

गाधीजी के सार्वजनिक कार्यों और वकालत को देखते हुए तो ऐसा ही लगता था जैसे वह नेटाल मे बस गये हो। सन् १८९६ के मध्य मे वह अपने परिवार को लिवा जाने के लिए भारत आये। लगे हाथो उनका उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो के लिए देश मे जितना हो सके समर्थन पाना और जनमत बनाना भी था।

जहाज से वह कलकत्ता उतरे और वहा से रेल के द्वारा बबई होते हुए अपने घर राजकोट पहुचे।

राजकोट मे उन्होने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो की समस्या पर एक पुस्तिका लिखी और उसे छपवाकर देश के प्रमुख समाचारपत्रो एव गण्यमान्य नेताओ को उसकी प्रतिया भेजी। इस काम मे उनका लगभग एक महीने का समय लग गया। इस पुस्तिका मे बाते तो प्राय वे ही थी, जो गाधीजी ने नेटाल से प्रकाशित अपनी ही पुस्तिकाओ—'दक्षिणी अफ्रीका मे बसनेवाले हरेक अग्रेज से अपील' (एन अपील टू एवरी ब्रिटेन इन साउथ अफ्रीका) और 'भारतीय मताधिकार एक अपील' (दि इडियन फ्रेंचाइज एन अपील) मे लिखी थी। लेकिन इसकी भाषा उन दोनो से कुछ नरम थी और चित्रण जान-बूझकर हलका रखा गया था।

फिर इस समस्या पर लोकमत तैयार करने के उद्देश्य से गाधीजी ने देशव्यापी दौरा शुरू किया। सबसे पहले वह बबई आये और वहा बबई के 'बेताज बादशाह' सर फीरोजशाह मेहता से मिले। गाधीजी को इनपर अपने लदन के विद्यार्थी-काल से ही असीम श्रद्धा और भक्ति थी। सर फीरोजशाह मेहता के सभापतित्व मे गाधीजी का भाषण सुनने के लिए एक सभा का आयोजन हुआ। लिखित भाषण तैयार कर लेने की बात उनसे पहले ही कह

दी गई थी। खचाखचभरे सभा-भवन मे गाधीजी अपना लिखित भाषण पढने के लिए खडे हुए, लेकिन दो पक्तियो के बाद उनसे आगे पढा न गया, गला सूख गया और सारा सभा-भवन आखो मे नाचने लगा। वह बैठ गये और उनका शेष भाषण बबई के उस समय के प्रसिद्ध वक्ता वाचा ने बडे ही प्रभावोत्पादक ढग से पढकर सुनाया।

पूना मे गाधीजी महाराष्ट्र की राजनीति के दो सुमेरु गोखले और तिलक से मिले। गोपालकृष्ण गोखले अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यो के लिए समर्पित कर चुके थे। उनकी तेज निगाहे हमेशा देशभक्त नवयुवको को खोजने-परखने मे लगी रहती थी। दक्षिण अफ्रीका के युवा बैरिस्टर गाधीजी के उत्साह और कार्यनिष्ठा से वह बडे प्रभावित हुए। गाधीजी तो पहली ही मुलाकात मे उनके "मुरीद बन गये। गोखले ओर तिलक की सार्व-जनिक और राजनैतिक मामलो मे कभी पटरी नही बैठती थी। हर समस्या और हर प्रश्न पर एक के विचार पूरब की ओर चलते थे तो दूसरे के पश्चिम की ओर। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो की समस्या पर गाधीजी का भाषण सुनने के लिए दोनो पहली बार एक सार्वजनिक सभा का सयुक्त रूप से आयोजन करने को तैयार हुए, जो एक तरह से अनहोनी-सी ही बात थी। तिलक अपने समय के महान् राजनैतिक नेता और प्रख्यात पत्रकार थे। पहली ही निगाह मे वह ताड गये कि अफ्रीका के इस युवक बैरिस्टर को भारतीय राजनीति का रचमात्र भी ज्ञान नही है।

नेटाल मे गाधीजी अपना सार्वजनिक कार्य और भाषण आदि बडे आत्म-विश्वास और सूझ-बूझ मे कर लेते थे, लेकिन भारत मे इतने बडे-बडे और धुरन्धर नेताओ के सामने भाषण करते हुए उन्हे बडी घबराहट होती थी। अपनी छोटी उम्र और अनुभवहीनता का विचार बार-बार कोचने लगता। सर फीरोजशाह मेहता हिमालय की तरह ऊचे और दुर्लंघ्य लगते थे, तिलक समुद्र की तरह विशाल और अगाध और गोखले तो मानो गगा का पावन प्रवाह ही थे। बबई मे तो गाधीजी अपना लिखित भाषण भी पूरा नही पढ सके थे। ठीक वही हाल हुआ जो पहले मुकदमे के समय खफीफा अदालत मे पेश होने पर हुआ था। यह अच्छा ही हुआ कि उन्होने अपना राजनैतिक जीवन भारत से नही, दक्षिण अफ्रीका मे आरम्भ किया। यदि भारत मे शुरू

करते तो पग पग पर बाधाओ से टकराते-टकराते जाने क्या हाल हो जाता। आत्मविश्वास की कमी और अपरिपक्वता के विचार से जो हानि होती वह तो थी ही, उस समय की भारतीय राजनीति भी उनकी रचनात्मक प्रतिभा के उपयुक्त नही थी—सभी क्षेत्रो मे दलवदियो और वैयक्तिक उखाड-पछाड का जोर हो चला था। लेकिन इतना सब होते हुए भी गाधीजी को सभी प्रमुख नेताओ का स्नेह, सहयोग और समर्थन मिला, क्योकि भारत के सभी पक्षो और दलो के नेता दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो के हितो और अधिकारो के प्रश्न पर प्राय एकमत थे।

ज्यादातर गिरमिटिया मजदूर मद्रास प्रेसिडेसी के ही थे, इसलिए जब गाधीजी मद्रास पहुचे तो वहा उनका जोरदार स्वागत हुआ। सभी पक्षो के नेताओ और समाचारपत्रो से पूरा-पूरा सहयोग मिला, जिनमे प्रभावशाली अग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहा गाधीजी की लिखी पुस्तिका हाथो-हाथ बिक गई और उसका नया सशोधित, परिवर्द्धित सस्करण निकालना पडा। कलकत्ता के नेताओ ने वैसा उत्साह नही दिखाया और वहा के अखबारवालो से भी उतना सहयोग नही मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इग्लिशमैन' अखबारो ने जरूर गाधीजी से भेट लेकर उसका विवरण छापा। ये दोनो अखबार अग्रेज मालिको के थे।

कलकत्ता मे सार्वजनिक सभा की योजना अभी बन ही रही थी कि गाधीजी को नेटाल से 'तुरत लौट आने का' तार मिला। उन्हे अपना देशव्यापी दौरा कलकत्ता मे ही समाप्त कर देना पडा, लेकिन फिर भी काफी काम हो चुका था। प्रवासी भारतीयो की समस्या के प्रति वह अपने देशवासियो की रुचि जाग्रत कर काफी जनमत तैयार कर चुके थे। प्रमुख नगरो मे चोटी के प्रभावशाली नेताओ के सभापतित्व मे आम सभाए की गई थी और देश के समाचारपत्र-जगत् ने जिसमे एग्लो-इडियन अखबार भी शामिल थे, साम्राज्यवाद की असलियत लोगो पर जाहिर कर दी थी।

गाधीजी के दक्षिण अफ्रीका पहुचने के पहले ही भारत मे उनके कार्यो और भाषणो की तोडी-मरोडी हुई रिपोर्ट नेटाल पहुच गई और वहा के गोरे बाशिंदे मारे गुस्से के आगबबूला हो उठे। 'रायटर' के लदन कार्यालय ने एक चार पक्तियो का तार भेजा था, जिसे नेटाल के सभी समाचारपत्रो

ने प्रमुख स्थान पर छापा। वह तार इस प्रकार था—"१४ सितंबर। भारत मे छपी एक पुस्तिका मे कहा गया है कि नेटाल मे भारतीयो को लूटा जाता है, उनपर हमले किये जाते है, और उनके साथ जानवरो-जैसा वर्ताव होता है, जिसकी कोई दाद-फरियाद नही। 'टाइम्स ऑव इडिया' पत्र ने इन आरोपो की जाच की सिफारिश की है।'

'रायटर' का मतलव उस पुस्तिका से था, जिसे गाधीजी ने भारत मे लिखा, छापा और वितरित किया था। गाधीजी की लेखन-शैली की प्रशसा मे जोहान्सवर्ग का प्रमुख अखवार 'दि स्टार' एक वार लिख चुका था कि उनके लिखने का ढग "ओजस्वी, मर्मस्पर्शी, सयत और अच्छा है।" 'नेटाल मरकरी' ने भी लेखन मे उनके 'सयम और निरुद्विग्नता' की प्रशसा की थी। भारत मे गाधीजी ने जो पुस्तिका लिखी थी उसकी भाषा नेटाल मे लिखी उन दोनो पुस्तिकाओ से अधिक 'नरम' थी और उसमे उन्होने स्थिति के चित्रण को जान-बूझकर 'हलका' रखा था। हर भाषण के एक-एक शब्द को खूब तौल-तौलकर पहले लिख लिया था और तव उन्हे पढा गया था। उनकी सत्यपरायणता और अतिशयोक्ति से अपनेको वचाने की आदत से कलकत्ता के 'इग्लिशमैन' अखवार के सपादक इतने प्रभावित हुए कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो की समस्या पर लिखा अपना अग्रलेख उन्हे पढने को ही नही दिया, उसमे काट-छाट करने की छूट भी दे दी थी।

भारत मे गाधीजी ने जो कुछ किया और कहा था उसकी सही रिपोर्ट तो नेटाल पहुच नही पाई और इसी बीच लदन से 'रायटर' के उस तार ने वहा ववडर पैदा कर दिया। वहा के गोरे गाधीजी से वेहद नाराज़ हो गये। जिस देश ने आश्रय दिया उसीको वदनाम करने, 'नेटाल के यूरोपियनो को गदगी मे खीचने और उनके चेहरो पर कालिख पोतने' के आरोप उन-पर लगाये गए। नेटाल को भारतीय प्रवासियो से भर देने के षडयत्र का दोषारोपण भी उनपर किया गया। वात यो हुई कि 'कूरलैंड' नामक जिस जहाज मे गाधीजी और उनका परिवार यात्रा कर रहा था वह और 'नादेरी' नामक एक दूसरा स्टीमर दोनो एक ही दिन ववई से रवाना हुए और एक ही समय नेटाल पहुचे। गाधीजी के पुराने मुवक्किल और मित्र अब्दुल्ला सेठ 'कूरलैंड' के मालिक थे और 'नादेरी' के एजेट भी वही थे। दोनो

जहाजो के कुल मिलाकर आठसौ यात्रियो मे मे चार सौ के लगभग नेटाल उतरनेवाले थे। दोनो जहाजो का बवई से एक साथ रवाना होना और १८ दिसबर १८९६ को साथ-साथ डरवन पहुचना महज एक सयोग था। लेकिन 'रायटर' के तार से नाराज नेटाल के गोरो ने इस आकस्मिक सयोग को षडयत्र समझ लिया। डरवन के टाउन हॉल मे दो हजार गोरो ने सभा करके 'मुक्त भारतीयो' को नेटाल की भूमि पर न उतरने देने की सरकार से माग की।

जब दोनो जहाजो ने बन्दरगाह मे लगर डाल दिये तो यूरोपियनो ने भारतीय यात्रियो को समझाने-बुझाने और लोभ-लालच देने से लेकर डराने-धमकाने तक सभी उपाय खूब आजमाये। उलटे कदम लौट जाने वालो को वापसी किराये का लोभ और इनकार करनेवालो को समुद्र मे फेक देने की धमकियाँ दी गई। जहाजो के मालिको को चेतावनी दी गई कि या तो अनचाहे यात्रियो को बन्दरगाह से ही वापस भारत ले जाओ या नेटाल सरकार और वहा के गोरो की कोपाग्नि का सामना करने को तैयार हो जाओ। जहाजो को क्वारटीन मे रख दिया गया, लेकिन जब क्वारटीन की अवधि पाच दिन से बढाकर तीन सप्ताह कर दी गई तो स्वास्थ्य-रक्षा की अपेक्षा उसके राजनैतिक प्रयोजन मे कोई भी सन्देह नही रह गया। इसमे नेटाल के प्रभावशाली यूरोपियनो का हाथ था और वहा का एटर्नी-जनरल हैरी एस्कब उन लोगो की खुल्लमखुल्ला मदद कर रहा था। भारतीय यात्रियो मे ज्यादातर अनपढ थे और पहली बार इतनी लम्बी समुद्री यात्रा कर अपने परिवारो के साथ यहा तक पहुचे थे। लेकिन कोई भी गोरो की धमकियो से विचलित नही हुआ, क्योकि गाधीजी उन्हे बराबर धीरज बधाते और आशा दिलाते रहते थे। असल मे बलि का बकरा तो वह ही थे। नेटाल के यूरोपियनो का सारा गुस्सा उन्हीके कारण था। गाधीजी भी इस बात को महसूस करते थे कि उन्हीकी वजह से सैकडो यात्रियो की, जिनका वे नाम-धाम तक नही जानते, जान जोखिम मे थी और खुद उन्हीके अपने बाल-बच्चे भी मुसीबत मे पड गये थे। बडे दिन (क्रिसमस-डे, १८९६) के अवसर पर जहाज के कप्तान के कमरे मे एक छोटी-सी सभा हुई और उसमे किसीने गाधीजी से पूछ लिया कि

गोरे जैसी धमकी दे रहे हे वैसा कर ही गुजरें और जोर-जवर्दस्ती से भारतीयो को नही ही उतरने दे तो बताइये, आप क्या करेंगे ? गाधीजी ने जवाब दिया था, "मुझे आशा है कि उन्हे माफ कर देने और उनपर मुकदमा न चलाने की हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। मुझे उनपर जरा भी गुस्सा नही है। उनकी नासमझी और तगदिली पर अफसोस ही हे।"

जब तेईस दिन का राजनैतिक क्वारटीन और गोरो की बुरी-से-बुरी धमकिया भी भारतीय यात्रियो को डिगा न सकी तो १८९७ की १३ जनवरी को दोनो जहाजो को बन्दरगाह मे प्रवेश करने और यात्रियो को उतारने की आज्ञा दे दी गई। लेकिन गाधीजी और उनके परिवार को सब यात्रियो के साथ नही उतरने दिया गया। मि० एस्कव ने कप्तान को कहलवाया कि गाधी और उनके परिवार को शाम तक रोके रहो, अधेरा होने पर पोर्ट सुपरिटेडेट उन्हे अपनी हिफाजत मे लिवा ले जायगे। लेकिन दोपहर के समय गाधीजी के मित्र यूरोपियन वकील मि० लाटन उनसे मिलने आये और बताया कि इस समय शाति है, किसी तरह का खतरा नही हे और हो भी तो आपका 'रात मे चोर की तरह' लुक-छिपकर डरबन नगर मे प्रवेश करना कोई अच्छी बात नही। इसपर यह तय पाया कि गाधीजी की पत्नी और बच्चे तो तुरत सवारी से उनके मेजबान रुस्तमजी के घर पहुच जाय और मि० लाटन और गाधीजी पैदल चलकर वहा जाय। बन्दरगाह से बाहर निकलकर गाधीजी थोडा ही दूर गये थे कि कुछ यूरोपियन लडको ने उन्हे पहचान लिया। तुरत कुछ लोग इकट्ठे हो गये और भीड बढने लगी और उसके साथ-साथ शोर-शराबा और धमकिया भी। भीड का गुस्सा और बदलते तेवर देखकर मि० लाटन ने रिक्शा मगवाया, लेकिन गोरो ने रिक्शा चलानेवाले जूलू लडको को डराधमकाकर भगा दिया। गाधीजी और लाटन आगे बढे तो मजमा भी उनके साथ हो लिया और भीड बढती चली गई। वेस्ट स्ट्रीट पर पहुचते-पहुचते भीड मि० लाटन को खीचकर अलग ले गई। अब गाधीजी पर सडे अडो और ककड-पत्थरो की बौछार होने लगी। एक क्रोधोन्मत्त गोरे ने चीखकर कहा, "अखबार मे वह सब तूने ही लिखा था न ?" और कसकर गाधीजी

को एक लात मारी। उन्हे चक्कर आ गये। दम लेने के लिए उन्होने वगल के घर की जाली पकडली और फिर किसी तरह लडखडाते हुए आगे वढे। जीवित घर पहुचने की सारी आशाए उन्होने छोड दी, लेकिन जैसा-कि उन्होने वाद मे वताया, उस समय भी अपने पर हमला करनेवालो के प्रति उनके मन मे कोई रोष नही था और न उन्होने उनको दोप ही दिया। इतने मे एक वडी ही सुन्दर और वीरतापूर्ण वात हुई। पुलिस सुपरिटेडेट मि० अलेक्ज़ेडर की पत्नी वहा आ पहुची। उन्होने गावीजी को पहचाना तो उनकी वगल मे आ खडी हुई और उन्हे ककड-पत्थर की वर्पा से वचाने के लिए अपनी छतरी खोल ली। गोरो की भीड यो तो गुस्से से वौखलाई हुई थी, परन्तु गोरी मेम पर हाथ उठाने का किसीका माहस नही हुआ। इतने मे पुलिस के सिपाही आ गये और उन्होने अपनी हिफाजत मे गावी-जी को रुस्तमजी के घर पहुचा दिया।

अभी गाधीजी के घावो की मरहमपट्टी होकर चुकी ही थी कि गोरो की भीड ने घर घेर लिया और धमकी देने लगे कि यदि गाधीजी को हमारे हवाले नही किया गया तो आग लगा देगे। सुपरिटेडेट अलेक्जेडर को पता चला तो वह वहा पहुचकर मकान के दरवाजे पर खडे हो गये और भीड को हँसी-मजाक मे वहलाये रख गाधीजी के पास सदेशा भेजा कि यदि आप घर, माल-मता और स्त्री-बच्चो सहित सव लोगो को जिन्दा भुनवाना नही चाहते तो चुपचाप वेश बदलकर खिसक जाइये। गावीजी साफे के नीचे सिर पर पीतल की तश्तरी रखे हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी मे दो खुफिया पुलिसवालो के साथ, जिनमे से एक भारतीय व्यापारी के वेश मे था, बगल की गली से होकर पडोस की एक दुकान मे पहुचे और गोदाम मे लगी हुई वोरो की थप्पियो को अधेरे मे लाघकर दुकान के दरवाजे की राह भीड के वीच मे से होते हुए निकले और थाने पहुच गये।

लेकिन थाने मे उनको अधिक समय तक नही रहना पडा। रायटर ने भारत मे गाधीजी के कार्यो की जो सक्षिप्त और गलत-शलत रिपोर्ट दी थी उसीसे नेटाल के गोरे अपना आपा खो बैठे थे। इसलिए जिस दिन आक्रमण हुआ उस सवेरे गाधीजी से मिलने के लिए आये हुए एक पत्र-प्रतिनिधि को अपने पर लगाये गए सभी आरोपो का एक-एक कर खुलासे-

वार जवाव दे दिया तो लोगो की गलतफहमी, देर से ही क्यो न हो, काफी हद तक दूर हो गई थी।

उधर लदन मे उपनिवेश-मत्री ने गाधीजी पर हमला करनेवालो को गिरफ्तार कर उनपर मुकद्दमा चलाने के लिए नेटाल सरकार को तार दिया। गाधीजी ने इसका जो जवाव दिया वह वडा ही अद्भुत था। उन्होने कहा कि अपने व्यक्तिगत मामले मे अदालत न जाने का मैने नियम बना लिया है, और फिर इस मामले मे क्रोधावेश मे हाथ छोड वैठनेवाले दो चार आदमियो को दोषी मानकर सजा दिलाना वाजिव भी न होगा, क्योकि असली अपराधी तो गोरी जाति के मुखिया और नेटाल की सरकार के वे सदस्य ह, जो डरवन के गोरो को गुमराह कर उनके गुस्से को भडकाते रहे है।

१३ जनवरी १८६७ का वह दिन वडा ही महत्त्वपूर्ण और निर्णायक दिन था। गाधीजी मौत से वाल-वाल वचे थे। उन्होने जिस सयम, उदारता और क्षमा का परिचय दिया उससे भारतीयो की उनके प्रति श्रद्धा और गोरो मे उनकी प्रतिष्ठा काफी वढ गई थी। वह नेटाल इडियन कांग्रेस के द्वारा भारतीयो के सगठन और सेवा का कार्य वरावर करते रहे। १८६६ मे जव वोअर-युद्ध छिडा तो गाधीजी के सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खडा हुआ कि इस युद्ध मे भारतीयो के लिए किस पक्ष का समर्थन करना उचित होगा? आगे चलकर यह युद्ध दक्षिण अफ्रीका के इतिहास की धारा को ही मोडनेवाला सिद्ध हुआ।

७

रोटी के बदले पत्थर

१८६६ मे वोअर-युद्ध छिडते ही दक्षिण अफ्रीका के नायकत्व के लिए अग्रजो और वोअरो का पारस्परिक सघर्ष अपने अतिम चरण मे पहुच गया। इन दोनो गोरी जातियो को आपस मे एक-दूसरे का खून वहाते देख भारतीयो को कोई दु ख नही हुआ, क्योकि उन्हे तो दोनो ही सताते थे—

यदि अग्रेज कुछ कम तो बोअर बहुत ज्यादा। गाधीजी के अहिसा और शाति-सबधी विचार अभी परिपक्व नही हो पाये थे। उनका खयाल था कि ऐसे सकटकाल मे सामान्य नागरिक के लिए यह तय करना कि कौन-सा पक्ष न्याय पर है, न तो सम्भव होता है और न उचित ही। नेटाल के भारतीयो को मामूली से नागरिक अधिकार भी प्राप्त नही थे। परन्तु गाधीजी का कहना था कि अधिकारो की माग करनेवालो के भी कुछ कर्तव्य और दायित्व होते है, जिनका उन्हे पालन करना चाहिए। कुछ लोगो का यह खयाल था कि अतिम जीत तो बोअरो की ही होगी, इसलिए इस समय भारतीय यदि किसी भी पक्ष का साथ न दे तो आगे चलकर फायदे मे रहेगे। गाधीजी को यह विचार पसन्द नही था, वह इसे हद दर्जे की कायरता मानते थे।

अन्त मे उन्होने नेटाल के सभी भारतीयो को अपने विचारो का बना ही लिया। लेकिन वहा की सरकार को भारतीयो के सहयोग की कोई परवा न थी, शुरू-शुरू मे तो वह उनका सहयोग लेने को भी तैयार न हुई। नेटाल विधान-सभा के एक सदस्य, जेमसन ने तो गाधीजी से यहातक कहा, "युद्ध के बारे मे तुम लोग जानते ही क्या हो? फौज के लिए खासा सिर दर्द हो जाओगे। मदद तो कुछ कर नही पाओगे, उलटे हमीको तुम्हारी हिफाजत की फिक्र करनी होगी।" इसपर गाधीजी ने जवाब दिया था, 'क्या हम कुछ भी नही कर सकते? कम-से-कम घायलो की सेवा-टहल तो कर ही सकते है। यह तो ऐसा बडा काम नही और न इसमे किसी खास अकल या समझ की जरूरत ही होती है।" "होती है, जरूर होती है।" जेमसन ने फरमाया था, "इस काम मे भी बडी समझ और ट्रेनिग की जरूरत है।"

आखिर मे जब टुगेला नदी के किनारे जनरल बुलर की फौजे बुरी तरह पिटन लगी और अग्रेज सैनिको के हौसले काफी पस्त हो चले तब कही भारतीयो को एक एबुलेस टुकडी बनाने की आज्ञा मिली। इस टुकडी मे लगभग ११०० आदमी थे। इडियन एग्लिकन मिशन के डाक्टर बूथ इसके मेडिकल सुपरिटेडेट थे, लेकिन वास्तव मे तो गाधीजी ही इसके नायक और नेता थे। पहली बार इस टुकडी को कौलेसो के मोर्चे पर मैदान मे भेजा

गया, जहा इसने एक सप्ताह तक खूब कडी मेहनत की। वहा से इसे स्पियाकोप की लडाई मे भेजा गया, जहा इसने तीन सप्ताह काम किया। इस एवुलेंस टुकडी के जवान 'वैरा' कहलाते थे, क्योकि उनका काम तोप-बदूक की मार की हद से वाहर घायलो को उठाना और पैदल ढोकर पच्चीस मील दूर छावनी के अस्पताल मे पहुचाना था। इकरार के अनुसार इनसे मार की हद मे काम करने के लिए नही कहा जा सकता था, लेकिन फिर भी कई ऐसे मौके आये जव ऐसा अनुरोध किया गया और इन्होने मार की हद मे जाकर भी खुशी-खुशी काम किया।

उस लडाई मे सेवारत गाधीजी का 'प्रिटोरिया न्यूज' के सपादक मि० विअर स्टेट ने जो स्फूर्तिदायक शब्द-चित्र अपने अखबार मे छापा था, उसके कुछ अश इस प्रकार है—"सारी रात की कडी मेहनत के वाद, जिसने कई तगडे जवानो को ढीला कर दिया था, वडे सवेरे मेरी भेंट मि० गाधी से हुई। वह सडक के किनारे वैठे हुए राशन के फौजी विस्कुट का कलेवा कर रहे थे। उस दिन जनरल वुलर की फौज का हर आदमी थका-मादा, सुस्त और निराश था, और सारी दुनिया को कोस रहा था। अकेले गाधीजी ही प्रसन्न, अविचलित और सतुलित थे, उनकी वाणी मे आत्मविश्वास की झलक और आखो मे करुणा की ज्योति जगमगा रही थी।"

जनरल वुलर ने भारतीय एवुलेंस टुकडी के काम की अपने खरीते मे तारीफ की और उसके सैंतीस 'मुखियो' को युद्ध के तमगे दिये गए। अग्रेजो द्वारा वोअर-युद्ध की विजय मे भारतीयो की इस सहायता को नगण्य ही गिना जायगा, पूछे जाने पर स्वय गाधीजी ने भी शायद यही कहा होता, लेकिन फिर भी अल्पमत के दवे-कुचले लोगो का यह प्रयत्न काफी प्रशसनीय था और इसकी खूब सराहना की गई। गोरे अखवारो ने तो भारतीयो की प्रशसा मे गीत-प्रशस्तिया भी लिखी और उन्हे 'साम्राज्य के सुपुत्र' तक कहा। गाधीजी को व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद देनेवाले गोरो मे तो जनवरी १८९७ मे डरवन मे उनपर घातक हमला करनेवाले भारतीय-विरोधी प्रदर्शन के कई सरगना भी थे।

जब लडाई के आखिरी नतीजे के वारे मे कोई सन्देह नही रह गया, तो गाधीजी ने भारत लौट जाने का फैसला किया, क्योकि उनके विचार मे

दक्षिण अफ्रीका की राजनैतिक परिस्थिति मे काफी अच्छा परिवर्तन हो चुका था। लेकिन नेटाल के भारतीय उन्हे आसानी से क्यो छोडने लगे। आखिर इस शर्त पर इजाजत मिली कि साल-भर के अन्दर अगर उनकी जरूरत मालूम हुई तो उन्हे दक्षिण अफ्रीका लौट आना होगा।

१९०१ के आखिर मे, भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के ऐन मौके पर गाधीजी भारत मे वम्वई के वन्दरगाह पर उतरे। कलकत्ता-काग्रेस के वाद वह एक महीने तक गोखले के साथ रहे। १८९६ मे दोनो की पहली मुलाकात हुई थी और गोखले तभीसे गाधीजी की गति-विधियो मे दिलचस्पी लेते रहे थे। वह गाधीजी को भारतीय राजनीति मे लाना चाहते थे। दोनो एक-दूसरे का वडा आदर करते थे। गोखले गाधीजी की ईमानदारी, लगन और काम करने के ढग से प्रभावित थे, तो गाधीजी गोखले की लोक-सेवा और देश-भक्ति पर निछावर।

गोखले की वडी इच्छा थी कि गाधीजी वम्वई मे वस जाय, वही वकालत करें और भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के कार्यो मे उनकी मदद करे, इसलिए वह कुछ समय राजकोट मे वकालत करने के वाद वम्वई चले आये। उन्होने साता क्रुज मे एक अच्छा-सा वगला किराये पर ले लिया और थोडे दिनो मे काफी अच्छी वकालत भी जमा ली। गोखले वडे खुश हुए, उस समय प्रतिभा के धनी और निष्ठावान देशसेवको की वडी कमी थी। गाधीजी-जैसे सुयोग्य, उत्साही और लगनशील कार्यकर्ता को पाकर कौन खुश न होता! लेकिन गाधीजी और गोखले की सारी योजनाए धरी रह गई। दक्षिण अफ्रीका से गाधीजी की वुलाहट का तार आ गया, सकट मे घिरे प्रवासी भारतीयो ने उन्हे अपना नेतृत्व करने के लिए तुरत वुला भेजा था।

इग्लैड के उपनिवेश मत्री मि० चेंवरलेन दक्षिण अफ्रीका के दौरे पर आ रहे थे, वहा के प्रवासी भारतीय उन्हे अपनी नई-पुरानी शिकायते सुनाना चाहते थे, इसीलिए गाधीजी को तत्काल वुलाया गया था।

वोअर-युद्ध के खत्म होने पर ब्रिटिश सरकार ने वहा के कायदे-कानून की जाच-पडताल के लिए एक समिति विठा दी थी और उसे यह काम सौपा गया था कि जो भी नियम-कानून ब्रिटिश विधान से मेल न खाते हो और

महारानी विक्टोरिया की प्रजा के नागरिक अधिकारो मे बाधक हो, उन्हे रद्द कर दिया जाय। समिति ने 'महारानी विक्टोरिया की प्रजा' का अर्थ सिर्फ 'गोरी प्रजा' किया, इसलिए प्रवासी भारतीयो के अधिकारो का नये सुधारो मे कही जिक्र भी नही हुआ। उलटे बोअरो के राज्य मे जितने भी भारतीय-विरोधी कानून-कायदे थे, उन सबको नये सिरे से एक अलग नियम-सहिता मे समेटकर रख दिया।

जब गाधीजी १९०२ के दिसम्बर महीने मे डरबन पहुचे तो हालत यह थी कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो को नेटाल मे अपनी पुरानी जजीरें ही नही तोडनी थी, ट्रासवाल मे गढी गई नई जजीरो से भी आजाद होना था। गाधीजी के नेतृत्व मे नेटाल के भारतीयो का एक प्रतिनिधि-मडल डरबन मे उपनिवेश-मत्री मि० चेंबरलेन से मिला। उन्होने यथानियम भारतीय प्रतिनिधि-मडल की सारी बाते बडी शाति और सहानुभूति से सुनी, और अत मे यह सलाह दी कि उपनिवेश तो स्वराज्य-भोगी है, अपने घरेलू मामलो मे आजाद है, आपको यहा के गोरो से ही समझौता करना चाहिए।

गाधीजी को जिस काम के लिए भारत से बुलाया गया था वह पूरा होगया। अब वह चाहते तो भारत लौट सकते थे। परिवार, जमे-जमाये धन्धे और भारत के सार्वजनिक राजनैतिक कार्य का खिचाव भी कम नही था। लेकिन दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो का सकट इतना बडा और विकट और गाधीजी पर उनका विश्वास इतना अधिक और दृढ था कि लौट जाने का गाधीजी का मन नही हुआ, वह वही रुक गये। १८९३ मे गाधी-जी एक साल के लिए दक्षिण अफ्रीका आये थे और आठ बरस तक रह गये, १९०२ मे वह छह महीने के लिए आये और लौटकर जाने मे बारह बरस लग गये। "जबतक घिरे हुए बादल बिखर नही जाते या सारी कोशिश के बावजूद और अधिक उमडकर फट नही पडते" तबतक दक्षिण अफ्रीका मे रहने का गाधीजी ने फैसला कर लिया।

ट्रासवाल की बडी अदालत मे वकालत की सनद लेकर वह वही बस गये और इस बार उन्होने जोहान्सबर्ग को अपनी गति-विधियो का केन्द्र बनाया।

यहा से गाधीजी के जीवन का नया अध्याय शुरु होता है। बोअर-

युद्ध मे अग्रेजो की जीत से नेटाल और ट्रासवाल के गोरे उपनिवेशो की रग-भेद की भारतीय-विरोधी नीतिया खत्म नही हुई, उलटे और भी उग्र हो गई। भारतीयो को गोरो की बराबरी का दर्जा पाने के ही लिए नही, छोटे-छोटे-से नागरिक अधिकारो को पाने और पच्चीस-तीस बरसो की तनतोड मेहनत से पैदा की हुई सपत्ति के बचाव के लिए भी हर कदम पर लडना था। फिर यह बराबरी के जोडो की भी लडाई नही थी, कमजोर का ताकतवर से मुकाबला था। कोई नही जानता था कि यह लडाई कितनी लम्बी होगी। इसके नेतृत्व की जिम्मेवारी अपने ऊपर ली तो गाधीजी ने मन, वचन और कर्म से अपने-आपको इस काम के लिए समर्पित कर दिया, अब उन्हे न धन्धे की परवा थी और न परिवार की। प्रवासी भारतीयो के अधिकारो और मुक्ति की लडाई ही उनके लिए सबकुछ थी। इस लडाई के दौरान उनके जीवन मे जबर्दस्त परिवर्तन हुए। वे परिवर्तन केवल बाहरी रहने-जीने के ढग तक सीमित नही रहे, उन्होने गाधीजी के अन्तर को, विचारो और विश्वासो को यहातक कि सारे मूल्य-बोध को ही बदल दिया। एक नई दृष्टि, एक नया दर्शन और नये मूल्य-बोध उन्होने ग्रहण किये।

इस परिवर्तन की कहानी रसप्रद भी है और बोधप्रद भी। यह नैतिक और आत्मिक शक्ति के उन स्रोतो की ओर इगित करती है, जिनकी बदौलत गाधीजी दो महाद्वीपो के जन-जीवन मे इतना अद्भुत और अपूर्व कार्य कर सके

: ८ :

धार्मिक जिज्ञासा

गाधीजी के पिता करमचन्द ससारी आदमी थे। धर्म और अध्यात्म मे उनकी कोई खास गति नही थी। उस जमाने मे उनके वर्ग के लोगो का धर्म से जितना वास्ता हो सकता था, उनका भी था। बीमार पडने पर हिंदू पडितो, जैन मुनियो, पारसी दरवेशो और मुस्लिम औलियो को घर

बुलाकर वह उनसे धर्म-चर्चा और वाद-विवाद सुना करते। बचपन मे बीमार पिता की तीमारदारी के समय गाधीजी को भी उन चर्चाओ और बहसो को सुनने का मौका मिल जाया करता। उस उम्र मे धर्म और अध्यात्म की ऊची बाते तो जरूर उनकी समझ मे नही आती थी, परतु कई धर्मों के विद्वानो को साथ बैठकर मैत्रीपूर्ण ढग से चर्चा करते देख धार्मिक सहिष्णुता की छाप बालक गाधी के मन पर जरूर पडती थी।

गाधीजी की माता पुतलीबाई धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी। साल के बारहो महीने के तीसो दिन वह किसी-न किसी व्रत, अनुष्ठान और उपवास मे लगी रहती थी। लेकिन फिर भी गाधीजी के परिवार मे धर्म की नियमित शिक्षा का कोई प्रबन्ध नही था। गाधीजी-जैसे नीति और धर्म के घोर जिज्ञासु बालक के लिए यह अभाव घोर कमी थी। धर्म के बाहरी आडबर और दिखावे से उन्हे जरा भी सतोष नही होता था। एक बार घर मे पिताजी की पुस्तको मे मनुस्मृति की पोथी उनके हाथ लग गई। उसमे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन पढा तो वह उन्हे सही नही लगा। लेकिन उनकी शकाओ का समाधान करनेवाला कोई नही था। घर मे मास खाना बुरा समझा जाता था, उसपर रोक लगी हुई थी, लेकिन स्मृतिकार मनु उसका समर्थन कर रहा था, यह बात उनके सदेहो और परेशानी को और बढा देती थी। इस सबका लाजिमी तौर पर यह नतीजा हुआ कि धर्म और ईश्वर मे उनका विश्वास कम होता चला गया।

उन्नीस वर्ष की उम्र मे जब गाधीजी लदन पहुचे तो हिंदू धर्म-सबधी उनका ज्ञान स्वल्प था। उन्होने बडी लज्जा के साथ इस बात को स्वीकार किया है कि अपने थियोसोफिस्ट मित्रो के आग्रह पर सर एडविन आर्नोल्ड-कृत भगवद्गीता के अग्रेजी अनुवाद 'दिव्य सगीत' को पढने तक गीता को उन्होने न तो सस्कृत मे पढा था और न अपनी मातृभाषा गुजराती मे ही। अपने जीवन की मूल प्रेरणा और पथ-प्रदर्शिका गीता से उनका पहला परिचय 'दिव्य सगीत' के ही रूप मे हुआ था। सर एडविन की दूसरी पुस्तक 'एशिया की ज्योति'—गौतम बुद्ध की जीवन-कथा—का भी उनपर काफी प्रभाव पडा, बुद्ध के त्याग और उपदेशो ने उन्हे अभिभूत कर दिया था।

गाधीजी थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य तो नही बने, लेकिन

उसके साहित्य ने उनकी धार्मिक जिज्ञासा को उभारने मे जरूर मदद की। वाइविल से भी उनका परिचय पहले पहल इग्लैंड मे ही हुआ। एक शाकाहारी मित्र ने उन्हे वह पढने के लिए दी थी। 'नये इकरार' (न्यू टेस्टामेट) से वह वडे प्रभावित हुए और खासतौर पर 'गिरि-प्रवचन' (सरमन आन-दि माउट) तो उनके हृदय मे ही पैठ गया। 'जो तेरा कुर्ता मागे उसे अगरखा भी देदे, जो तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, बाया गाल भी उसके सामने कर दे', यह पढकर उन्हे गुजराती कवि श्यामल भट्ट का निम्न छप्पय याद आ गया, जिसे वह बचपन मे गाया करते थे

> **"पाणी आपने पाय, भलु भोजन तो दीजे,**
> **आवी नमाये शीश, दडवत कोडे कीजे।**
> **आपण घासे दाम, काम महोरोनु करीए,**
> **आप उगारे प्राण, ते तणा दुखमा मरीए।**
> **गुण केडे तो गुण दशगणो, मन, वाचा, कर्म करी।**
> **अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमा जीत्यो सही॥**[१]

वाइविल, बुद्ध और श्यामल भट्ट की शिक्षाओ ने उनके हृदय मे घर कर लिया था। घृणा के बदले प्रेम और बुराई के बदले भलाई करने की बात भी मन पर अकित हो गई थी। यद्यपि अभी आचरण मे नही आ पाई थी, लेकिन अदर-ही-अदर फलने-फूलने जरूर लगी थी। इग्लैंड जाने से पहले जिस नास्तिकता रूपी सहारा के रेगिस्तान मे[२] वह किशोरावस्था मे भटक गए थे, उसे उन्होने पार कर लिया था।

दक्षिण अफ्रीका पहुचने के पहले ही साल वे क्वेकर[३] लोगो के सपर्क

---

[१] जो हमे पानी पिलाये, उसे हम अच्छा भोजन करायें। जो आकर हमारे सामने सिर नवाये, उसे हम दडवत प्रणाम करें। जो हमारे लिए एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहरों की कीमत का काम करें। जो हमारे प्राण बचाये, उसका दु ख दूर करने के लिए हम अपने प्राण तक निछावर कर दें। जो हमारा उपकार करे उसका तो हमें मन, वचन और कर्म से दसगुना उपकार करना ही चाहिए। लेकिन जग में सच्चा और सार्थक जीना उसीका है, जो अपकार करनेवाले के प्रति भी उपकार करता है।

[२] 'आत्म-कथा', सस्ता साहित्य मडल, १९६०, पृष्ठ ६२।

[३] ईसाइयो का एक सप्रदाय, जो सादगी और सरल व्यवहार पर बहुत जोर देता है।

में आये। गांधीजी की धार्मिक मनोदशा का पता चलते ही वे लोग उन्हें ईसाई बनाने की कोशिशों में लग गए। उन्होंने गांधीजी को ईसाई धर्म और इतिहास में संबंधित किताबों से लाद दिया। वे उन्हें उपदेश देते, उनके साथ और उनके लिए प्रार्थना करते। अंत में वे गांधीजी को प्रोटे-स्टेंट ईसाइयों के एक कन्वेशन में इस आशा से ले गये कि शायद वहां आने-वालों का सामूहिक धर्मोत्साह और श्रद्धा-भावना उनके दिल पर गहरी छाप डाले और वह ईसाई बनने को राजी हो जाय। गांधीजी ने क्वेकर लोगों की सज्जनता, श्रद्धा, उदारता आदि की खूब सराहना की, लेकिन धर्म-परिवर्तन के मामले में बिलकुल साफ-साफ और सच सच बता दिया कि अंतर से आवाज उठे बिना हिंदू धर्म का परित्याग और ईसाई-धर्म का अंगीकार नहीं कर सकते।

जब उन्होंने टाल्स्टाय की पुस्तक 'वैकुंठ तुम्हारे हृदय में' (दि किंगडम आफ गॉड इज विदिन यू) पढ़ी तो उसके विचारों पर मुग्ध हो गये। इस अकेली पुस्तक से गांधीजी ने ईसाई धर्म के बारे में जितना सीखा और समझा, वह क्वेकर मित्रों की दी हुई ढेर सारी किताबों से भी नहीं जाना जा सका था। इस पुस्तक में टाल्स्टाय ने सभी ईसाई धर्म-संगठनों (कली-सा) की इस बात के लिए कड़ी भर्त्सना की है कि भोली-भाली जनता को अपने जाल में फंसाये रखने के लिए वे ईसा की सच्ची शिक्षाओं का मन-माना, गलत और अकसर उलटा अर्थ किया करते हैं। आज ईसाइयों के आचरण और ईसा के उपदेशों में जो जमीन-आसमान का फर्क है उसपर भी इस पुस्तक में खूब रोशनी डाली गई है। अपनी एक दूसरी पुस्तक 'मेरी आस्था' (व्हाट आई बिलीव) में तो टाल्स्टाय ने इस बात पर भी जोर दिया है कि ईसा केवल औपचारिक धर्म के संस्थापक ही नहीं थे, बल्कि उनके उपदेशों में बड़े दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक सिद्धांत समाये हुए हैं। टाल्स्टाय जैसे महान ईसाई-विद्रोही के इन विचारों ने भी गांधीजी को क्वेकर लोगों के प्रभाव से मुक्त रखने में काफी काम किया।

वैसे तो गांधीजी सन् १९०१ में भी एक बार एक प्रसिद्ध भारतीय ईसाई के पास 'धर्म-संबंधी जानकारी और विचार-विनिमय' के लिए गये थे, लेकिन उनके द्वारा ईसाई धर्म को अपनाये जाने की संभावना बहुत पहले

ही समाप्त हो चुकी थी। उन्होने हिंदू धर्म के साथ-साथ दूसरे सभी धर्मो का अध्ययन-मनन किया और अत मे इस निर्णय पर पहुचे कि धर्म सभी अच्छे है, लेकिन साथ ही अपूर्ण भी है, क्योकि "उनकी व्याख्या या तो ठीक से नही की गई, या बेमन से की गई और अकसर गलत भी की गई।" इस्लाम से उनका परिचय कार्लाइल की पुस्तक 'विभूतिया और विभूति पूजा' (हीरोज एड हीरोवरशिप) के एक लेख 'वीर पैगम्बर' (हीरो एज प्रोफेट) के द्वारा हुआ। उन्होने कुरान का अग्रेजी अनुवाद और वाशिगटन इरविग की लिखी पैगम्बर हजरत मुहम्मद की जीवनी भी पढी। मुहम्मद साहब की गरीबी और विनम्रता और जिस साहस से उन्होने और उनके शुरु के अनुयायियो ने कठिनाइयो एव अपमानो का सामना किया था, उस सबका गाधीजी पर काफी गहरा प्रभाव पडा।

ईसाई धर्म और इस्लाम-सबधी किताबे तो दक्षिण अफ्रीका मे ही मिल जाती थी, लेकिन हिंदू धर्म की पुस्तके उन्हे भारत से मगवानी पडती थी। धार्मिक विषयो पर वह अपने मित्र रायचद भाई के साथ पत्र-व्यवहार भी करते थे। रायचद भाई उन्हे धीरज रखने और गभीर अध्ययन के द्वारा हिंदू धर्म के सूक्ष्म और गूढ विचारो को समझने, उसकी स्पष्टता को आत्मसात करने और आत्म-साक्षात्कार की सलाह देते रहते थे। जब गाधीजी के ईसाई मित्र उन्हे बप्तिता पढाने की कोशिशो मे लगे हुए थे, रायचद भाई के विद्वत्तापूर्ण पत्रो ने ही अन्तिम रूप से हिंदू धर्म मे उनकी श्रद्धा को दृढ किया।

लेकिन उनके जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करनेवाली पुस्तक थी भगवद्गीता। दक्षिण अफ्रीका मे विभिन्न टीकाओ के साथ उन्होने इसे मूल सस्कृत मे भी पढा और फिर रोज नियम से इसका परायण करने लगे। एक-एक श्लोक रोज सवेरे स्नान के समय कठस्थ करते-करते उन्हे पूरी गीता जबानी याद हो गई। गीता गाधीजी की 'मार्गदर्शिका', 'आचरण सहिता', 'धर्म-कोश', 'आत्मिक प्रेरणा का स्रोत', और 'सकट मे सच्चा मित्र और सहायक' थी। स्वय उन्हीके शब्दो मे "जब मुझे प्रकाश की एक किरण भी कही दिखाई नही देती, मै उसे भगवद्‌गीता मे खोजता हू और उसके किसी श्लोक मे निहित आशा का सदेश मेरे भारी-से-भारी दुःख को चुटकिया बजाते दूर कर देता है। अनत दुःख, कष्ट और आपदाओ से भरे

अपने इस जीवन मे जो स्थिर और अविचलित रह सका हू उसका सारा श्रेय भगवद्गीता को ही है।'[1]

गीता के दो शब्द 'अपरिग्रह' और 'समभाव' मे गाधीजी को आत्म-विकास की अनत सभावनाए दिखाई दी। 'अपरिग्रह' का अर्थ है आत्मा के लिए भार स्वरूप सभी भौतिक वस्तुओ का परित्याग, धन, सपत्ति और विषयेषणा से छुटकारा, और जिसे छोडा न जा सके स्वय को उसका ट्रस्टी समझकर आचरण करना, न कि मालिक बन बैठना। 'समभाव' का अर्थ है सुख और दुःख मे, हार और जीत मे मन की एक-सी वृत्ति, और सफलता की आशा एव असफलता की आशका से परे होकर अपना काम करते जाना, जैसाकि गीता मे कहा है, 'फल मे आसक्त हुए बिना काम करना' (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन)। समभाव को अपना कर ही गाधीजी "बदतमीज, "मगरूर और भ्रष्ट अधिकारियो, व्यर्थ का विरोध और वितडा करनेवाले कल के सहकर्मियो और जिन्होने हमेशा भलाई ही की ऐसे सभी तरह के लोगो" के साथ एक-जैसा व्यवहार कर सके। कई बरसो के बाद उन्होने ईसाई मिशनरियो के एक दल से कहा था, "हिंदू धर्म, जिस रूप मे मैं उसे समझ सका हू, मेरी आत्मा को सतुष्ट और परिपूर्ण करनेवाला है और भगवद्गीता मे मुझे जो शाति मिलती है वह तो मै बाइबिल के गिरिप्रवचन मे भी नही पाता।"

प्राणी-मात्र एक है, सभी जीव ईश्वर के अवतस है—हिंदू धर्म के इस प्रचलित विश्वास ने ही अहिसा मे गाधीजी की आस्था को दृढ किया। लेकिन हिंदुओ के किसी अन्धविश्वास और किसी मिथ्या रूढि का उन्होने कभी समर्थन नही किया। वह हर धर्म की हर बात को तर्क की कसौटी पर परखा करते थे। अमानवीय और अन्यायपूर्ण प्रथाओ के समर्थन मे धर्म-ग्रथो के किसी प्रमाण को उन्होने कभी सच नही माना—ऐसी सभी प्रथाओ का वह सदा विरोध ही करते रहे। स्त्रियो की स्वाधीनता और अधिकारो का निषेध करनेवाली मनुस्मृति की व्यवस्था को गाधीजी क्षेपक—बाद मे

---

१ नटेसन महात्मा गाधी के लेख और भाषण (अग्रेजी), मद्रास (चतुर्थ सस्करण), पृष्ठ १०६१

जोडी हुई मानते थे, या यह कि मनु के युग मे नारियो को अपना उचित पद मिल नही पाया था। वेद की ऋचाओ का हवाला देकर अस्पृश्यता का समर्थन करनेवालो को वह सदा फटकारते रहे। उनके हिंदू धर्म का मूल तत्त्व था सत्य-स्वरूप ईश्वर की परम सत्ता मे अडिग आस्था, जीव-मात्र के साथ एकत्व का बोध और ईश्वर-साक्षात्कार के लिए प्रेम अर्थात् अहिंसा के मार्ग का अवलबन। ऐसी दृढ नीव पर आधारित धर्म मे सकीर्णता अथवा अन्यान्य मतो के बहिष्कार की भावना हो ही कैसे सकती है ? गाधीजी की दृष्टि मे हिंदू धर्म की यही तो खूबी है कि "इसमे ससार के सभी पैग-बरो की पूजा के लिए स्थान है। यह ईसाई मिशनरियो के जैसा प्रचार-वाला धर्म नही है हिंदू धर्म तो अपने-अपने विश्वास या मजहब के अनुसार ईश्वर की पूजा का सबको अधिकार देता है, इसीलिए उसका किसी भी धर्म से कोई विरोध नही है।" लोगो को ईसाई बनाने के लिए 'अधार्मिक हथकडे' अपनानेवाले मिशनरियो की वह भर्त्सना करते थे। उनका कहना था कि पूजा-पाठ और भजन-कीर्तन किसीको सच्चा ईसाई, सच्चा मुसल-मान और सच्चा हिंदू नही बनाते, धर्म की सच्ची पहचान है जीवन मे उसका आचरण। ईसाई धर्म-प्रचारको की 'आत्मा के उद्धार' की बातो को वह उनकी दुराग्रहपूर्ण हठवादिता कहते थे। आसाम के नागा आदिवासियो के बारे मे उनका कहना था—"मेरे पास अपनी नग्नता के सिवा और है ही क्या, जिसे लेकर उनके पास जाऊ। मेरे लिए उचित यही है कि उन्हे अपनी प्रार्थना मे बुलाने के बदले खुद उनकी प्रार्थना मे शरीक होऊ।"

सब धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन, धर्म-ग्रथो के मनन और धर्माचार्यो से वार्तालाप एव पत्र-व्यवहार करके गाधीजी अन्त मे इस निर्णय पर पहुचे थे कि सच्चे धर्म का वास्तविक सबध हृदय से है, न कि बुद्धि से, और धर्म पर सच्ची आस्था का मतलब है उसका अक्षरश आचरण। जिन लोगो के निकट धर्म पारस्परिक प्रेम और सहिष्णुता का नही घृणा का पर्याय बन गया है वे गाधीजी की धार्मिकता को कभी समझ नही सके और न समझ सकेगे। उनके जीवन-काल मे किसीने उन्हे सनातनी कहा तो किसीने आर्य समाजी और कइयो ने धर्म-भ्रष्ट, किसीने बौद्ध, तो किसीने थियोसा-फिस्ट और किसीने ईसाई तो किसीने 'क्रिश्चियन मुसलमान।' वास्तव मे

देखा जाय तो वह सभी कुछ थे और शायद इन सबमे कुछ अधिक भी थे। उन्हे विभिन्न धार्मिक सिद्धातो मे एक अतर्निहित एकता दिखाई देती थी। एक बार किसीने उन्हे ईसा के दामन मे आकर अपनी आत्मा की रक्षा करने की सलाह दी तो उन्होने जवाब दिया था, "ईश्वर किसी तिजौरी मे बन्द नही है कि उसके पास केवल एक छोटे-से छेद के जरिए ही पहुचा जा सके। यदि हृदय पवित्र और मन अहकार से शून्य है तो उसके पास पहुचने के अरबो रास्ते खुले हुए है।"[1]

: ६ :
विचारो मे गंभीर परिवर्तन

"अपनी और अपने परिवार की ही हितचिता करना और हर प्रकार की आपत्ति-विपत्ति से बचते रहना" यह था उन्हीके अपने शब्दो मे 'मत-परिवर्तन' से पहले टाल्स्टाय का जीवन-दर्शन। परिवर्तन तो आगे चलकर गाधीजी के विचारो मे भी हुआ, लेकिन उससे पहले भी कभी उन्होने अपने-आपको अपनी और अपने परिवार की हितचिता तक ही सीमित नही रखा। डरबन और जोहान्सबर्ग मे भी उनके घर के दरवाजे सदैव सबके लिए खुले रहते थे। अपने सहायको और क्लर्कों को उन्होने हमेशा अपने साथ और परिवार के सदस्यो की ही तरह रखा। इसके अलावा रोज घर मे कोई-न-कोई भारतीय या यूरोपियन मेहमान भी अक्सर बना रहता था। लेकिन गाधीजी के घर मे कभी किसीके साथ भेद-भाव नही बरता गया। परायो, और मेहमानो की यह भीड-भाड कस्तूरबा के लिए अक्सर कष्टदायी हो जाया करती थी। अपनी 'आत्मकथा' मे गाधीजी ने कुछ विस्तार से उस प्रसग का वर्णन किया है, जब कस्तूरबा ने पचम (अछूत) जाति के एक मदरासी ईसाई क्लर्क का पेशाब का बरतन उठाने से इनकार कर दिया

[1] महादेवभाई की डायरी (अग्रेजी सस्करण), खड १, ४ सितम्बर, १९३२ का उल्लेख।

था। गाधीजी का आग्रह था कि यह काम कस्तूरबा को करना चाहिए और प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए, अन्यथा वह घर से निकल जाय। अपने क्रोध और नैतिक जोश मे उस समय गाधीजी को इस बात का खयाल भी नही रहा कि उनका ऐसा आग्रह कस्तूरबा के लिए कितना कष्टदायी हो सकता है। कई वर्षो बाद उन्होने स्वीकार किया कि वह उस समय 'जानलेवा प्रेमी पति' थे।

बाद मे गाधीजी ने जिन्हे 'सुख-चैन' के दिन कहा, उन दिनो भी धन कमाना कभी उनका लक्ष्य नही रहा। एक होनहार बैरिस्टर के नाते वह वकालत मे यशस्वी होना और परिवार की आर्थिक सहायता करना तो अवश्य चाहते थे, लेकिन अनीति को अपनाकर आमदनी बढाने को ज़रा भी तैयार नही थे। जब उनसे कहा गया कि तीन-चार हज़ार महीना कमानेवाले नामी-गिरामी वकील भी मुकदमे पाने के लिए दलाली देते हैं, तो उन्होने जवाब दिया था, "मुझे कहा उनकी बराबरी करना है! मुझे तो हर महीने तीनसौ रुपये मिल जाय तो बहुत है। पिताजी को इससे अधिक कहा मिलते थे?" शुरू-शुरू मे तो उनकी यह हालत हुई कि बबई के एक स्कूल मे पचहत्तर रुपये महीने पर घटा-भर पढाने के लिए तैयार हो गये थे। उनकी बैरिस्टरी का सितारा तो दक्षिण अफ्रीका मे जाने पर ही चमका। १८९४ मे वह वहा सिर्फ तीनसौ पौड के वर्षासन मे रहने को राजी हुए थे, लेकिन धीरे-धीरे उनकी आय बढती गई और वार्षिक पाच हजार पौड हो गई। यह सच है कि उनके सार्वजनिक और राजनैतिक कार्यो ने उनकी वकालत को जमाने और बढाने मे काफी मदद की, लेकिन साथ ही इन कामो मे उनका बहुत-सा समय भी लग जाता था। फिर वह सब मुकदमे लेते भी नही थे। यदि मुवक्किल का पक्ष सच्चा न होता तो वह उसका मुकदमा लडने से साफ इनकार कर देते थे। यहातक कि विचाराधीन मुकदमे मे भी अगर उन्हे यह पता चल जाता कि मुवक्किल ने असलियत को छिपाकर झूठी बात बताई है तो वह भरी अदालत मे उस मुकदमे से अपना हाथ खीच लेते थे। बचपन की मामूली-सी चोरी का अपना पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त-स्वरूप सच्चे मन से उसे स्वीकार करने पर पिताजी की उदार क्षमाशीलता की छाप गाधीजी के हृदय पर अमिट रूप से अकित हो गई

थी और उनका दृढ विश्वास हो गया था कि हर गलती को मान लेना और उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए। पारसी रुस्तमजी डरबन के प्रसिद्ध अमीर व्यापारी और गाधीजी के घनिष्ठ मित्र थे। एक बार वह चुगी-चोरी के मामले मे फस गये और गाधीजी से सलाह लेने के लिए आये। बचाव के कागज-पत्र तैयार करने के बदले गाधीजी ने उन्हे चुगी-चोरी ही नही अपनी दूसरी सारी चोरियो को स्वीकार कर जुर्माने की रकमसहित पूरा कर स्वेच्छा से चुकाने की सलाह दी। इतना ही नहीं, गाधीजी के अनुरोध पर रुस्तमजी ने प्रायश्चित्त स्वरूप चुगी-चोरी की कहानी लिखकर शीशे मे मढवा ली और अपने दफ्तर मे टगवा दी, जिससे उनके वारिसो को शिक्षा मिलती रहे।

गाधीजी से अधिक योग्य और धनी वकीलो की उनके समकालीनो मे कमी नही थी, लेकिन वकालत मे उनके जैसी मानवीय उदारता शायद ही किसीमे होगी। मेहनताना मार जानेवाले मुवक्किलो को उन्होने वसूली के लिए कभी अदालत मे नही घसीटा, आदमी को परखने मे अपनी भूल को ही वह इस तरह के नुकसान के लिए जिम्मेवार समझते थे। एक बार अपने किसी साथी वकील की इस शिकायत का कि मुवक्किल रविवार के दिन भी चैन नही लेने देते, गाधीजी ने यह जवाब दिया था, "दु खियो के लिए तो रविवार को भी चैन नही हुआ करता।"

गाधीजी उन दिनो डरबन की अदालत मे वकालत करते थे। एक दिन वह कमीज पर जो कालर लगाकर गये उसमे से माडी झड रही थी। वकीलो को उनकी हँसी उडाने का अच्छा मसाला मिल गया। वह कालर किसी धोबी की लापरवा धुलाई का नतीजा नही था। असल मे गाधीजी ने पहली बार खुद अपने हाथो कपडे धोये थे और वह कालर उन्हीकी धुलाई-कला का पहला नमूना था। इसी तरह एक बार उनके बेतरतीब कटे-छटे बालो को देखकर उनके साथी वकील हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये थे। तब गाधीजी ने उन्हे बताया कि गोरे नाई ने बाल काटने से इनकार कर दिया, इसलिए स्वय उन्हे अपने हाथो बाल काटने पडे है। सादगी, स्वावलबन और सेवा की दिशा मे धुलाई और हज्जामगिरी ही नही, उन्होने कपाउडरी भी सीखी। एक धर्मादा अस्पताल मे बाकायदा कपाउडरी सीख-

कर वह दक्षिणी अफ्रीका के सबसे गरीब भारतीय गिरमिटिया मजदूरो की सेवा करने लगे। इतना ही नही, किताबो से उन्होने दाई और प्रसव का काम भी सीखा और अपने अतिम बच्चे के जन्म के समय प्रसव-सबधी सारे काम खुद ही किये। नाई, धोबी, कपाउडर और दाई के अलावा वह स्कूल-मास्टर भी थे। गोरो के लिए खुले हुए स्कूलो मे यद्यपि वह अपने बच्चो को भेज सकते थे, लेकिन दूसरे भारतीय बच्चे वहा पढ नही सकते थे। जो अधिकार सब भारतीय बच्चो को नही उसका अकेले अपने बच्चो के लिए उपयोग करना गाधीजी को उचित नही लगा। वह अपने बच्चो को खुद पढाने लगे। जोहान्सबर्ग मे घर से दफ्तर आने-जाने मे जो दस मील का फासला होता था, उसमे गाधीजी बच्चो को साथ ले लेते और पैदल चलते हुए बात-चीत मे जो-कुछ सिखाया-पढाया जा सकता था, उन्हे सिखाते-पढाते। लेकिन यह क्रम भी रोज निभ नही पाता था। जिस दिन कोई मुवक्किल या कोई सहकर्मी साथ हो लेता उस दिन पढाई की छुट्टी हो जाती थी। बच्चो की मा इस तरह की पढाई का बराबर विरोध करती, लेकिन गाधीजी अपने बच्चो को गोरो के स्कूल मे भेजने को राजी ही न थे।

१९०४ मे तो सादगी की यह धुन अपनी पराकाष्ठा को पहुच गई। उस वर्ष एक दिन शाम को गाधीजी जोहान्सबर्ग से डरबन जाने के लिए रेल मे सवार हुए तो उनके पत्रकार मित्र मि० पोलक ने रस्किन की एक किताब 'अटु दिस लास्ट'[1] उन्हे पढने के लिए दी। गाधीजी ने किताब शुरू की तो उसमे ऐसा मन रमा कि सारी रात बैठे पढते रहे और उसे समाप्त करके ही छोडा। इस पुस्तक मे रस्किन ने परपरागत अर्थशास्त्रियो को इसलिए आडे हाथो लिया है कि वे कभी मानव-कल्याण की दृष्टि से अर्थशास्त्र पर विचार नही करते और औद्योगीकरण की इसलिए बुराई की है कि वह अपने साथ गरीबी और सामाजिक अन्याय को लाता और पनपाता है। रस्किन के इन और ऐसे ही दूसरे विचारो ने गाधीजी के मन मे गहरी उथल-पुथल मचा दी और उनके सारे दृष्टिकोण को ही बदल दिया। खास

---

[1] इसका हिंदी अनुवाद 'सर्वोदय' के नाम से 'सस्ता साहित्य मडल' से प्रकाशित हुआ है। गाधीजी ने स्वय इसका अनुवाद गुजराती में 'सर्वोदय' के ही नाम से किया था।

तौर पर रस्किन ने अपनी इस पुस्तक मे शारीरिक श्रम की महत्तावाले सादे जीवन का जो आदर्श पेश किया था। उससे गाधीजी बहुत ही प्रभावित हुए। इस पुस्तक के बारे मे वह अपनी आत्मकथा मे लिखते ह, "जो चीज मुझमे गहराई से भरी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैने रस्किन के इस ग्रथरत्न मे देखा।"

दूसरे दिन शाम को जब रेलगाडी डरबन पहुची तो गाधीजी रस्किन के विचारो को अमल मे लाने का इरादा पक्का कर चुके थे। डरबन मे 'इडियन ओपिनियन' प्रेस के गोरे प्रबधक और अपने मित्र मि० एलबर्ट वेस्ट के साथ गाधीजी ने प्रेस को एक खेत पर ले जाने की योजना बनाई, जिससे प्रेस और पत्र से सबधित सारे लोग सही अर्थों मे पसीने की कमाई पर जीवन-यापन कर सकें। गन्ने के खेतो के बीच सौ एकड जमीन का एक टुकडा एक हजार पौंड मे खरीदा गया। उसमे नन्हा-सा पानी का झरना था, फलो के कई पेड थे और सापो का घोर उपद्रव भी था। वह जमीन फिनिक्स स्टेशन से ढाई मील और डरबन से तेरह मील के फासले पर थी। इस सस्था के पहले निवासियो मे सर्वश्री पोलक और वेस्ट के अति-रिक्त गाधीजी के कुछ चचेरे भाई और भतीजे भी थे, जो उन्हीके साथ भारत से दक्षिण अफ्रीका आये थे। प्रेस के लिए पचहत्तर फुट लबा और पचास फुट चौडा एक छप्परनुमा हाल बनाया गया और सस्था-वासियो के रहने के लिए नालीदार चद्दरो की दीवारो और छतोवाले आठेक मकान, बल्कि कहना चाहिए कि कमरे खडे कर लिये गए।

अब 'इडियन ओपिनियन' फिनिक्स से निकलने लगा। पत्र की छपाई और ग्राहको को भेजे जानेवाले दिन उस बस्ती मे काम की धूम मची रहती। गाधीजी और मि० पोलक प्रूफ जाचने का काम करते थे, प्रिटर मशीन पर छपाई करते और बच्चे छपे पन्नो की भजाई और एक-एक अखबार को लपेटने के काम मे जुट जाते थे।

गाधीजी की कुटिया फिनिक्स बस्ती के सामूहिक जीवन की धुरी थी। हर रविवार को सारे सस्थावासी उनके कमरे मे प्रार्थना के लिए इकट्ठा होते। गीता और बाइबिल का पारायण होता, ईसाइयो के प्रार्थना गीत और गुजराती भजन गाये जाते और थोडी देर के लिए लोग-बाग

वर्ण और जाति के भेद-भावो को भुलाकर इस धरती से परे किसी ऊचे धरातल पर पहुच जाया करते थे। गाधीजी के लिए तो यह शहर के भीड-भडक्के, लोभ-लालच और नफरत से दूर मनचाहा शात और एकात स्थान था। यहा वह अपने-जैसे विचारवालो के साथ मिल-जुलकर शारीरिक परिश्रम करते हुए अपनी आत्मिक उन्नति के उपायो पर मजे से चितन-मनन कर सकते थे।

लेकिन गाधीजी के लिए फिनिक्स मे रहने का सुख-सतोष अधिक दिन बदा नही था। उनके जिम्मे सार्वजनिक और वकालत के दोनो ही काम इतने अधिक थे कि जोहान्सबर्ग लौटना जरूरी हो गया। जोहान्सबर्ग मे गाधीजी के घर और उसके निवासियो का श्रीमती मिली ग्राहम पोलक ने अपनी पुस्तक 'गाधी दि मैन'[१] मे काफी विचार से और रोचक वर्णन किया है। ये गोरी महिला मिस्टर पोलक की धर्मपत्नी थी और उन दिनो दोनो पति-पत्नी गाधीजी के साथ ही उनके घर मे रहते थे। वह घर सामुदायिक जीवन का एक छोटा-सा नमूना ही था। उदारमना गाधीजी उस परिवार के कर्त्ता अथवा कुलपति थे। परिवार के सभी सदस्यो की सुख-सुविधा का खयाल रखने के अलावा और कोई विशेषाधिकार उन्होने अपने लिए माना नही था। वह हमेशा खुश रहते और दूसरो को खुश रखते थे। प्रतिदिन सवेरे घर के बच्चे हाथचक्की से आटा पीसने मे अपने माता-पिता का हाथ बटाते और उनकी प्रसन्न किलकारियो और कहकहो से घर गूज जाया करता था। शाम को भोजन का समय तो और भी आनददायी होता। हँसी-मजाक और साधारण बातचीत के बीच गभीर चर्चा भी चलती रहती और कस्तूरबा के अल्प अग्रेजी ज्ञान से लोगो का मनोरजन हो जाता था। भोजन के बाद गाधीजी धर्म और दर्शन के गूढ तत्त्वो पर प्रवचन करते और गीता पढकर सुनाते थे।

गाधीजी का उस काल का बडा ही भावपूर्ण व्यक्ति-चित्रण उनके पहले जीवनी लेखक, जोहान्सबर्ग के बैप्टिस्ट मतावलबी पादरी, जोसेफ जे० डोक

---

१ 'मानव गाधी'

ने अपनी पुस्तक 'एम० के० गाधी'[1] मे किया है। वह गाधीजी से पहले-पहल दिसबर १९०७ मे मिले थे, और लिखते हैं—

" अपने सामने एक छोटे, दुवले-पतले पर फुर्तीले आदमी को देखकर मुझे वडा आश्चर्य हुआ। चेहरे मे वह सुसस्कृत लगता था और मेरी ओर उत्सुकता से देख रहा था। उसकी त्वचा का रग काला था और आखे भी काली थी, लेकिन उसके चेहरे को आलोकित करनेवाली वह मुस्करा-हट और उसकी वह सीधी निर्भय दृष्टि सामनेवाले के दिल को वरवस ही जीते ले रही थी। उसकी उम्र के वारे मे मेरा अदाज विलकुल सही निकला। वह ठीक अडतीस वरस का था। लेकिन काम के अतिशय वोझ और चिताओ के कारण सिर के वाल यहा-वहा से सफेद होने लग गये थे। वह वहुत वढिया अग्रेजी वोल रहा था और कुल मिलाकर वडा ही शालीन और सभ्य व्यक्ति मालूम पडता था।

"उस भारतीय नेता की ओर जिस वात ने मुझे तत्काल आकर्षित किया वह थी उसके आत्मविश्वास की दृढता, हृदय की महानता और उसकी पारदर्शी निश्छलता। हम लोग पहली ही भेट मे मित्र वन गये

"हमारे इस भारतीय मित्र का आध्यात्मिक और वैचारिक धरातल सामान्य लोगो से वहुत ऊचा है, और दुनियादारी तो जैसे इसे छू भी नही गई है। इसलिए इसके कामो को अक्सर गलत समझा और सनक करार दिया जाता है। जो इससे परिचित नही उन्हे इसके हर काम मे कोई-न-कोई वुरा हेतु अथवा यो कहे कि 'पूरववासियो की मक्कारी' छिपी नजर आती है। लेकिन जो जानते है वे तो इसके आगे शर्म से पानी-पानी हो जाते हैं।

"जहातक मैं जान सका हू, रुपये-पैसे का इसे जरा भी लोभ नही है। इस वात को लेकर इसके देशवासी इससे वहुत असतुष्ट है और उनकी शिकायत है कि यह कुछ भी नही लेता। उनका कहना है कि अपने प्रति-निधि के रूप मे इग्लैड जाने के लिए हमने इसे जो पैसा दिया था उसे यह विना खर्च किये ही लौटा लाया, नेटाल मे हमने इसे भेट मे जो वस्तुए दी थी, उन्हे इसने हमारे सार्वजनिक कोष मे जमा कर दिया। इसे गरीवी पसद है और यह गरीव ही रहना चाहता है।

[1] डोक, जोसेफ जे०, 'एम० के० गाधी', मदरास, पृष्ठ ६-८।

"उन लोगो को इसकी अद्‌भुत नि स्वार्थता पर आश्चर्य होता है, गुस्सा आता है और साथ ही वे इसे प्यार भी करते है—वह प्यार जो इसपर उनके विश्वास और गर्व का द्योतक है। यह उन असाधारण व्यक्तियो मे से हैं, जिनके सत्सग से ज्ञान की वृद्धि होती है और परिचय से जिनके प्रति प्रेम और भक्ति प्रस्फुटित होती है।"

: १० :

सत्याग्रह की खोज

जैसा कि सर एलन बर्न्स[1] ने कहा है, दक्षिण अफ्रीका की घरेलू नीति का ह्रास होते-होते वह उस 'गरीब गोरे' की हिमायत-भर रह गई, जो रगीन जातियो को अपमानित और अपदस्थ करनेवाली शासन-प्रणाली की ही उपज है। सस्कृतियो के अन्तर और रहन-सहन के तरीको के बे-मेल होने की बडी-बडी बाते तो सिर्फ ऊपरी दिखावा है, असली कारण तो रहा है गोरो और कालो की आर्थिक प्रतिद्वद्विता। १९१९ के भारतीय सुधारो मे दोअमली शासन-पद्धति (डायर्की) की खोज और प्रचार करनेवालो मे प्रमुख लायनल कर्टिस १९०३ मे ट्रासवाल मे अधिकारी था। गाधीजी के साथ अपने एक वार्तालाप के बारे मे उसका कहना है—

"उन्होंने (गाधीजी) मुझे अपने देशवासियो की अच्छाइया—मेहनती स्वभाव, किफायतशारी, सहनशीलता आदि बताना शुरू किया। मुझे याद है कि उनकी बात सुन लेने के बाद मैंने कहा था, 'मि० गाधी, आप नाहक जागे हुए को जगाने की कोशिश कर रहे है। इस देश के गोरो को भारतीयो के दुर्गुणो से जरा भी डर नहीं लगता, हमे असली डर तो आप लोगो की अच्छाइयो मे है।"[2]

---

१ बर्न्स, सर एलन 'कलर प्रेजूडिस' (वर्ण विद्वेष), लदन, १९४८, पृष्ठ ७३

२ एस० राधाकृष्णन द्वारा सपादित महात्मा गाधी के जीवन और कृतित्व पर निबध (महात्मा गाधी एसेज एण्ड रिफ्लेक्शन्स आन हिज लाइफ एण्ड वर्क), लदन, १९३९, पृष्ठ ६७।

नेटाल के जिन गोरो ने अपनी खानो और गन्ने के खेतो मे काम करने के लिए खुद होकर हजारो गिरमिटिया मजदूरो को भारत से बुलवाया था, अब वे ही किसानो और व्यापारियो के रूप मे एक भी स्वतत्र भारतीय को अपने बीच मे रहने देना नही चाहते थे। उधर बोअर-युद्ध के बाद ट्रासवाल के गोरो ने अपने यहा "एशियावासियो के अतिक्रमण" का हौआ खडा कर रखा था। लेकिन वह कितना निस्सार था, इसका पता उस समिति के प्रतिवेदन से चल गया, जिसे ब्रिटिश उच्चायुक्त ने १९०५ मे ट्रासवाल मे भारतीयो के चोरी-छुपे आ बसने के आरोप की सत्यता का पता लगाने के लिए नियुक्त किया था। वास्तविक स्थिति यह थी कि बोअर-युद्ध शुरु होने पर जो बहुत-से भारतीय परिवार ट्रासवाल मे चले गए थे, युद्ध की समाप्ति पर उनके लौट जाने के बाद भी, १९०३ मे, वहा के भारतीयो की कुल सख्या १८९९ से कम ही थी।

गोरो के इस निराधार भय को कि प्रवासी भारतीय काफी बडी तादाद मे दक्षिण अफ्रीका मे बसने के लिए घुसे चले आ रहे है, बहुत बढा-चढाकर पेश किया जाता था। यद्यपि गोरो का यह भय निरर्थक था, पर गाधीजी उनकी भावनाओ को समझते थे, और इसलिए उनके सदेह को निर्मूल करने के लिए भारतीय मजदूरो की आमद पर पूरी रोक लगाने तक पर राजी थे। उनका कहना था कि नये गिरमिटिया मजदूरो को भले ही न आने दिया जाय, लेकिन पढे-लिखे भारतीयो का सीमित सख्या मे आना न रोका जाय, क्योकि भारतीय व्यापारियो को क्लर्की और मुनीमी के कामो मे ऐसे लोगो की आवश्यकता थी। दूसरे मामलो मे भी गाधीजी भारतीयो और गोरो के बीच इसी तरह आधेआध पर समझौता चाहते थे। उनका कहना था कि भारतीयो के लिए लाइसेन्स लेकर व्यापार करने का नियम भले ही रहे और स्थानीय शासन ही लाइसेन्स दे, परन्तु इस काम पर देख-रेख उच्च न्यायालय की हो। जमीन की मिल्कियत और रहने की जगह के अधिकार के बारे मे भारतीय स्थानीय और स्वायत्त शासन के नियमो को मानने को तैयार है, लेकिन वे नियम भारतीयो पर ही नही, गोरो पर भी, मतलब यह कि दोनो पर समान रूप से, लागू होने

चाहिए। गाधीजी ने भारतीयो के लिए मताधिकार की माग नही की। दक्षिण अफ्रीका-स्थित ब्रिटिश उच्चायुक्त से उन्होने कहा था, "हमे (भारतीयो को) राजनैतिक सत्ता नही चाहिए। हम केवल इतना ही चाहते है कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य प्रजाओ के साथ शाति और मेल-मिलाप से तथा इज्जत और आत्म-सम्मानपूर्वक हमे रहने दिया जाय।" लेकिन दक्षिण अफ्रीका के गोरे यही तो नही चाहते थे। जैसाकि जनरल स्मट्स ने बाद मे अपनी एक घोषणा मे कहा था कि सरकार ने फैसला कर लिया है कि "कितनी ही कठिनाइया क्यो न आये इसे गोरो का मुल्क बनाकर रहेगे, और इस मामले मे अपने इरादे से रचमात्र भी नही डिगेगे।'

लेकिन गाधीजी की समझौते की, 'जीओ और जीने दो' की यह नीति ज्यादा समय चलने न पाई। ट्रासवाल मे भारतीयो के पजीकरण के प्रश्न को लेकर स्थिति ने एकदम विकट रूप धारण कर लिया। वहा अभी तक परवानो पर दस्तखत लेने और जो दस्तखत न कर सके उनके अगूठे लगवाने का नियम था। बाद मे फोटू लेने और नये परवाने निकलवाने की बात और जोड दी गई। जब गाधीजी 'जूलू-बलवे' मे साम्राज्य के एक नागरिक की हैसियत से अपना कर्त्तव्य पूरा करके लौटे तो उन्होने पाया कि भारतीयो के पजीकरण का तरीका बहुत ही अपमानजनक और सतानेवाला कर दिया गया है। ट्रासवाल की धारा-सभा मे पेश किये जानेवाले भारतीय पजीकरण विधेयक का मसविदा २२ अगस्त, १९०६ के 'ट्रासवाल गजट' मे जब उन्होने पढा तो सन्न ही रह गये। ट्रासवाल मे रहनेवाले हर भारतीय पुरुष, स्त्री और आठ बरस या इससे ऊपर की उम्र के बच्चो के लिए पजीकरण करवाना और परवाना लेना आवश्यक कर दिया गया था। हर प्रार्थी को अपनी सारी अगुलियो और अगूठे के निशान देना जरूरी था। छोटे बच्चो की अगुलियो के निशान देने की जिम्मेवारी उनके माता-पिता पर डाली गई थी, अगर मा-बाप ने इस जिम्मेवारी को पूरा न किया हो तो सोलह बरस का होने पर बच्चे को स्वय यह फर्ज अदा करना चाहिए, नही तो उसे जुर्माने, जेल या देशनिकाले तक की सजा दी जा सकती थी। किसी भी भारतीय से अदालत मे, माल-दफ्तर मे, बल्कि कही भी और किसी भी समय, यहातक कि राह चलते हुए भी परवाना

दिखलाने के लिए कहा जा सकता था। परवाने की जाच के लिए पुलिस-अफसर भारतीयो के घरो मे भी घुस सकते थे। इस परवाने के कानून का नामकरण 'कुत्ते के गले का पट्टा' (डाग्स् कालर) ठीक ही किया गया था। इस अपमानजनक सख्ती का कारण बताया गया था ट्रान्सवाल मे भारतीयो की बेतहाशा गैर-कानूनी आमद को रोकना, जबकि बेतहाशा आमद नाम की कोई चीज ही वहापर नही थी, क्योकि वहा प्रवेश सबधी कानून पहले ही काफी सख्त थे। १६०५ और १६०६ मे वहा की सरकार ने डेढ सौ भारतीयो पर अनधिकृत प्रवेश के मुकदमे चलाकर सभीको सजा भी दी थी। एक मामले मे तो गोरे मैजिस्ट्रेट ने बेचारी भारतीय पत्नी को उसके पति से जुदा कर सात घटे के अदर देश मे निकल जाने की सजा सुनाई थी, और एक दूसरे मामले मे ग्यारह बरस के बच्चे पर तीस पौड जुरमाने या तीन महीने की कैद की सजा ठोक दी गई थी।

सच पूछा जाय तो ट्रान्सवाल के पढे-लिखे और सपन्न भारतीयो को अपमानित करना और उनका वहा रहना मुश्किल कर देना ही इस नये कानून का असली मन्शा था। गाधीजी को यह समझते देर न लगी कि यदि यह विधेयक पारित होकर अधिनियम बन गया और भारतीयो ने इसे स्वीकार कर लिया तो 'इस देश मे उनकी हस्ती ही मिट जायगी।' उनकी राय मे इस कानून के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा भारतीयो का मर-मिटना ही बेहतर था। पर मरें कैसे? वे किस खतरे मे कूदे या कूदने का साहस करें कि उनके सामने विजय या मृत्यु इन दो के सिवा तीसरा रास्ता रह ही न जाय? गाधीजी के सामने ऐसी सगीन दीवार खडी होगई कि उन्हे कोई रास्ता ही नही सुझाई दिया।

इस प्रकार १६०६ की सर्दियो मे दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो का भविष्य पूरी तरह अधकारमय था। बोअर-युद्ध मे अग्रेजो की विजय ने भारतीयो की हालत मे कोई भी सुधार नही हुआ था। बोअरो के शासन-काल मे तो उनके हाथ-पाव यो ही बधे हुए थे। अब दक्षिण अफ्रीका के नये शासन मे साझेदारी थी, लेकिन सिर्फ अग्रेजो और बोअरो के बीच, भारतीयो की स्थिति तो पहले से भी हीन और विपन्न थी। नागरिक अधिकारो के लिए गाधीजी ने नेटाल और ट्रान्सवाल मे बारह बरस तक

जो कुछ किया था, उस सबपर पानी फिर गया था। दक्षिण अफ्रीका, भारत और इग्लैड के जनमत को जगाकर प्रवासी भारतीयो की स्थिति को सुधारने की उनकी सारी आशाए विफल हो गई थी। दक्षिण अफ्रीका मे वह अपने प्रचार-कार्य से सिर्फ मुट्ठी-भर यूरोपियनो, ईसाई पादरियो और आदर्शवादी नौजवान अग्रेजो को अनुकूल कर सके थे, प्रवासी भारतीयो के प्रश्न को राजनीति का नही अपनी और अपने बाल-बच्चो की मक्खन-रोटी का सवाल' समझनेवाले बहुसख्यक गोरो पर उनके प्रचार-कार्य का कोई भी उल्लेखनीय प्रभाव नही पडा था। भारत मे इस सवाल पर सभी-की काफी सहानुभूति थी, सभी विचारो के नेता इस प्रश्न पर एकमत थे, हर साल भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस अपने अधिवेशनो मे रग-भेद के विरोध मे प्रस्ताव पारित करती थी। लेकिन भारत के नेताओ की भी अपनी मज-बूरिया थी और उनकी सारी सहानुभूति केवल जबानी होकर रह गई थी। सर फीरोजशाह मेहता ने १९०१ मे कलकत्ता-काग्रेस-अधिवेशन मे जाते हुए गाधीजी से रेल मे ठीक ही कहा था, 'हमे ही अपने देश मे क्या अधि-कार है ? और जबतक यहा सत्ता हमारे हाथ मे नही आ जाती, मेरा विश्वास है कि उपनिवेशो मे तुम्हारी हालत सुधर नही सकती।"

इग्लैड मे गाधीजी को प्रवासी भारतीयो के अधिकारो के सघर्प मे अकेले लदन 'टाइम्स' का प्रबल समर्थन कभी-कभी जरूर मिल जाया करता था। वहा का उपनिवेश-मत्रालय तो हर समय दक्षिण अफ्रीका के गोरो की ठकुरसुहाती किया करता और उपनिवेशो के 'स्वराज्य-भोगी होने का राग' अलापने लगता, जिसका साफ मतलब यह होता था कि उपनिवेश अपने घरेलू मामलो मे मनचाहा करने को, ब्रिटिश साम्राज्य की भारतीय प्रजा को दमन की चक्की मे पीसने तक को स्वतत्र हैं।

ऐसी स्थिति मे दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो को पजीयन के काले कानून का विरोध अकेले अपने बल-बूते पर ही करना था। वहा की धारा सभा मे उनकी कोई आवाज़ नही थी—न मत देने का अधिकार था, न प्रतिनिधि भेजने का। ११ सितम्बर, १९०६ को जोहान्सबर्ग की एपायर नाटकशाला मे सभा की गई। 'सभा-भवन ठसाठस भरा हुआ

था।'[1] मुख्य प्रस्ताव गांधीजी ने ही तैयार किया था, जिसका आशय यह था कि प्रवासी भारतीय जनजीवन के काले कानून के आगे कभी सिर नही झुकायेंगे। जब एक वक्ता ने अपने भाषण मे कहा कि "मैं खुदा की कसम खाकर कहता हू कि हरगिज इस कानून के तावे न होऊगा" तो गांधीजी "चौंके और सावधान हो गये।" तत्काल इस प्रतिज्ञा के "परिणाम भी उनके सामने एक क्षण मे" आ गये और "घबराहट की जगह जोश पैदा हो गया।" गांधीजी प्रतिज्ञाओ के अनुभवी थे और उनके मीठे फल चख चुके थे। विलायत जाते समय उन्होने जो तीन प्रतिज्ञाए की थी उनका उनके जीवन-निर्माण मे काफी बडा हाथ था, और इधर कुछ ही दिन पहले सेवा-व्रत के लिए उन्होने परिवार और धन-सपत्ति से अपना नाता तोडने की प्रतिज्ञाए की थी। इसलिए परिणाम की चिता किये बगैर, ईश्वर की साक्षी मे, एक अनुचित और अन्यायपूर्ण कानून का विरोध करने की प्रतिज्ञा ने गांधीजी के सामने की उस सगीन दीवार को ढहा दिया, जो उनकी दृष्टि को बाधे हुए थी। उन्हे उतनी ही खुशी और राहत हुई जितनी किसी गणितशास्त्री को पेचीदा सवाल के एकाएक हल हो जाने पर होती है। लेकिन गांधीजी का हल अकस्मात् पाया हुआ हल नही था, वह तो जीवन-भर इसकी तैयारियो मे लगे रहे थे। बचपन मे ही सत्य उनके जीवन का प्रमुख मार्गदर्शक और अवलब रहा था और वह हर स्थिति मे सत्य पर आचरण और सत्य के प्रयोग करते थे। मनुष्य को दुर्बल बनानेवाले सभी रोगो, लगावो और निष्ठाओ को वह ठुकरा चुके थे। उस ऐतिहासिक अवसर पर उन्होने जिस साहस और विश्वास का परिचय दिया, वह आकस्मिक नही उनके जीवन मे दीर्घकालीन अनुशासन का ही परिणाम था। जोहान्सवर्ग की उस ठसाठसभरी एपायर नाटकशाला मे उपस्थित अपने देशवासियो को सबोधित करते हुए उन्होने बिलकुल ही निर्भय होकर कहा था, "मुझ-जैसो के लिए तो सिर्फ एक ही रास्ता होगा, मर मिटना, पर इस कानून के आगे सिर न झुकाना। ऐसा होने की कोई सभावना तो नही है, पर मान लीजिये कि सब गिर गये और मैं अकेला ही रह गया, तो भी मेरा विश्वास है कि

[1] 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', सस्ता साहित्य मडल, नई दिल्ली, १९५९, पृष्ठ १२९

प्रतिज्ञा का भग मुझसे हो ही नही सकता।"[1]

उन्होने श्रोताओ को यह भी बता दिया कि हो सकता है कि कानून का विरोध करनेवालो को जेल मे जाना पडे, भूख प्यास सहनी पडे, कोडे खाने पडे, जुर्माना हो और कुर्की मे माल-असबाव नीलाम हो जाय और प्राणो से भी हाथ धोना पडे। इसलिए उन्होने वहा उपस्थित सभीको अपना हृदय टटोलने के लिए कहा और सचेत कर दिया कि जिसमे अत तक डटे रहने की शक्ति न हो वे प्रतिज्ञा न करे। लेकिन अत मे सारी सभा ने "खडे होकर, हाथ उठाकर और ईश्वर को साक्षी करके प्रतिज्ञा की कि यह कानून (एशियावासियो के पजीयन का कानून) पास हो गया तो हम उसके आगे सिर न झुकायगे।" विरोध के इस आदोलन को कौन-सा नाम दिया जाय, यह गाधीजी ने उस समय नही बताया, शायद वह खुद भी नही जानते थे। हा, इसमे तो उन्हे कोई सदेह ही नही था कि आदोलन का रूप कोई भी क्यो न हो, वह होगा अहिंसक ही। उस समय तो वह इतना ही समझ पाये थे कि राजनैतिक और सामाजिक बुराइयो से लडने के लिए किसी नई वस्तु का जन्म हुआ है। शुरू मे उन्होने इसे 'पैसिव रेजिस्टेस' (निष्क्रिय प्रतिरोध) कहा, लेकिन इग्लैड की महिलाओ ने मताधिकार पाने की अपनी लडाई मे इसी नाम (पैसिव रेजिस्टेस) का उपयोग कर उग्र शब्दो और शारीरिक बल-प्रदर्शन, यहातक कि हिंसा का भी प्रयोग किया था, इसलिए गाधीजी को यह नाम उचित नही लगा और उन्होने इसे छोड दिया। फिर उपयुक्त नाम के लिए गाधीजी ने आदोलन के मुख-पत्र 'इडियन ओपिनियन' मे एक प्रतियोगिता आयोजित की। प्रवासी भारतीयो के शुभ सकल्प के रूप मे एक पाठक ने 'सदाग्रह'—सद् या शुभ आग्रह—शब्द सुझाया, जो गाधीजी को पसद आया। उन्होने इसे सुधारकर 'सत्याग्रह'—सत्य पर आग्रह—कर लिया। लेकिन इस आदोलन का पूरा शास्त्र—इसका सिद्धात और कार्य-पद्धति तो बाद मे कई बरसो मे जाकर धीरे-धीरे विकसित हुई, क्योकि सत्याग्रह-आदोलन के प्रणेता गाधीजी तो सिद्धात को कार्य का अनुचर माननेवालो मे थे।

---

[1] 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', सस्ता साहित्य मडल, १९५९, पृष्ठ १३५

यह नया सत्याग्रह आदोलन उनके विलक्षण जीवन-विकास के सर्वथा अनुरूप और उपयुक्त ही था। १६०८ मे सत्याग्रह की उत्पत्ति के वारे मे पूछे जाने पर गाधीजी ने जो कुछ वताया वह श्री डोक के शब्दो मे इस प्रकार से है—

"जहातक गाधीजी का सवध है वह तो इस सिद्धात (पैसिव रेजिस्टेंस) की उत्पत्ति और विकास का कारण कुछ और ही वतलाते हे। उनका कहना है, 'वचपन मे मदरसे मे सीखा हुआ नीति-विषयक एक छप्पय[1] मेरे मनपर हमेशा के लिए अकित हो गया। उसका सार हे कि पानी पिलानेवाले का बदले मे भोजन भी करा दिया तो वडा काम नही किया, वडी वात तो तव है जव बुराई का वदला भलाई से दिया जाय। छुटपन मे इस छप्पय का मुझपर वडा असर हुआ था, और मै इसकी सीख पर अमल करने की कोशिश भी करता रहा। उसके वाद दूसरा असर मुझपर 'गिरि-प्रवचन' का हुआ।"[1]

डोक के यह पूछे जाने पर कि असर के लिहाज से तो भगवद्गीता का नवर उससे पहले होना चाहिए, गाधीजी ने जवाव दिया, "नही, यह सच है कि मैं भगवद्गीता को सस्कृत मे भी समझ लेता हू, लेकिन इस सिद्धात को खोजने की दृष्टि से मैने उसका अध्ययन नही किया। 'पैसिव रेजिस्टस' के मामले मे मेरी आखे 'नये इकरार' ने ही खोली और उसीकी वदौलत इसकी सच्चाई और कीमत मेरी समझ मे आई। 'गिरि-प्रवचन' के 'दाये गाल पर तमाचा मारनेवाले के सामने वाया गाल भी कर दो' और 'अपने दुश्मनो को भी प्यार कर' और 'उनके लिए प्रार्थना कर, जिससे वे भी तेरे पिता परमेश्वर की सच्ची सतान वन सके' आदि अशो को जव मैंने पढा तो मुझे वहुत ही ज्यादा खुशी हुई। वाइविल मे मेरे मन के भावो की गूज सुनाई पडेगी, इसकी तो मुझे उम्मीद भी नही थी। 'गिरि प्रवचन' ने मेरे इन भावो की ताईद की, भगवद्गीता ने उन्हे गहरा किया और टालस्टाय की 'वैकुठ तुम्हारे हृदय मे' किताव ने उन्हे पक्का और कायमी रूप दिया।'[2]

---

१ श्यामल भट्ट का छप्पय, देखिये इस पुस्तक का अध्याय ८, पृष्ठ ५८—अनुवादक
२ डोक, जोसेफ जे०, 'एम० के० गाधी, पृष्ठ ८८

: ११
पहला सत्याग्रह-आंदोलन

प्रवासी भारतीयो ने एकराय होकर कडा विरोध किया, फिर भी ट्रासवाल की धारा-सभा ने एशियावासियो का पजीयन विधेयक (परवाने का काला कानून) पारित कर ही दिया। उसमे से सिर्फ स्त्रियो से सबध रखनेवाली दफा निकाल दी गई थी, बाकी विधेयक जिस रूप मे प्रकाशित किया गया था, लगभग उसी रूप मे पारित हुआ। उसपर बादशाह की मजूरी भी मिल गई और १ जुलाई, १९०७ से नये कानून के जारी होने की घोषणा कर दी गई।

भारतीयो की पुकार को अनसुना कर दिया गया था। काला कानून लादा जाने को था। उसका विरोध करने की जो प्रतिज्ञा की गई थी, अब गाधीजी को उसे पूरा कर दिखाना था। उन्होने आदोलन चलाने के लिए एक पॅसिव रेजिस्टेस सघ या सत्याग्रह मण्डल बनाया। १९०६ के सितबर महीने मे एपायर नाटकशाला की ऐतिहासिक सभा मे काले कानून का विरोध करने की प्रतिज्ञा वहा मौजूद सभी लोगो ने की थी, लेकिन अब कुछ लोग ढीले पड रहे थे। उन्हे अलग हो जाने का मौका देने के लिए गाधीजी ने फिर प्रतिज्ञा करवाई। जो 'इडियन ओपिनियन' बरसो से गाधीजी को घाटा देता चला आ रहा था, वह इस समय प्रवासी भारतीयो को राजनैतिक शिक्षा देने मे बडा काम आया। दक्षिण अफ्रीका मे इस साप्ताहिक पत्र ने वही काम किया, जो आगे चलकर 'नवजीवन' और हरिजन सेवक' ने भारत मे किया। 'इडियन ओपिनियन' को गाधीजी के सहकर्मी और साथी ही नही, उनके विरोधी भी पढते थे, क्योकि वह इसमे अपनी सारी योजनाए खोलकर रख दिया करते थे। इसकी लोकप्रियता का अदाज इसीसे लगाया जा सकता है कि इसकी ग्राहक-सख्या ३५०० थी। जिस देश मे पढनेवाले भारतीयो की सख्या बीस हजार से अधिक न हो और जहा अखबार को घर-घर पहुचाना पडे वहा के लिए यह ग्राहक-सख्या वास्तव मे बहुत बडी बात है।

सरकार ने खास-खास शहरो मे परवाना दफ्तर खोल दिये और हुक्म निकाल दिया कि ३१ जुलाई १९०७ तक ट्रासवाल मे रहनेवाले सभी हिन्दुस्तानियो को परवाने ले लेने चाहिए, नही तो कानून के अनुसार कारवाई कर कडी सजा दी जायगी। पैसिव रेजिस्टेंस सघ ने भारतीयो को परवाना-दफ्तरो का बहिष्कार करने का आदेश दिया। सब जगह पोस्टर लग गये, जिनके नारे थे—"राजेश्वर की भक्ति से भी बडी होती है परमेश्वर की भक्ति भारतीयो, आजाद हो जाओ!" गाधीजी ने बडी सावधानी से और काफी विस्तार मे सभी परवाना-दफ्तरो पर पिकेटिग की योजना बनाई थी। इस काम के लिए स्वयसेवक भर्ती किये गए, जिनमे १२ से १८ बरस की उम्र के नौजवान काफी सख्या मे थे और उन्हे परवाना दफ्तरो के बाहर तैनात कर दिया गया। उनका काम था परवाना लेने के लिए आनेवाले भारतीयो को विनम्रतापूर्वक समझा-बुझाकर लौटा देना। स्वयसेवको को कडी ताकीद कर दी गई थी कि वे किसीके भी साथ जबर्दस्ती न करे, गुस्सा न हो और किसीका दिल न दुखाये, जो परवाना लेने पर अड जाय उनके साथ तो भूलकर भी बुरा व्यवहार न हो और अगर पुलिस पकडे तो स्वयसेवक खुशी-खुशी गिरफ्तार हो जाये। आदोलनकारियो की ओर से तो जोर-जबर्दस्ती जरा भी न थी, लेकिन जनमत का दबाव और दूसरो की निगाह मे नक्कू बन जाने का डर ही काफी था। परवाना दफ्तरो मे सिर्फ रात मे घरो पर चोरी-चोरी परवाने लेने की भी कुछ घटनाए हुई, पर वैसे देखा जाय तो कुल मिलाकर बहिष्कार पूरा और असरकारक रहा। सरकार ने पजीयन की तिथि भी बढा दी, फिर भी ३० नवबर १९०७ तक केवल ५११ भारतीयो ने परवाने लिये थे।

२८ दिसबर १९०७ को गाधीजी और उनके २६ प्रमुख साथियो को जोहान्सबर्ग की अदालत का 'कारण बताओ' सम्मन मिला कि कानून के मातहत तुमने परवाने नही लिये, इसलिए तुम्हे ट्रासवाल से देशनिकाला क्यो न दिया जाय? मुकदमा चला और गाधीजी को दो महीने की सादी कैद की सजा दी गई। सरकार ने सोचा था कि आदोलन के नेता को गिरफ्तार कर लेने से लोगो का मनोबल टूट जायगा और वे घुटने टेक देगे, लेकिन यह उसकी बडी भूल थी। गाधीजी के पकडे जाते ही भारतीयो मे जेल जाने की

होड मच गई। जेल और सजा का डर ही किसीको नही रहा। आदोलन-कारियो ने जेल का नाम ही रख दिया बादशाह एडवर्ड का होटल। जोहान्स-बर्ग की जेल मे मुश्किल से पचास आदमियो को रखने की जगह थी और गिरफ्तार सत्याग्रहियो की सख्या हो गई १५५। सारे बदी जमीन पर सोते ओर उन्हे खाना जो दिया जाता था वह तो कुत्ते भी सूघकर छोड देते। लेकिन फिर भी उत्साह सभीमे अपार था। बदियो ने मशक्कत का काम मागा, पर लगभग सभीको सादी कैद की सजा मिली थी, इसलिए जेल-अधिकारियो ने किसीको कोई काम नही दिया।

गाधीजी अभी जेल मे व्यवस्थित नही हो पाये थे कि एक दिन उनके गोरे मित्र मि० अलबर्ट कार्टराइट उनसे जेल मे मिलने के लिए आये। मि० कार्टराइट जोहान्सबर्ग के अग्रेजी दैनिक 'ट्रासवाल लीडर' के सपादक और भारतीयो के पक्ष का समर्थन करनेवाले उदाराशय व्यक्ति थे। वह अपने साथ जनरल स्मट्स का बनाया हुआ समझौते का एक मसविदा भी लेते आये थे, जिसका आशय यह था यदि भारतीय जनता स्वेच्छा से परवाना ले ले तो सरकार पजीयन के काले कानून को रद्द कर देगी। उसके दो दिन बाद जन-रल स्मट्स ने कैदी की ही हालत मे ही गाधीजी को मिलने के लिए प्रिटोरिया के अपने दफ्तर मे बुला भेजा। जनरल ने भारतीयो के धीरज और दृढता की सराहना की, यह कहकर अपनी मजबूरी जाहिर की कि गोरे लोग इस तरह का कानून चाहते है और अत मे आश्वासन दिया कि अगर भारतीय स्वेच्छा से परवाने ले ले तो सरकार पजीयन कानून को रद्द कर देगी। इसपर गाधीजी ने कुछ सुझाव दिये, जिन्हे जनरल स्मट्स ने मजूर कर लिया। मुलाकात के अत मे गाधीजी ने पूछा, "अब मुझे कहा जाना है?" जनरल ने हँसकर जवाब दिया, "आप तो अभी से आजाद है। आपके साथियो को कल सवेरे छोडने के लिए टेलीफोन करता हू।"

उस वक्त शाम के कोई सात बजे होगे। गाधीजी के पास तो एक धेला भी न था। जनरल स्मट्स के सचिव से किराये के पैसे उधार लेकर वह स्टेशन दौडे गए। जोहान्सबर्ग को जानेवाली गाडी बस छूटने को ही थी। जोहान्सबर्ग पहुचने के तुरत ही बाद उन्होने जनरल स्मट्स के साथ हुए अनौपचारिक समझौने पर विचार करने के लिए भारतीयो की एक बैठक

बुलाई। उसमे गाधीजी की खूब आलोचना हुई। क्या वह सरकार के हाथ मे खेल नही रहे है ? हम स्वेच्छा से परवाना ले, उसके पहले ही परवाना कानून को रद्द क्यो नही कर देते ? अगर ट्रासवाल की सरकार अपनी बात से मुकर गई तो क्या होगा ? गाधीजी ने बडी शाति से लोगो को समझाया कि सत्याग्रही को तो अपने विरोधियो की बात पर भी भरोसा करना होता है, और अगर सरकार अपनी बात से मुकर ही गई तो हम फिर सत्याग्रह शुरू कर सकते है। इस सभा मे पश्चिमोत्तर प्रदेश के एक पठान ने उलटे-सीधे कई सवालो की झडी लगा दी और गाधीजी पर यहातक आरोप लगाया कि उन्होने कौम के साथ दगा की है और पन्द्रह हजार पौड लेकर उसे जनरल स्मट्स के हाथो बेच दिया है।

गाधीजी सार्वजनिक सभा मे यह घोषणा कर चुके थे कि जनरल स्मट्स के साथ किये गए समझौते के अनुसार वह स्वय स्वेच्छा से परवाना लेने के लिए जायगे। १० फरवरी, १९०८ को वह अपने घर से परवाना लेने दफ्तर की ओर चले। वॉन ब्राडिस स्ट्रीट मे पठान मीर आलम और उसके साथियो ने गाधीजी पर लाठियो से हमला कर दिया। वह 'हे राम !' कहते हुए बेहोश होकर गिर पडे। उस दिन अगर लाठियो के कुछ वार गाधीजी के साथियो ने अपने ऊपर न झेल लिये होते और राह चलते गोरो ने बीच-बचाव न किया होता तो गाधीजी के वही मर जाने मे कोई भी सन्देह नही था।

लहूलुहान गाधीजी को लोग-बाग पास की एक दुकान मे उठा ले गये। होश मे आते ही जो पहला सवाल उन्होने किया वह मीर आलम के बारे मे था। उन्होने तीमारदारी के लिए आये हुए अपने मित्र पादरी डोक से पूछा, "मीर आलम कहा है ?" उन्होने बताया, "वह दूसरे हमलावरो के साथ गिरफ्तार कर लिया गया है।" गाधीजी ने कहा, "उन्हे छोड देना चाहिए।" डोक ने जवाब दिया, "यह सब तो होता रहेगा, लेकिन आप यहा एक पराये दफ्तर मे पडे है, आपका होठ फट गया है और गाल से खून बह रहा है। पुलिस आपको अस्पताल ले जाना चाहती है, लेकिन आप मेरे यहा चले चलिये तो श्रीमती डोक और मैं आपकी जितनी सेवा हमसे हो सकती है करेगे।" गाधीजी ने अस्पताल के बदले पादरी डोक के यहा जाना ही पसन्द

किया।

स्मट्स के साथ किये गए समझौते को पूरा करने के लिए गाधीजी ने अपने जीवन को खतरे मे डाल दिया था। लेकिन उस धूर्त बोअर जनरल ने ऐसा विश्वासघात किया कि गाधीजी और समझौते के मध्यस्थ मि० अलबर्ट कार्टराइट भी दिग्मूढ रह गये। काले कानून को रद्द करना तो दूर रहा ट्रासवाल की सरकार ने अपनी मर्जी से लिये हुए परवाने को कानून के अनुकूल मान लिया और उसमे एक दफा ऐसी रख दी, जिससे परवाना लेनेवाले पर काला कानून लागू न हो। इसका साफ मतलब यह था कि नये आनेवाले हिन्दुस्तानियो पर काला कानून लागू रहे। गाधीजी ने इसके विरोध मे 'विश्वासघात' शीर्षक देकर 'इडियन ओपिनियन' मे लेख लिखे। दोस्तो ने उन्हे बुद्धू बन जाने का ताना भी मारा। गाधीजी ने जनरल स्मट्स को पत्र लिखकर उनसे और मि० अलबर्ट कार्टराइट से हुई अपनी बातचीत की याद दिलाई। लेकिन जनरल साहब साफ मुकर गये, ऐसा आश्वासन देने की बात उन्हे याद ही नही आ रही थी।

: १२ :

दूसरी बार सत्याग्रह

भारतीय बुरी तरह हारे थे। उन्होने 'कुत्ते के गले का पट्टा' राजी-खुशी अपने गले मे पहन लिया था, और जिस कानून को वे रद्द कराने के लिए लडे थे वह वैसा-का-वैसा बरकरार था। अपनी मर्जी से परवाना लेने के लिए भारतीयो ने जो दरख्वास्ते दी थी, सरकार ने उन्हे लौटाने से इनकार कर दिया था। इसपर गाधीजी ने घोषणा की कि भारतीय जनता अपनी मर्जी से किये गए परवानो की होली जलायेगी और उसके "नतीजो को विनय और दृढता के साथ सहन करेगी"।

१६०७ की सर्दियोवाले सत्याग्रह की रूपरेखा तो उस आन्दोलन ने आप ही तय कर दी थी। इस बार गाधीजी ने आदोलन चलाने के अपने ज्ञान और भारतीय जनता की अपनी बढी हुई जानकारी के आधार पर

दूसरे सत्याग्रह-आदोलन की योजना बनाई। ट्रासवाल के बहुत-से भारतीयो ने अपने ऐच्छिक परवानो को एक जगह इकट्ठा किया और उनकी होली जला दी। 'डेली मेल' के जोहान्सबर्ग-स्थित सवाददाता ने इस होली की तुलना 'बोस्टन की चाय पार्टी'[1] मे की थी। ट्रासवाल के भारतीयो का सघर्ष सम्भवत अमरीका के स्वाधीनता-सग्राम जितना ऐतिहासिक न हो, लेकिन ऐच्छिक परवानो की होली जलाना निस्सन्देह वीरतापूर्ण विरोध-कार्य था। गाधीजी की हार पर खुशी मनानेवाले जनरल स्मट्स के अब बेचैन होने की बारी थी। ऐच्छिक परवानो की होली का वह जलसा उस समय और भी शानदार हो उठा जब पठान मीर आलम ने, जो जेल से छूट आया था, अपना असल परवाना जलाने को दे दिया, ऐच्छिक परवाना तो उसने लिया ही नही था और बडे प्रेम से गाधीजी से हाथ मिलाया। उन्होने उसे यकीन दिलाया कि उनके मन मे उसके प्रति कभी कोई गुस्सा या द्वेष नही रहा।

इसी बीच ट्रासवाल की विधान-सभा ने 'इमिग्रैट्स रेस्ट्रिक्शन एक्ट' यानी नई बस्ती पर रोक लगानेवाला कानून और पास कर दिया। इसका असली मन्शा नये आनेवाले हिदुस्तानियो को ट्रासवाल मे दाखिल होने से रोकना था। गाधीजी ने तुरत सरकार को सूचित कर दिया कि इस नये हमले को भी सत्याग्रह मे शामिल किया जायगा। जनरल स्मट्स को गाधीजी पर नये-नये सवाल उठाने का आरोप लगाने का मौका मिल गया। उन्होने गाधीजी को यह कहकर बदनाम किया कि इस आदमी को अगुली थमाओ तो पहुचा पकडने लगता है और भारतीयो को ऐसे नेता से सावधान हो जाने के लिए भी कहा। जबकि सचाई यह थी कि गाधीजी सत्याग्रह के क्षेत्र के फैलाव को रोकने मे अपना पूरा जोर लगाये हुए थे, दूसरे उपनिवेशो के भारतीय निवासी तो ट्रासवाल के अपने भारतीय भाइयो की सहानुभूति मे आदोलन छेडने को तैयार बैठे थे, लेकिन गाधीजी बडी कठिनाई से उन्हे

---

[1] इग्लैड से चाय का जो पेटिया अमरीका भेजी गई थी, उन्हें अमरीकियों ने बोस्टन के बन्दरगाह में जल-समाधि देकर इग्लैड के अधीन न रहने के अपने निश्चय की घोषणा की थी। अमरीका के स्वाधीनता सग्राम की यह घटना इतिहास में 'बोस्टन की चाय-पार्टी' के नाम से प्रख्यात है। —अनुवादक

रोके हुए थे।

इस बार भी जेल जानेवालो की कमी नही थी। १६०८ के अगस्त महीने मे नेटाल के कुछ प्रमुख भारतीयो ने ट्रासवाल की सीमा को पार किया, वहा बसने का उनका पुराना अधिकार था, लेकिन वे बसने के लिए नही परवाना-कानून का विरोध करने के लिए सीमा पार करके आये थे। उन्हे गिरफ्तार कर जेल मे डाल दिया गया। ट्रासवाल मे जेल जाने का सबसे आसान तरीका था बगैर परवाने के फेरी करना। जिन फेरीवालो के पास परवाने थे उन्होने दिखाने से इनकार कर दिया और जेल जाने लगे। भारतीय व्यापारियो और बैरिस्टरो को यह तरकीब खूब पसन्द आई। सब-के-सब रातो रात फेरीवाले बन गये। बगैर परवानो के सब्जी की फेरी करने लगते और जेल पहुच जाते। लेकिन इस बार सरकार सब सत्याग्रहियो को कडी कैद की सजा दे रही थी। जेल मे सख्ती भी खूब की जाती थी। चौदह और सोलह बरस के बच्चो से पत्थर तुडवाये जाते, सडके झडवाई जाती और तालाब खुदवाये जाते। नागप्पा नाम का अट्ठारह बरस का एक नौजवान तो सर्दियो मे बडे सवेरे काम पर लगाये जाने के कारण डबल निमोनिया होकर जेल मे मर ही गया।

१६०८ के अक्तूबर महीने मे दुबारा जेल जाने पर गाधीजी को भी ये सारी सख्तिया झेलनी पडी। पहली रात तो उन्हे खतरनाक अपराधियो के साथ बितानी पडी, जो देखने-मात्र से 'डरवाने, हत्यारे, दुष्ट और लपट मालूम पडते थे।' मन -शाति के लिए गाधीजी सारी रात गीता के श्लोक बोलते रहे। ऐसी कठिन जेल उन्होने जीवन मे कभी नही भोगी थी। सवेरे सात बजे उन्हे कैदियो की एक गैग मे लगा दिया जाता, जो दिन-भर कुदाली से पथरीली जमीन की खुदाई किया करती। इस गैग का मुकादम बडा ही निर्दयी था। खुदाई करते-करते बेचारे कैदियो की कमर दुहारी हो जाती, हाथो मे छाले पड जाते और कई तो असह्य कष्ट से मूर्छित भी हो जाते थे। पर गाधीजी डटे रहते और अपने साथियो को बराबर हिम्मत बधाया करते। शाम को और इतवार के दिन वह भगवद्गीता और रस्किन, थोरो तथा अन्य दार्शनिको के जो ग्रथ जेल मे मिल जाते थे, पढा करते। जेल के कडे प्रतिबध गाधीजी को आत्मविकास और जन-सेवा के लिए

अपनाये गए सयमपूर्ण जीवन और ब्रह्मचर्य के सर्वथा अनुकूल प्रतीत होते थे। उनके भावी जीवन की प्रवल शक्ति का स्रोत, उनके व्यक्तित्व और चरित्र की इस्पाती दृढता इन जेलखानो मे ही पैदा हुई थी। श्रीमती पोलक के शब्दो मे—"उनके जेल से लौटने पर हर वार हमे उनमे एक अदभुत विकास और चारित्रिक प्रगति देखने को मिलती थी, जो निश्चय ही जेल-जीवन का परिणाम हुआ करती थी।"[1]

जेल, देश-निकाला और भारी-भारी जुर्माने सत्याग्रह-आदोलन को कुचल न सके। लेकिन हमेशा तो वह जोश बना नही रह सकता था, धीरे-धीरे शिथिलता आती गई। भारतीय जनता की, और खास तौर से उसके मालदार तवको की हालत उन सैनिको-जैसी हो चली जो वहुत दिनो की लगातार लडाई से ऊब या थक जाते है। गतिरोध हो गया था। अब भारतीय जोरदार मुकावले के लिए तैयार नही थे, लेकिन हथियार उन्होने फिर भी नही डाले थे।

१९०९ मे गाधीजी इग्लैड की असफल यात्रा से लौटे तो उन्होने समझ लिया कि अधिकारो की यह लडाई काफी लवी चलेगी। भारतीय जनता पर सरकारी दमन का असर होने लगा था। कई व्यापारियो को भारी नुकसान उठाना पडा था और वे आदोलन से अलग हो गये थे। जेल जानेवाले सत्याग्रहियो की तादाद कम हो गई थी और थोडे-से चुने हुए पक्के लोग ही गिरफ्तार हो रहे थे। सत्याग्रह-मडल ऐसे सत्याग्रहियो के कुनवो को भरण-पोषण के लिए हर महीने पैसा देता था, लेकिन अब मडल के पास पैसा कम होता जा रहा था। सन् १९०६ मे राजनीति मे आने के वाद मे गाधीजी की वकालत लगभग वद-सी ही थी और उनके पास जो-कुछ जमा-पूजी थी वह सारी-की-सारी आदोलन की भेट चढ चुकी थी। सत्याग्रहियो के मुसीवतजदा कुनवो की मदद के ही लिए नही आदोलन से सवधित जोहान्सवर्ग और लदन के दफ्तरो को चलाने और 'इडियन ओपिनियन' को चालू रखने के लिए भी पैसो की वडी जरूरत थी। आखीर तक टिक सकनेवाला ही इस लवी लडाई मे जीत सकता था। सरकार के पास सब साधन थे और अत तक टिके रहने की सामर्थ्य थी। भारतीय

---

[1] पोलक, एम०—'गाधी दि मैन' (मानव गाधी), पृष्ठ ९४।

सत्याग्रही खुद भूखा रहकर और अपने परिवार को भूखा मारकर कब-तक लडता ? खर्च को काफी हद तक कम किये बिना सत्याग्रह की लडाई को लबे समय तक चला पाना असम्भव ही था। इसलिए गाधीजी ने सत्याग्रही कैदियो के परिवारो को किसी सहकारी खेत पर बसाने का निश्चय किया। इस काम के लिए डरबन की फिनिक्स बस्ती उनके ध्यान मे थी। लेकिन जोहान्सबर्ग आदोलन का केंद्र था और वहा से फिनिक्स रेल द्वारा पूरे तीस घटे का रास्ता था, इसलिए फिनिक्स का विचार त्याग देना पडा।

ऐसे समय एक जर्मन स्थपति मि० केलनबेक ने गाधीजी की मदद की। ये सज्जन गाधीजी के साथी और सहयोगी थे। उन्होने जोहान्सबर्ग से २१ मील दूर ११०० एकड जमीन खरीदी और सत्याग्रहियो को बिना किसी भाडे-लगान के काम मे लाने का अधिकार दे दिया। इस जमीन मे एक हजार के लगभग फलवाले पेड थे और छोटा-सा मकान भी बना हुआ था। इस जगह का नाम रखा गया 'टालस्टाय-फार्म' और वहा जो माल-मसाला और मजदूर मिल गये उन्हीकी मदद से गाधीजी और केलनबेक टीन-चद्दरो की एक छोटी-सी बस्ती खडी करने के काम मे लग गये। 'टाल्स्टाय-फार्म' पर रहनेवालो की तादाद पचास से पचहत्तर के बीच रही होगी, और उनमे भारत के हर हिस्से के हिंदू और मुसलमान और पारसी और ईसाई थे। वहा सबको एक ही रसोई से शाकाहारी भोजन मिलता था। बहुत थोडे मे और बडी मुश्किलो मे वहा के लोग अपनी गुजर-बसर करते थे, सच पूछा जाय तो जेल से भी ज्यादा कठोर उनका जीवन था। वहाँ के हर निवासी को, जिनमे बच्चे भी शामिल थे, मेहनत-मजदूरी करनी पडती थी। उस बस्ती को स्वावलबी बनाने की हर कोशिश की गई थी। मि० केलनबेक की देख-रेख मे एक छोटा-सा कारखाना चलता था, जिसमे जरूरत की छोटी-बडी कई चीजे बनाई जाती थी। मि० केलनबेक जर्मन साधुओ के मठ मे चप्पल बनाना सीख आये थे और उन्होने यह हुनर गाधीजी और फार्म के दूसरे निवासियो को सिखा दिया था। उस समय का वर्णन करते हुए गाधीजी लिखते है, "हम सभी मजदूर बन गये थे, इससे पहनावा रखा मजदूरो का, पर यूरोपीय ढग का—यानी

मजदूरो के पहनने का पतलून और उसी तरह की कमीज। इस पहनावे मे जेल का अनुकरण था।"[१] जिसे अपने निजी काम से या सैर के लिए शहर जाना होता वह जोहान्सवर्ग तक आने-जाने की यात्रा पैदल करता था। गाधीजी यद्यपि चालीस साल के हो गये थे और सिर्फ फल खाते थे, लेकिन एक दिन मे ४०-४२ मील चलना उनके लिए मामूली बात थी, एक बार तो उन्होने दिन-भर मे पूरे पचपन मील की मजिल की और फिर भी नही थके।

गाधीजी के उत्साह का पार न था, उनकी 'हिम्मत और श्रद्धा टाल्स्टाय-फार्म मे पराकाष्ठा को पहुची हुई थी।"[२] प्राकृतिक उपचार मे उनकी आस्था दृढ होती गई, अपनी आरोग्य-विषयक पुस्तक भी उन्होने इसी समय लिखी। स्वय उनका कहना है, "फार्म मे एक भी बीमारी के मौके पर न तो हमने डाक्टर बुलाया और न दवा का ही उपयोग किया।" केलनबेक उनके विश्वस्त साथी थे और सभी प्रयोगो मे बडे उत्साह से हिस्सा लेते थे। दोनो मिलकर अहिसा को अपनाने के नये-नये उपाय सोचा करते और अवसर सापो पर भी अहिसा के प्रयोग करते थे। फार्म के बच्चो की पढाई के लिए एक स्कूल भी खोला गया था। अपने बच्चो पर शिक्षण-सबधी जो प्रयोग कर चुके थे, उन्हीके अनुसार गाधीजी वहा के बच्चो को पढाते थे। वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय और चरित्र की शिक्षा पर अधिक जोर देते थे, और शारीरिक श्रम को तो उन्होने अपने छात्रो के पाठ्यक्रम मे अनिवार्य ही कर दिया था।

टाल्स्टाय-फार्म के बच्चे खुशी-खुशी गड्ढे खोदते, पेड काटते, बोझा ढोते और बढईगिरी तथा मोची का काम सीखते थे। शिक्षक की जिम्मेदारियो और कर्त्तव्य के बारे मे गाधीजी की बहुत ऊची धारणा थी, "मै झूठ बोलता रहू और अपने शिष्यो को सच्चा बनाने की कोशिश करू तो वह बेकार जायगी। डरपोक शिक्षक अपने शिष्यो को वीरता नही सिखा सकता मैने देखा कि मुझे अपने साथ रहनेवाले लडके और लडकियो के सामने पदार्थ-पाठ रूप होकर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य मेरे शिक्षक

---

[१] 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', सस्ता साहित्य मडल, १९५९, पृष्ठ २९४

[२] वही, पृष्ठ २९२

बन गये, और अपने लिए नही तो उनके लिए मुझे भला होकर रहना चाहिए, यह भी मैंने समझा।"[१]

उन दिनों उनके आत्म-निग्रह और सयम मे जो वृद्धि हुई, उसका बहुत कुछ श्रेय गाधीजी ने टाल्स्टाय-फार्म-शिक्षण-सबधी उत्तरदायित्वो के प्रति अपनी सजगता को दिया है। लेकिन उस फार्म का सत्याग्रह की लडाई के विकास मे भी काफी मूल्यवान योगदान रहा है। जेल जानेवाले सत्याग्रहियो के परिवारो को तो वहा आश्रय मिला ही, जब गाधीजी ने सत्याग्रह का आखिरी दौर शुरू किया तो अपनी मर्जी से त्याग और गरीबी का जीवन अपनाकर शक्तिशाली ट्रासवाल सरकार से लगातार जूझ रहे वहा के मुट्ठी-भर देशभक्तो की शानदार मिसाल ने शेष सारी भारतीय जनता को सघर्ष मे कूदने के लिए अनुप्राणित भी किया और टाल्स्टाय-फार्म के कठोर सयम और दृढ अनुशासन मे रहे हुए स्त्री, बच्चो और पुरुषो को तो जेल का कोई डर हो ही नही सकता था।

सत्याग्रह की वह लडाई पूरे चार साल तक चलती रही। इस बीच भारतीय देशभक्त जेल जाते और जेल से छूटकर आते रहे। भारतीय समाज के मालदार तबके मे तो उतना जोश नही था, लेकिन गाधीजी के नेतृत्व मे जो थोडे-से चुने हुए पक्के लोग काम कर रहे थे उनके उत्साह और मनोबल मे कोई कमी नही होने पाई थी। उधर भारत का जनमत भी इस प्रश्न पर विक्षुब्ध हो रहा था। कलकत्ते की बडी कौंसिल मे गोखले ने गिरमिटियो का दक्षिण अफ्रीका भेजना बन्द कर देने का प्रस्ताव पेश किया था और वह स्वीकार भी हो गया था। भारत मे बादशाह जार्ज पचम के राजदरबार का समय निकट आता जान इगलैंड की सरकार भी मामले को सुलझाकर भारतीयो को खुश करने के पक्ष मे थी। इस सबका नतीजा यह हुआ कि १९११ के फरवरी महीने मे दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने घोषणा की कि वह रग-भेदवाली रोक को उठा लेगी, एशियावासी होने के कारण ट्रासवाल मे भारतीयो के प्रवेश पर जो प्रतिबन्ध लगा हुआ है वह नही रहेगा, उसके बदले सिर्फ उनकी शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता की कडी जाच का प्रतिबन्ध रहेगा।

'२७ मई १९११ को 'इडियन ओपिनियन' ने घोषणा की कि सरकार के

---

[१] 'आत्मकथा सस्ता साहित्य मडल, १९६०, पृष्ठ ३९०

साथ एक अस्थायी समझौता हो गया है और इसलिए सभी भारतीयो एव चीनियो को अपने काम-धधे मे लग जाना चाहिए। पहली जून को सभी सत्याग्रही कैदी रिहा कर दिये गए। यह समझौता १९१२ के अन्त तक बना रहा।

१९१२ की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी गोखले की दक्षिण अफ्रीका की यात्रा। पिछले पन्द्रह वर्षो से उनका गाधीजी से पत्र-व्यवहार चला आता था और कलकत्ते की बडी कासिल के भीतर और बाहर से भी वह दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो के अधिकारो की लडाई का हर तरह से समर्थन करते रहे थे। उनकी यात्रा की योजना ब्रिटिश सरकार की मजूरी से ही बनी थी, वह दक्षिण अफ्रीका मे सरकारी अतिथि बनकर आये थे और वहा की सरकार ने उन्हे रेल-यात्राओं के लिए सैलून दिया था। गाधीजी ने कैपटाउन पहुँचकर गोखले का स्वागत किया और उनकी पूरी महीने भर की यात्रा के दौरान साथ रहकर उनके दुभाषिये और अनुचर का काम किया। गोखले जहा भी गये उनका शाही ढग से स्वागत किया गया। वह जिस स्टेशन पर उतरते उसे खूब सजाया जाता, रोशनिया की जाती और उनके चलने के लिए गलीचे बिछाये जाते। हर जगह उन्हे मानपत्र और किश्तियाँ भेट की गई। यूनियन की राजधानी प्रिटोरिया मे उन्होने यूनियन सरकार के मन्त्रिमण्डल से भेंट की और उसके बाद गाधीजी से कहा, "तुम्हे एक बरस के अन्दर हिंदुस्तान लौट आना है। सब बातो का फैसला हो गया। काला कानून रद्द हो जायगा। इमिग्रेशन कानून से वर्ण-भेदवाली दफा निकाल दी जायगी। तीन पौंड का कर उठा दिया जायगा।" इसपर गाधीजी ने जवाब दिया था," मुझे इसमे पूरी शका है। इस मत्रिमडल को जितना मैं जानता हू उतना आप नही जानते।"

दक्षिण अफ्रीका से गोखले की पीठ अभी मुडी ही थी कि यूनियन सरकार की धोखाधडी जाहिर हो गई। जनरल स्मट्स ने यूनियन पार्लमेंट मे कहा कि "नेटाल के यूरोपियन यह कर उठाने को तैयार नहीं है, इसलिए यूनियन सरकार गिरमिटयुक्त भारतीय मजदूरो और उनके परिवारो पर लगाये गए तीन पाउ के कर को रद्द करने का कानून पास करने मे असमर्थ है।"

सरकार के इस वचन-भग ने सत्याग्रह-आदोलन मे नई जान फूक दी।

१३
आखिरी दौर

गाधीजी ने आदोलन का अतिम दौर शुरू करने और उसमे अपनेको होम देने का फैसला कर लिया। भारत मे गोखले को पता चला तो उन्होने गाधीजी से उनकी 'शाति सेना' के सख्या-बल के बारे मे पूछताछ की। गाधीजी ने कम-से-कम सोलह और अधिक-से-अधिक छियासठ सत्याग्रही सैनिको के नाम उन्हे लिख भेजे। गोखले-जैसे अनुभवी नेता को इतनी कम सख्या से जरूर आश्चर्य हुआ होगा और यह बात उनकी समझ मे नही आ सकी होगी कि इतने थोडे लोगो से शक्तिशाली ट्रासवाल सरकार को कैसे झुकाया जा सकेगा। गाधीजी की राजनीति को, जो हजारो लोगो को आदोलन मे खीच लाई थी, शुरू-शुरू मे तो अवश्य गोखले जान नही पाये होगे।

इस बार गाधीजी ने आदोलन का सूत्रपात सोलह सत्याग्रहियो मे किया, जिनमे कस्तूरबा भी थी। इन सत्याग्रहियो ने नेटाल की फिनिक्स बस्ती से चलकर ट्रासवाल मे प्रवेश किया। सरकार ने बिना परवाना ट्रासवाल मे प्रवेश करने का आरोप लगाकर इन्हे २२ सितबर को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। कुछ दिनो बाद ट्रासवाल-स्थित टाल्स्टाय-फार्म से ग्यारह महिलाओ का जत्था बिना परवाना नेटाल मे प्रवेश करने के लिए रवाना किया गया। इन्हे न्यू कैसेल पहुचना था, जो नेटाल मे कोयले की खानो का केन्द्र था। गिरफ्तारी से पहले इन महिलाओ ने खानो मे काम करनेवाले भारतीय मजदूरो को काम छोड देने के लिए कहा और उन्होने कहना मानकर हडताल कर दी।

कोयला खानो की हडताल बहुत बडी बात थी। हालत को काबू मे रखने के लिए गाधीजी फौरन न्यू कैसेल पहुच गये। मजदूरो को हिंसा और अव्यवस्था पर उतर आने से रोकना भी बहुत जरूरी था। खान-मालिको ने गाधीजी को बातचीत के लिए डरबन बुलाया। मालिको की ओर से कहा गया, "आपका तो इसमे कुछ जाता नही है। पर इन बहकाये हुए मजदूरो का जो नुकसान होगा, उसे क्या आप भर देंगे ?" गाधीजी ने परम शाति

से जवाब दिया, 'मजदूरो ने सोच-समझकर और अपने नुकसान को जानते हुए यह हडताल की है। जहातक नुकसान का सवाल है, आदमी के लिए आत्म-सम्मान खोने से बडा नुकसान कोई हो नही सकता, जिसे ये मजदूर तीन पोड के कर के रूप मे बरसो से भुगतते आ रहे हैं।" वहा से लोटकर गाधीजी ने खान-मालिको की धमकियो की बात हडताली मजदूरो को बता दी, लेकिन मजदूर डटे रहे, उन्हे अपने 'गाधी भाई' पर पूरा भरोसा था। अब मालिक दमन पर उतर आये। उन्होने मजदूरो की पानी और बिजली बद कर दी। इसपर मजदूर मालिको के क्वार्टरो से अपने बोरिये-बिस्तरे उठाकर बाहर निकल आये। पहले तो गाधीजी की समझ मे नही आया कि हजारो बेघर और बेकार हडताली मजदूरो का वे क्या करे? न्यू कैसेल के भारतीय व्यापारी सरकारी रोप के डर से उन मजदूरो की मदद करने मे कतराते थे। एक भारतीय ईसाई परिवार हडताली मजदूरो को खाना खिलाने के लिए राजी हो गया। लेकिन हजारो मजदूरो को यो कितने दिन खिलाया जा सकता था? फिर इतनी बडी तादाद मे बेपढे-लिखे और बेकार मजदूरो का शहर मे योही पडे रहना खतरे से खाली भी नही था। गाधीजी ने उन्हे हिजरत करने की सलाह दी और हडतालियो की उस सारी फौज को पैदल ट्रासवाल ले जाने का फैसला किया। उन्हे ऐसा विश्वास था कि रास्ते मे ही सरकार सारे मजदूरो को पकडकर जेल मे बद कर देगी, लेकिन अगर किसी वजह से नही पकडे जा सके तो सब लोगो को टाल्स्टाय-फार्म पहुचा दिया जायगा और वहा मेहनत-मजदूरी करके वे अपनी गुजर-बसर का इतजाम कर लेंगे।

सिर्फ डेढ पौंड डबल रोटी और एक ओस शक्कर के राशन पर उन मजदूरो ने न्यू कैसेल से नेटाल के सरहदी गाव चार्ल्स टाउन तक छत्तीस मील का सफर दो दिन मे तय किया। वहा से ट्रासवाल की सरहद ज्यादा दूर नही थी। एक सप्ताह के बाद ६ नवबर, १०१३ को इस काफिले ने सीमा को पार करना शुरू किया। इन हिजरतियो मे २०३७ पुरुष, १२७ स्त्रिया और ५७ बच्चे थे। 'सनडे पोस्ट' अखबार के अनुसार 'गाधी के नेतृत्व मे चलनेवाला वह विशाल हिजरती दल एक तरह का शम्भु-मेला ही था। देखने मे तो सभी कमजोर, बल्कि मरियल, टागे सूखकर लकडी हो रही थी,

मगर डेढ पाव रोटी के राशन पर शेरो के दमखम से दर्राते चले जाते थे।" असयम और अनुशासन-भग की घटनाए भी जरूर हुई, लेकिन कुल मिलाकर उन गरीब अनपढ मजदूरो का साहस, अनुशासन और कष्टसहिष्णुता चकित कर देनेवाली थी। वे राजनीति का ककहरा भी नही जानते थे, परन्तु अपने नेता मे उनका अडिग विश्वास था और उसका हर शब्द उनके उनके लिए वेद-वाक्य था। रास्ते मे एक नाले को लाघते हुए एक बच्चा मा के हाथ से छूटकर धारा मे डूब गया। पर उस वीर माता ने दिल छोटा नही किया। बोली "मरे हुए का शोक करके क्या करेगे ? जीवितो की सेवा' करना हमारा धर्म है। और आगे बढ गई।

वोक्सरस्ट मे गाधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया। बालफोर मे सारे हिजरतियो को गिरफ्तार कर नेटाल पहुचा देने के लिए स्टेशन ले जाया गया, जहा तीन स्पेशल ट्रेने इसी काम के लिए खडी थी। लेकिन हडतालियो ने अपने 'गाधी भाई के हुकुम' के बिना रेलो मे बैठने से इनकार कर दिया। हालत बहुत सगीन हो गई। लेकिन नेताओ के समझाने-बुझाने का असर हुआ और वे लोग राजी हो गये। रास्ते मे उन्हे खाना नही दिया गया और नेटाल पहुचते ही मुकदमा चलाकर जेल की सजा ठोक दी गई। सरकार ने बद खानो को चलाने और हडतालियो को सजा देने की एक नई तरकीब सोच निकाली। हडताली जहा-जहा से आये थे उन्ही स्थानो को एक नया कानून बनाकर जेलो मे बदल दिया गया और खानो के गोरे कर्मचारियो को उन जेलो का दारोगा बना दिया। सजा के तौर पर उन खानो मे हडतालियो से जबर्दस्ती काम करवाने का सरकार ने फैसला कर लिया था। लेकिन मजदूर बहादुर थे। उन्होने काम करने मे इनकार कर दिया। इसपर उनकी लातो, घूसो और कोडो तक से पिटाई की गई। इस अमानुषी अत्याचार की खबर चारो ओर आग की तरह फैल गई और पश्चिमोत्तर नेटाल के सभी खेतो और खानो के गिरमिटिये हडताल पर उतर आये। यूनियन सरकार के आतक का नगा नाच शुरू हो गया—'आग और खून' की नीति पर अमल होने लगा। गरीब भारतीय मजदूरो के निर्मम दमन मे गोरो का जातीय अहकार और उनके आर्थिक हित एक हो गये—सशस्त्र घुडसवार सैनिक निहत्थे, असहाय गिरमिटियो को खानो और खेतो मे काम

करने के लिए खदेडने लगे।

उधर वोक्सरस्ट-जेल मे गाधीजी से पत्थर खुदवाने और झाड् लगवाने का काम करवाया जाता था। फिर उन्हे वहा से प्रिटोरिया की जेल मे भेजा गया और दस फुट लबी सात फुट चौडी कालकोठरी मे बद कर दिया गया। उजाला इसमे रात को कैदी की निगरानी के समय ही पहुचता था, बाकी चौबीसो घटे घुप्प अन्धेरा छाया रहता। यहा न तो गाधीजी को बेच दी गई और न वह किसीसे बात ही कर सकते थे, और छोटे-मोटे जो कष्ट दिये गए उनकी तो कोई गिनती ही नही। यहातक कि अदालत की पेशी-पर हथकडी और बेडी डालकर ले जाया गया।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार के इस वर्बर दमन ने भारत मे खलबली मचा दी और सारा देश भडक उठा। गोखले को तार और पत्रो मे पल-पल की खबर दी जा रही थी। बीमार होते हुए भी उन्होने धन-सग्रह और नैतिक समर्थन के लिए देशव्यापी दौरा किया। भारत के लाट पादरी बिशप लेफ्राय ने अखबारो मे खुला पत्र लिखकर प्रवासी भारतीयो का समर्थन किया। उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिज पर सारे देश की नाराजी का बडा गहरा असर हुआ, उन्हे बताया गया कि "सिपाही-विद्रोह के बाद ऐसा देशव्यापी आन्दोलन दूसरा नही हुआ।" उन्होने अपने एक भाषण मे यूनियन सरकार की कडी आलोचना की। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रही भारतीयो के साथ भारत देश की पूर्ण सहानुभूति की घोषणा करते हुए उन्होने यहातक कहा कि 'मेरे-जैसे गैर-भारतीयो की सहानुभूति भी वहा के भारतीयो के साथ है।"[1] इतना ही नही, इससे दो कदम आगे जाकर उन्होने दक्षिण अफ्रीका सरकार के दमन और अत्याचारो की निष्पक्ष जाच की भी माग की।

जनरल स्मट्स अपने बुरे इरादो और दक्षिण अफ्रीका के गोरो की हठ-धर्मी मे, जिसे खुद उन्होने बढावा दिया था, बुरी तरह फस गये थे। उनकी हालत 'साप-छछूंदर की-सी हो गई।'[2] इज्जत बचाने के लिए कुछ तो करना ही था, सो एक जाच-आयोग बिठाकर जान छुडाई। लेकिन जाच-आयोग

[1] हार्डिज आफ पेनशर्स्ट 'माइ इण्डियन इयर्स', लदन, १९४८, पृष्ठ ९१

[2] 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', मडल, १९५९, पृष्ठ ३७२

के तीनो सदस्यो मे भारतीय तो एक भी न था और तीनो गोरो मे दो खुल्लमखुला भारतीयो के कट्टर विरोधी थे। गाधीजी ने स्पष्ट कह दिया कि हमे ऐसे आयोग से न्याय की रच-मात्र भी आशा नही, उचित है कि इस आयोग का फिर से गठन किया जाय। उधर गोखले ने मध्यस्थता मे सहायता करने के लिए मि० एड्रूज और पियर्सन को दक्षिण अफ्रीका भेजा।

जिन खास मागो पर भारतीयो ने सत्याग्रह किया था वे मजूर कर ली गई। गिरमिट-मुक्त मजदूरो पर से तीन पौड का कर उठा लिया गया, भारतीय हिन्दू और मुस्लिम पद्धति मे किये गए विवाहो की वैधता मान ली गई, अगूठे की छापवाले अधिवासी प्रमाण-पत्र को दक्षिण अफ्रीका मे दाखिल होने और रहने का परवाना मजूर किया गया।

जनरल स्मट्स के पुत्र ने लिखा है कि "मेरे पिता ने गाधी को ऐसी पटकनी दी कि वह चारो खाने चित्त हो गया और अपनी असफलता से खिन्न होकर भारत लौटने के मनसूबे गढने लगा।"[1] लेकिन बाप की राय बेटे से बिलकुल भिन्न है, १९३९ मे जनरल स्मट्स ने लिखा था कि "यह मेरे भाग्य की विडम्बना ही कही जायगी कि जिस आदमी का मै उस समय भी सबसे अधिक आदर करता था उसीका मुझे विरोधी बनना पडा।" सत्याग्रह-आन्दोलन के बारे मे उनका कहना था, "गाधीजी थोडा-सा विश्राम और जेल का एकान्त चाहते थे, वह उन्हे मिल गया। उनके लिए सब-कुछ उनकी योजना के अनुसार ही हो रहा था। कानून और व्यवस्था के सरक्षक के रूप मे मुसीबत तो मेरी थी—एक ऐसे कानून को अमल मे लाना पड रहा था, जिसके पीछे जनता का कोई खास बल नही था, और फिर उसी कानून को वापस लेने की हार और जिल्लत भी सहनी पडी। मजा तो था गाधीजी का, क्योकि उनका षड्यन्त्र सफल हो गया था।"[2]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस कारावास मे गाधीजी ने जनरल स्मट्स के लिए एक जोडी चप्पल खुद बनाई थी, और जैसाकि ऊपर के उद्धरण से पता चलता है जनरल स्मट्स के मन मे भी गाधीजी के प्रति किसी तरह का व्यक्तिगत द्वेष या घृणा का भाव नही था। जब लडाई खत्म

---

१ स्मट्स, जे० सी० 'जैन क्रिश्चियन स्मट्स', पृष्ठ १०६

२ राधाकृष्णन, एस० द्वारा सपादित 'महात्मा गाधी', लदन, १९३९, पृष्ठ २७७-८

हो गई तो "दोनो के बीच शान्ति और सौहार्द का सुखद वातावरण पुन निर्मित हो गया।"

१४
दक्षिण अफ्रीका की प्रयोगशाला

गाधीजी के इतने प्रयत्नो के बाद भी दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो की समस्या स्थायी रूप से हल न हुई, बीमारी कुछ समय के लिए रुक जरूर गई, पर निर्मूल न हुई। आगे चलकर तो रग-भेद और वर्ग-विद्वेष ने इतना विकराल और घिनौना रूप धारण कर लिया और मदाध गोराशाही इस सीमा तक निर्लज्ज और आततायी हो गई जिसका सन् १९१४ के पहले के वर्षो मे कल्पना भी नही की जा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि जिन मागो को लेकर गाधीजी ने आठ साल तक सत्याग्रह किया और अन्त मे विजयी हुए वे अब केवल इतिहास का विषय बनकर रह गई है।

लेकिन महत्त्व इस बात का नही है कि गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका को क्या दिया और उसके लिए क्या किया, बल्कि इस बात का कि दक्षिण अफ्रीका ने उन्हे क्या दिया और उनके विकास मे किस हद तक हाथ बटाया। वह वहा सहायक वकील की हैसियत से एक व्यापारी पढी के मुक-दमे मे मदद करने के लिए सिर्फ १०५ पौंड वार्षिक मेहनताने पर गये थे, फिर वही रह गये, सालाना पाँच हजार पौंड तक की वकालत जमाली और उसे अपनी मर्जी मे छोड भी दिया। पहले दिन बबई की खफीफा अदालत मे एक मामूली-से मुकदमे मे उनसे जिरह करते भी नही बना था, दक्षिण अफ्रीका मे उन्होने एक नया राजनैतिक सगठन बना डाला और एक अनुभवी नेता की कुशलता से उसे चलाकर भी दिखाया। वहा के गोरे अफसरो और कूटनीतिज्ञो के द्वेषभाव तथा भारतीय व्यापारियो एव मज-दूरो की असहायावस्था ने उनके सोये हुए तेज को उद्दीप्त कर दिया—अन्तस्थ शौर्य और साहस को जगा दिया, और जैसा कि उन्होने दादाभाई नौरोजी को लिखा था, वहा इस दिशा मे काम करनेवाले वह ही अकेले

आदमी थे। मताधिकार और प्रतिनिधित्व से रहित नेटाल के भारतीयो का अस्तित्व ही खतरे मे था, ऐसे समय मे गाधीजी ने उनकी सहायता की। वदले मे पुरस्कार तो क्या ही मिलना था, धधा चौपट हो जाने और जान से मार दिये जाने की सभावनाए ही अधिक थी। लेकिन दक्षिण अफ्रीका मे वकालत और सार्वजनिक कार्य आरम्भ करना गाधीजी के लिए कुल मिलाकर शुभ ही रहा। भारत मे उतने सारे महान नेताओ और दिग्गज वकीलो की भीडभाड मे उन्हे कौन पूछता ! अपने देश मे नेतृत्व का गुण उनमे शायद ही विकसित हो पाता। पच्चीस वर्ष की उम्र मे जब उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे नेटाल इडियन काग्रेस की स्थापना की तो क्षेत्र विलकुल खाली पडा था, श्रीगणेश उन्हीने किया और आगे भी सवकुछ उन्हीको करना था। जिन विचारो का किसी भी सुस्थापित राजनैतिक सगठन मे मखौल ही उडाया जाता, उन्हे आजमाने की वहा पूरी-पूरी स्वतत्रता थी। सत्य और प्रतिज्ञाओ का राजनीति से भला क्या वास्ता ? वाद मे यह प्रश्न भारत मे भी वार-वार उठाया गया और यदि गाधी जी विचलित नही हुए तो इसका कारण यही था कि दक्षिण अफ्रीका मे काफी समय पहले वह राजनीति से इनका सबध जोड चुके थे और उस सवध को पुरता भी कर चुके थे। ऐसी जगह काम शुरू करना, जहा पहले से किसी तरह का राजनैतिक काम न हो और अडगा लगानेवाले धुरधर नेता भी न रहे, अवश्य उस आदमी के लाभ की वात है, जो राजनीति और शास्त्र-ज्ञान मे विलकुल कोरा हो और आचरण से ही जिसके सिद्धात निर्मित होते हो। नेटाल और ट्रासवाल भारत के छोटे-से-छोटे प्रदेशो के वरावर भी नही है। लेकिन वहा के अनुभव आगे चलकर भारतीय स्वाधीनता-सग्राम की वडी-वडी लडाइयो मे हमेशा गाधीजी को प्रेरणा देते और वरावर काम आते रहे। नेटाल और ट्रासवाल मे उन्होने हिंदुओ और मुसलमानो का जो पारस्परिक सहयोग देखा, उससे हिंदू-मुस्लिम एकता मे उनकी आस्था हमेशा के लिए दृढ हो गई। परवाने के काले कानून के खिलाफ सत्याग्रह के उतार-चढाव वह देख चुके थे, इसलिए भारतीय स्वाधीनता-सघर्प के ज्वार-भाटो से कभी व्यग्र और विचलित नही हुए। हजारो गरीव और अनपढ मजदूरो को कोडो की मार, गोलीवार और जेल की यातनाओ का सामना करके भी

हिजरत मे शरीक होते देखा था, इसलिए देश की लाखो-लाख जनता के लिए सत्याग्रह की उपयुक्तता मे उन्हे कोई सदेह नही रह गया था।

जो जीवन के निर्माण का काल होता है, उसका अधिकाश गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका मे ही बिताया था। उनकी नीतियो ने और उनके विचारो और व्यक्तित्व ने भी वही रूप-रेखा ग्रहण की। नैतिक और धार्मिक प्रश्नो मे यो तो उनकी रुचि बचपन से थी, लेकिन इन विषयो का विधिवत् अध्ययन करने का अवसर उन्हे दक्षिण अफ्रीका मे ही मिला। प्रिटोरिया के क्वेकर मित्र एडी-चोटी का पूरा जोर लगाकर भी उन्हे ईसाई न बना सके, पर उन्होने उनकी धर्म-सबधी जिज्ञासा को जरूर तीव्र कर दिया था। उसके बाद तो ईसाई, हिंदू और दूसरे धर्म-सिद्धान्तो का भी उन्होने गभीर अध्ययन और मनन किया। गीता से अपरिग्रह का पाठ पढकर उन्होने ऐच्छिक गरीबी को अपनाया। 'नि स्वार्थ सेवा' और 'अनासक्त कर्म' के आदर्शो ने दृष्टि की विशदता के साथ ही उनके सार्वजनिक जीवन मे अतुलित शक्ति और दृढ आस्था का सचार भी किया।

सीमित अध्ययन से जितना लाभ गाधीजी ने उठाया उतना शायद ही किसीने उठाया होगा। पुस्तक उनके लिए घडी-भर का मन-बहलाव नही, अनुभवो का सचित कोष हुआ करती थी। पुस्तक के विचारो मे सहमत होते तो उन्हे आत्मसात् कर लेते और तदनुसार आचरण भी करते, असह-मत होते तो उससे हमेशा के लिए अपना मन हटा लेते थे। रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' से इतने प्रभावित हुए कि नेटाल की राजधानी छोडकर जूलूलैड के जगल मे जा बसे, ऐच्छिक गरीबी को गले लगाया और सही अर्थो मे पसीने की कमाई खाने का प्रयत्न करने लगे। टाल्स्टाय की पुस्तको का प्रभाव तो और भी जबरदस्त हुआ। आख मूदकर अनुकरण तो उन्होने अवश्य नही किया, लेकिन यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उनके अपरिपक्व विचारो को प्रौढता टाल्स्टाय की कृतियो के अध्ययन से ही मिली। आधुनिक राज्य की सगठित अथवा प्रच्छन्न हिंसा और नागरिक के सविनय अवज्ञा अथवा असहयोग के अधिकार-सबधी अपने विचारो का समर्थन गाधीजी को टाल्स्टाय की किताबो मे मिला। आधुनिक सभ्यता, और औद्योगीकरण से लेकर यौन-सबधो और शिक्षा आदि अनेक विषयो

की टाल्स्टाय ने जो मीमासा की उससे गाधीजी पूरी तरह सहमत थ। दोनो मे पत्र-व्यवहार भी हुआ। जीवन की देहली पर खडे नवयुवक गाधी ने अपने पत्रो मे अपार श्रद्धा और कृतज्ञता निवेदित की है, गार्हस्थिक कष्टो से त्रस्त, आसन्न मृत्यु की छाया मे खडे वयोवृद्ध टाल्स्टाय ने अपने पत्रो मे अत्यधिक हर्ष और प्रसन्न विस्मय व्यक्त किया है। और यह तो प्राय सभी जानते है कि टाल्स्टाय के बाद गाधीजी ने अपने जीवन मे उनके कई विचारो पर प्रयोग और परीक्षण किये थे।

गाधीजी की पुस्तक 'हिद स्वराज्य'[1] पर, जिसे उन्होने १९०९ मे लदन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हुए जहाज पर लिखा था, रस्किन और टाल्स्टाय के विचारो की स्पष्ट छाप है। इस पुस्तक को पश्चिम के सुझाये हुए 'बम-पिस्तौल' के रास्ते पर चलकर मातृ-भूमि को स्वतत्र करने के इच्छुक भारतीय क्रातिकारियो की 'हिसा की नीति' के जवाब मे गाधीजी का सारगर्भित राजनैतिक घोषणापत्र ही समझना चाहिए।

गोखले ने १९१२ मे 'हिद स्वराज्य' को पढकर यह भविष्यवाणी की थी कि साल-भर भारत मे रह लेने के बाद गाधीजी स्वय ही अधकचरे विचारोवाली अपनी इस पुस्तक को नष्ट कर देंगे। लेकिन गाधीजी ने ऐसा कुछ नही किया। १९२१ मे 'नवजीवन' मे उन्होने लिखा कि 'हिद स्वराज्य' मे सिर्फ एक ही शब्द निकाला गया है और वह भी एक महिला के आग्रह पर। आगे उसी लेख मे उन्होने पाठको को यह चेतावनी दी है कि "यह समझने की जरा भी गलती न की जाय कि 'हिद स्वराज्य' मे जिस तरह के स्वराज्य की कल्पना की गई है, मै उसे लाने की कोशिश कर रहा हू। मै जानता हू कि भारत अभी उस तरह के स्वराज्य के लिए तैयार नही है। उस तरह के स्वराज्य के लिए मैं खुद को जरूर तैयार कर रहा हू। बाकी जो आदोलन है वह तो भारत की जनता जिस तरह का पार्लमेंटरी स्वराज्य चाहती है उसीको पाने के लिए है।"

'हिद स्वराज्य' का आदर्श तो अकेले गाधीजी और उनके कुछ बहुत ही निकट के सहयोगियो का अपना आदर्श था। रेल, अस्पताल, स्कूली शिक्षा, कल-कारखाने, चुनाव-सस्थाए और पाश्चात्य सभ्यता की यात्रि-

१ 'सस्ता साहित्य मडल', नई दिल्ली से प्रकाशित

कता, तडक-भडक, विलासप्रियता आदि को गाधीजी बुरा कहते थे। लेकिन ये चीजे हमारे देश मे आ गई थी और तरक्की करती जाती थी। गाधीजी को अपने जीवन मे इन्हे बर्दाश्त करना पडा, लेकिन एक आवश्यक बुराई के रूप मे ही उन्होने इनसब चीजो को बर्दाश्त किया। वह अकसर कहा करते कि 'पाश्चात्य सभ्यता और उसकी भौतिक देन न तो हमारे देश के उपयुक्त है और न हमारा देश उसके लिए तैयार ही है।" गाधीजी के ये विचार उनके पक्के अनुयायियो और सहयोगियो को भी या तो समय से बहुत पिछडे हुए या समय से बहुत आगे के मालूम पडते थे। 'हिंद स्वराज्य' का आदर्श अव्यावहारिक हो सकता था, लेकिन एक इसी बात से गाधीजी के निकट उसकी सचाई कम नही हो जाती थी। राजनीति, धर्म अथवा यौन-सबध—समस्या किसी भी तरह की क्यो न हो, वह बडी निडरता से अपने विचार व्यक्त करते, उन विचारो के अनुसार आचरण भी करते, और परिणामो के लिए भी उतनी ही निडरता से तैयार रहते थे। उन्होने अपने विचारो को कभी किसीपर लादा नही—यहातक कि अपने पक्के अनुयायियो और दृढ समर्थको पर भी नही। इतना जरूर चाहते थे कि जिसको विश्वास हो जाय, बात जिसके गले उतर जाय वह मानले और वैसा ही आचरण भी करे। अपने सिद्धान्तो और विचारो के मामले मे नितात अकेले रह जाने की भी उन्होने कोई चिंता न की।

१८९३ मे जो आत्म-विश्वास-रहित अनुभवहीन युवक डरबन के बदरगाह पर उतरा था, १९१४ मे दक्षिण अफ्रीका से लौटनेवाला व्यक्ति उससे बिलकुल ही भिन्न था। दक्षिण अफ्रीका मे उसे एक क्षण का भी चैन नही मिला था। उस महाद्वीप पर कदम रखते ही उसे गोरो की रग-भेद और वर्ण-विद्वेष की नीति के विरोध मे जुट जाना पडा था। इस समाचार को लेकर जो लबी लडाई लडी गई उसने गाधीजी को सपन्न अनुभवो की प्रौढता प्रदान की और वह अपना एक मौलिक राजनैतिक दर्शन विकसित कर सके और सामाजिक एव राजनैतिक आदोलन की एक नई शैली का निर्माण भी, जिसे उन्होने सत्याग्रह का नाम दिया और जिसने भारतीय राजनीति के आनेवाले तीस वर्षो मे बडे ही महत्व का काम किया।

: १५ :
उम्मीदवारी

"भारत मेरे लिए अनजाना देश है।" दक्षिण अफ्रीका से चलते समय गाधीजी ने एक विदाई-समारोह मे ये शब्द कहे थे। १८८८ मे वह इग्लैड गये और १९१४ मे उन्होने दक्षिण अफ्रीका छोडा, इन छब्बीस वर्षो मे वह चार साल से भी कम समय भारत मे रहे थे।

लेकिन हिन्दुस्तान के लिए वह अपरिचित नही थे। १९१२ मे, दक्षिण अफ्रीका की यात्रा से लौट आकर गोखले ने अपने देशवासियो को बताया था कि गाधीजी "जरूर उस धात के बने है जिससे वीरो और शहीदो को गढा जाता है, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि वह अपने आत्मबल से आस-पास के मामूली लोगो को भी वीर और शहीद बना देते है।"

९ जनवरी, १९१५ को जब गाधीजी बबई के अपोलो बदर पर उतरे तो एक राष्ट्रीय वीर जैसा ही उनका स्वागत हुआ। तीन दिन बाद जहागीर पेटिट के महल-नुमा भवन मे उनके सम्मान मे एक शानदार स्वागत-समारोह किया गया। उसमे बबई के 'बेताज के बादशाह' सर फीरोजशाह मेहता ने, जो कभी गाधीजी के दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन को सदेह की दृष्टि से देखते थे, "भारतीय स्वाधीनता सग्राम का वीर" कहकर उनका अभिनदन किया।

उस समय की भारत-सरकार भी पीछे न रही। १९१५ के नये साल के खिताबो मे उन्हे सरकार की ओर से केसरेहिद स्वर्णपदक प्रदान किया गया। वह 'खतरनाक' राजनैतिक कार्यकर्ता नही समझे गये थे, क्योकि उनका गोखले जैसे उदार नेता से सबध था और भारत लौटने से पहले जब वह इग्लैड गये थे तो वहा उन्होने यूरोप के मोर्चो पर सेवा करने के लिए लदन के भारतीयो का एक एबुलैस दल भी सगठित किया था। दक्षिण अफ्रीका मे उन्होने एक ऐसा आदोलन जरूर चलाया था, जिसमे लोगो ने कानून की अवहेलना की और जेल गये थे, लेकिन उस आदोलन का कारण जितना राजनैतिक उतना ही मानवीय भी था। सभी भारतीयो और वर्ण-

द्वेष अथवा राजनैतिक कारणो से जिनका मन दूपित नही हो गया था, ऐसे सभी अग्रेजो की सहानुभूति उस आदोलन से थी, फिर भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिज ने सत्याग्रह-आदोलन का समर्थन कर दिया तब तो वह और भी 'विद्रोही' न रहा।

गाधीजी के भारत पहुचते ही गोखले ने उनसे यह वचन ले लिया कि वह पूरे एक साल तक भारत की राजनैतिक परिस्थिति पर अपनी राय जाहिर नही करेंगे। यह एक साल गाधीजी के लिए 'उम्मीदवारी का समय' या 'परीक्षण का काल' था।

निर्वाह-योग्य वेतन पर देश और समाज की सेवा मे पूरा समय और शक्ति लगानेवाले कुछ चुने हुए समाज-सेवियो और विद्वानो का एक मडल गोखले ने भारत सेवक समिति (सर्वेट्स आफ इडिया सोसाइटी) के नाम से स्थापित किया था। वह गाधीजी को इस समिति का सदस्य बनाना चाहते थे। गाधीजी तुरन्त राजी हो गये, लेकिन समिति की छोटी सी अतरग मडली को पश्चिमी सभ्यता और आधुनिक विज्ञान के प्रति उनका आलोचनात्मक रुख, सामाजिक और आर्थिक समस्याओ को धार्मिक पैमाने मे नापने-जोखने की उनकी प्रवृत्ति और राजनैतिक सघर्ष के लिए सत्याग्रह का उपयोग आदि बाते पसद न थी, समिति के उद्देश्यो और गाधीजी के इन विचारो मे उन्हे गहरा अन्तर दिखाई देता था। समिति की सदस्यता के लिए आवेदन-पत्र देकर गाधीजी पोरबदर और राजकोट होते हुए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वविख्यात शातिनिकेतन की यात्रा पर रवाना हो गये।

लेकिन वहा से उन्हे तुरन्त लौटना पडा। पूना मे गोखले की मृत्यु हो गई थी, जिसके समाचार गाधीजी को तार द्वारा शातिनिकेतन मे मिले। क्षण-भर के लिए तो वह स्तभित ही रह गये। गोखले उनके लिए क्या थे इसका पता उनकी 'आत्मकथा' के इस वाक्य से चलता है—"भारतवर्ष के तूफानी समुद्र मे कूदते हुए मुझे एक कर्णधार की आवश्यकता थी और गोखले-सरीखे कर्णधार के नीचे मैं सुरक्षित था।"[1] उन्होने साल-भर तक गोखले की मृत्यु का शोक पाला और जूते नही पहने। अपने गुरु और पथ-

[1] 'आत्मकथा' मडल, १९६०, पृष्ठ ४३९

प्रदर्शक गोखले की आज्ञा और इच्छानुसार उन्होने समिति मे दाखिल होने की एक वार फिर कोशिश की। लेकिन समिति की अतरग मडली मे उन्हे सदस्य वनाने के सवाल पर अव भी वैसा ही गहरा मतभेद था। तव श्रीनिवास शास्त्री को, जो गोखले के वाद समिति के अध्यक्ष वनाये गए थे, एक पत्र लिखकर गाधीजी ने समिति की सदस्यता का अपना आवेदन-पत्र वापस ले लिया। वह अपना विरोध करनेवालो को धर्म-सकट मे नही डालना चाहते थे।

१९१५ का पूरा साल गाधीजी व्यक्ति और समाज के सुधार और उन्नति के वारे मे ही लिखते और वोलते रहे, लेकिन भारत के राजनैतिक प्रश्नो पर इस वीच उन्होने, गोखले के आदेशानुसार, एक शव्द भी न कहा। इसका एक कारण यह भी था कि वह देश की राजनैतिक स्थिति का पूरी तरह अध्ययन कर लेना चाहते थे।

दक्षिण अफ्रीका के सघर्ष के कुछ साथी और सवधी भी गाधीजी के साथ भारत आ गये थे। वह इग्लैड मे थे तभी उनके भतीजे मगनलाल गाधी के नेतृत्व मे १८ लडको का एक दल यहा पहुच गया था। पहले वह गुरुकुल कागडी मे और फिर गुरुदेव के शातिनिकेतन मे रहे। गुरुदेव ने उन्हे वहुत स्नेह मे रखा और "लडको को भेजकर दोनो की साधना मे जीवित सपर्क स्थापित करने का" अवसर देने के लिए गाधीजी को धन्यवाद भी दिया। लेकिन गाधीजी तो इन सवको वसाने के लिए अपना ही आश्रम चाहते थे, जहा दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स की ही तरह वह सेवा, सादगी और त्याग का जीवन विता सके।

गोखले ने आश्रम के लिए आर्थिक सहायता का वचन दिया था, लेकिन फरवरी १९१५ मे उनकी मृत्यु हो गई। आश्रम के लिए निमत्रण तो राजकोट, कलकत्ता, हरिद्वार और भारत के हर भाग से आये, परन्तु गाधीजी ने अहमदावाद को पसद किया। वहा के उद्योगपतियो ने आश्रम की सहायता करने का वचन दिया था। अहमदाबाद गुजरात का प्रमुख नगर था और वहा वैठकर गाधीजी अपने प्रदेश की ज्यादा अच्छी तरह सेवा कर सकते थे। लेकिन सवसे वडा कारण तो यह था कि देश का प्रधान वस्त्रोद्योग केंद्र होने से कताई-वुनाई के प्रयोगो की वहा वडी सुविधा थी, और गाधीजी

कताई-बुनाई को ही देश के दरिद्र ग्रामीणों के उद्धार का अचूक सहायक उद्योग मानते थे।

अपनी पुस्तक 'सत्याग्रह-आश्रम का इतिहास'[१] में गांधीजी ने आश्रम को "धार्मिक आचरणवाला सामूहिक जीवन" कहा है। उन्होंने 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग किसी संकुचित अर्थ में नहीं किया है। गांधीजी के आश्रम में सम्प्रदायगत धार्मिकता और उससे जुड़े हुए अनुष्ठानों आदि के लिए कोई गुंजाइश हो ही नहीं सकती थी। 'धार्मिक आचरण' से उनका अभिप्राय उन एकादश-व्रतों से है, जिनका पालन प्रत्येक आश्रमवासी के लिए अनिवार्य था। उन एकादश व्रतों में सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य मानव-आत्मा को विकसित करनेवाले सार्वदेशिक और सार्वलौकिक गुण हैं, सभी देशों के निवासी चाहें तो इनपर आचरण करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। अस्पृश्यता-निवारण, शरीरश्रम और अभय की आवश्यकता उस समय के भारत की विशिष्ट राजनैतिक और सामाजिक स्थिति के कारण समझी गई थी। जाति-पांति से जर्जर समाज में अछूतों और अंत्यजों को छूना भी पाप समझा जाता था, हाथ से काम करने को हिकारत की निगाह से देखा जाता था, विदेशी सरकार का आतंक जनता पर हावी हो रहा था।

ये व्रत निरे यांत्रिक ढंग से नहीं, बुद्धिपूर्वक रचनात्मक ढंग से पालन करने के लिए बनाये गए थे, जिनकी सहायता से व्यक्ति अपना नैतिक और आध्यात्मिक विकास कर सके। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय (चोरी न करना) आदि सद्गुणों का महत्त्व वैसे तो पुरातन काल से चला आता है, लेकिन मनुष्य जाति जबतक इन्हें अपने दैनिक आचरण का अंग नहीं बना लेती, इनकी आवश्यकता और इनका मूल्य और महत्त्व बने रहेंगे।

सबसे पहले गांधीजी के सत्य को लें। वह इसे कितना अधिक महत्व देते थे, इसका पता उनकी इस बात से चलता है कि "सत्याग्रह आश्रम की स्थापना ही सत्य की खोज, सत्य के प्रयोग और सत्य पर आचरण के लिए की गई है।" लेकिन सत्य कोई बना-बनाया तैयार नुस्खा नहीं है। जो एक के लिए सत्य है, वह दूसरे के लिए नहीं भी हो सकता। गांधीजी इसे स्वीकार करते थे, इसीलिए उनका कहना था, "अपनी आत्मा की रोशनी में सत्य को पह-

---

१ 'मंडल' से प्राप्य

चानकर उसपर अमल करना सही भी है और हरेक का कर्तव्य भी।"

अहिंसा केवल यही नही है कि दूसरो को मारा-पीटा न जाय। यह तो अहिंसा की सिर्फ नकारात्मक धारणा हुई, जिसका स्वाभाविक परन्तु मूर्खता-पूर्ण निष्कर्ष यह होगा कि खाने, पीने और सास लेने मे भी असख्य जीवो की हत्या होती है! वास्तव मे अहिंसा की मूल प्रेरणा है प्राणी-मात्र के प्रति दया और प्रेम-भाव और इमीको सही तौर पर समझने और अपनाने की जरूरत है। एक बार गाधीजी ने साबरमती-आश्रम मे असह्य यत्रणा से छटपटा रहे बछडे के वध की आज्ञा दे दी थी तो भारत-भर के सनातनियो मे हो-हल्ला मच गया था। लेकिन गाधीजी तो जीवधारियो को शारीरिक आघात न पहुचाने को ही अहिंसा नही मानते थे। वह बहुत अच्छी तरह जानते थे कि बदूक, बम और तलवारे मानव-जीवन का उतना अधिक विनाश नही करती जितना ईर्ष्या, द्वेष और वैर-भाव, ये बुराइया तो मानवता को शिकजे मे कसकर और तडपा-तडपाकर मारती है। इसीलिए गाधीजी की अहिंसा का लक्ष्य मनुष्य-मात्र को कायिक और मानसिक दोनो तरह की हिंसा से मुक्त करना था।

ब्रह्मचर्य का व्रत उन लोगो के लिए था, जो अपनेको आजन्म जनसेवा के लिए सकल्पित कर देते थे। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या गाधी-जी मानव की प्रकृत चेष्टा और स्वाभाविक इच्छा पर कठोर नियत्रण नही लगा रहे थे? लेकिन यह नही भूलना चाहिए कि उन्होने ब्रह्मचर्य को शरीर-श्रम, समाज-सेवा, प्रार्थना और शयन तथा भोजन के कठोर नियमो के साथ सयम और अनुशासन के अन्तर्गत स्थान दिया था।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का व्रत तो इस तरह के आश्रम मे एक स्वयसिद्ध बात लगती है, लेकिन देखा जाय तो इसका सामाजिक अभिप्राय बहुत ही गहरा था। गाधीजी ने गीता से अपरिग्रह का आदर्श ग्रहण किया था। उस आदर्श के अनुसार तो "आदमियो को चिडियो के समान होना चाहिए, जिनके न घर होता है, न कपडे-लत्ते और न पास मे एक जून का खाना।" लेकिन जिस समाज मे हम रहते हैं उसमे तो इस स्थिति को पाना सभव नही है, इसलिए गाधीजी का कहना था कि मनुष्य को अपनी आव-श्यकताए घटाकर कम-से-कम कर देनी चाहिए। वह खुद धन-सम्पत्ति तो

पहले ही छोड चुके थे और अपनी भौतिक आवश्यकताओ को भी बहुत कम कर दिया था, यहातक कि अपने भोजन और रहने की कुटिया को अपने से अधिक दूसरे भूखो और आवासहीनो के लिए जरूरी मानते थे, और अपने लिए इन चीजो को दूसरे जरूरतमदो की आवश्यकताओ का 'अपहरण' या चोरी समझते थे।

एक बार साबरमती-आश्रम मे चोरी हुई और चोर कस्तूरबा का सदूक चुरा ले गये। इस घटना से गाधीजी के सामाजिक विचारो को समझने मे काफी सहायता मिलती है। उन्होने थाने मे चोरी की रिपोर्ट नही की, चोरी के लिए अपनेको ही जिम्मेदार ठहराया और इस विचार से चिन्तित हो उठे कि चोरो का यह विश्वास सच हो गया कि आश्रम मे चुराने लायक चीजे थी और वह (गाधीजी) पास-पडोस के लोगो को, जिनमे चोर भी शामिल थे, आश्रम की भावना के साथ एकाकार नही कर सके थे। उन्हे इस बात का भी आश्चर्य हुआ कि कस्तूरबा के पास कोई सदूक भी था। जब बा ने बताया कि उसमे अपने पोते-पोतियो के कपडे थे तो गाधीजी ने कहा, "अपने कपडे-लत्तो की खबरदारी वे खुद रखे या उनके मा-बाप, तुम्हे क्या मतलब !" उस दिन के बाद से गाधीजी के साथियो मे कस्तूरबा का ही सामान सबसे कम होता था।

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अस्वाद, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शरीरश्रम, सर्व-धर्म-समभाव और स्वदेशी—ये थे गाधीजी के एकादश-व्रत। सभी व्रतो का अपना प्रयोजन और अपना महत्व था। इनके नामोल्लेख से ही पता चल जाता है कि साबरमती-आश्रम के निवासियो का जीवन कितना सादा, सयमित और व्यस्त था। वहा कुछ-न-कुछ शारीरिक श्रम तो सभीको करना पडता था। कताई और बुनाई के विभाग थे, गोशाला थी और थोडी-बहुत खेती-बाडी भी थी। जूठे बरतनो की सफाई और कपडो की धुलाई हर आश्रमवासी खुद करता था। नौकर वहा कोई था ही नही। आश्रम का वातावरण किसी महत के मठ या अखाडे का नही, दयालु पर कसकर काम लेनेवाले कर्त्ता या कुलपति की छत्रछाया मे एक बडे परिवार का-सा था। गाधीजी उस परिवार के बापू थे और कस्तूरबा बा या मा। खासा पचमेल समुदाय वहा इकट्ठा हो गया था। छोटे-छोटे बच्चे

थे तो अस्सी-अस्सी वरस के वूढे भी, यूरोपीय और अमरीकी विश्वविद्यालयो के स्नातक थे तो संस्कृत के प्रकांड पडित भी, गाधीजी के कट्टर भक्त थे तो गाधीजी की हर वात मे और हर कदम पर सदेह करनेवाले शकालु भी। आश्रम एक ऐसी प्रयोगशाला थी, जहा के निवासियो पर गाधीजी अपनी नैतिक और आध्यात्मिक परिकल्पनाओ का परीक्षण किया करते थे। दुनिया के भीड-भडक्के से दूर जैसा लोगो के लिए परिवार होता है गाधीजी के लिए आश्रम भी ठीक वैसा ही था। वह परिवार रक्त या सपत्ति के कमजोर वन्धनो से नही, समान उद्देश्यो मे निष्ठा के दृढ धागो से वधा हुआ था। इस परिवार के कुलपति महान् जनवादी थे और उन्होने सवेरे और शाम की प्रार्थनाओ के भजन, गीत और श्लोको का चुनाव करने के लिए भी एक समिति नियुक्त कर दी थी। जव कोई प्रार्थना या शिकायत की जाती तो वह हँसकर कह देते थे, "भाई, मै तो आश्रम का मेहमान हू।" अपने आश्रम और सारे देश पर भी वह केवल नैतिक अधिकार के वल पर ही शासन करते थे। जव कोई गलती हो जाती या कोई आश्रम-वासी गभीर अपराध कर वैठता तो वह सारा दोप अपने सिर पर ले लेते थे और उपवास करके उसका प्रायश्चित्त करते थे।

आश्रम की प्रयोगशाला मे गाधीजी दूसरो पर ही नही स्वय अपने पर भी प्रयोग करते थे। उसका आश्रम अहिसक युद्ध के सैनिक नर-नारियो के प्रशिक्षण की सैनिक अकादमी भी थी। १६१५ के आरम्भ मे गाधीजी ने सी० एफ० एड्रूज से तो यही कहा था कि पाच साल तक सत्याग्रह करने का अवसर आता दिखाई नही देता, लेकिन अपने आश्रम मे वह युवक और युवतियो की मन और भावनाओ को पूरी तरह वश मे रखने की शिक्षा वरावर दिये जा रहे थे। गाधीजी सत्याग्रहियो के लिए ऐसी शिक्षा वहुत जरूरी समझते थे, जिससे विपरीत सयोगो मे भी वे अपना आपा न भूले और घृणा तथा हिसा को अपने पर हावी न होने दे। सावरमती-आश्रम ने आगे चलकर १६२० और ३० के सत्याग्रह-आदोलनो मे वही काम किया, जो फिनिक्स और टाल्स्टाय-फार्म ने दक्षिण अफ्रीका मे किया था। इस आश्रम ने रचनात्मक कार्यक्रम के लिए भी कार्यकर्त्ता दिये, जो आदोलनो के वीच की शिथिलता मे राष्ट्र के मनोवल को वनाये रखते थे।

: १६ :
भारतीय राष्ट्रीयता

जब गांधीजी ने भारतीय रंगमंच पर प्रवेश किया तो राष्ट्रीय आंदोलन इस देश के शिक्षित और व्यवसायी वर्गों में अपनी जड़ें जमा चुका था। वकालत की पढ़ाई के लिए गांधीजी के इंग्लैंड जाने के लगभग तीन साल पहले, दिसम्बर १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला जलसा बम्बई में हो चुका था। इंग्लैंड में और वहां से भारत लौट आने के बाद भी गांधीजी की राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। १८९४ से पूरे बीस बरस तक वह दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की अस्तित्व-रक्षा की लड़ाई में लगे रहे थे। वहां से भारत लौट आने के कुछ ही वर्षों के अन्दर, जिस राष्ट्रीय आंदोलन को वह केवल दूर से देखते रहे थे, उसके संचालन के सारे सूत्र उनके हाथ में आगये और मृत्युपर्यंत उन्हींके हाथों में रहे। १९१५ में जब गांधीजी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया उस समय के उसके स्वरूप और उसपर गांधीजी की छाप को ठीक से समझने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन की तात्कालिक पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

भारत पर हमेशा अंग्रेजों का अधिकार बना नहीं रहेगा, इस बात को टामस मनरो और माउंटस्टार्ट एल्फिन्स्टन-जैसे अंग्रेज प्रशासक बहुत पहले ही समझ गये थे। पश्चिमोत्तर सीमांत की ओर से भारत पर हमले तो अंग्रेजों के आने से पहले भी कई हुए और यहां सातसौ वर्षों से भी अधिक समय तक विदेशी राज्य करते रहे। परन्तु वे भारतीय समाज में खपकर उसीका एक अंग बन गये थे। टामस मनरो के कथनानुसार अत्यधिक हिंस्र और क्रूर विदेशी आक्रमणकारी भारत में आये, लेकिन 'सारी जनता को सिरे से अविश्वसनीय समझने' की सीमा तक भारतीयों से घृणा करनेवाला सिवाय अंग्रेजों के और कोई न आया। सर हेनरी लारेंस ने भी 'काले लोगों' को उन्हींके अपने देश में फालतू जगह घेरनेवाले और महज गोरे शासकों की सुख-समृद्धि के साधन समझने की अंग्रेज प्रशासकों की दूषित मनोवृत्ति

की वडी कटु आलोचना की थी।

१८५७ के सिपाही-विद्रोह ने तो गोरे-कालो के बीच की इस खाई को और भी गहरा कर दिया। उस विद्रोह मे किसी पक्ष ने अपने विरोधियो के साथ दया का व्यवहार नही किया और दोनो ओर से जवर्दस्त जुल्म ढाये गए। विद्रोहियो का सामना कर गदर को कुचलनेवालो की वीरता और कष्टो का अग्रेजो ने गुणगान किया तो शक्तिशाली विदेशी शासन के खिलाफ हथियार उठाने और लडते-लडते शहीद हो जानेवालो की याद और गुणगान भारतीय करते रहे। गदर अपने पीछे भय, आतक और गहरे सदेहो का वातावरण छोड गया। गवर्नर जनरल लार्ड कैनिग ने महारानी विक्टोरिया को "बिना भेदभाव के घोर प्रतिहिसात्मक दड" के दौर-दौरे की बात लिखी, फिर भी गोरे उसे व्यग्य से 'दयालु कैनिग' कहते थे, क्योकि वह उनकी अपेक्षानुसार भारतीयो को दड नही दे रहा था। यही सब देखकर तो 'टाइम्स' का सवाददाता इस दु खद निष्कर्ष पर पहुचा था कि 'दोनो जातियो मे पारस्परिक विश्वास शायद पनप ही न सकेगा"। गोरे फौजीशाहो और नौकरशाहो को पारस्परिक विश्वास को पनपाने की कोई 'चिता भी न थी, उन्हे चिता सिर्फ इस बात की थी कि इस मुल्क पर उनकी पकड इतनी मजबूत हो जानी चाहिए कि यह फिर कभी सिर उठा ही न सके। इसके लिए सेना मे गोरो का अनुपात काफी तादाद मे बढा दिया गया, भारतीय सैनिको मे फूट डालने के लिए उनमे पारस्परिक वैमनस्य को बढावा दिया जाने लगा। काले सिपाही ऐसे प्रदेशो से छाट-छाटकर भर्ती किये गये, जिनकी स्वामिभक्ति निस्सदेह थी और जिन्होने गदर-मे गोरो की दिल खोलकर मदद की थी। रियासतो से नरमी का वर्ताव किया गया और रियायते दी गई, जिससे वे भविष्य मे विद्रोह को रोकने मे सहायता दे। एक नई खाई ने गोरी नौकरशाही और भारतीय जनता को बिलकुल अलग-अलग कर दिया था। एक ओर था प्रभुता का उन्मत्त अहकार और हेकडी, दूसरी ओर थी जबर्दस्त दीनता और गुलामी। हालत यहा-तक गिर चुकी थी कि गदर के बाद के साठ वर्षो मे किसी भी अधिकारी अथवा गैर-अधिकारी अग्रेज से राजा राममोहनराय की तरह बराबरी के दावे से मिलने और बात करनेवाला कोई भारतीय पैदा ही न हुआ।

लोगो को निहत्थे करके और गोरी सैनिक टुकडियो की ताकत बढा-कर भारत मे शाति स्थापित कर दी गई थी। सगीन की नोको पर शाति भले ही कायम कर दी जाय, पर उन नोको पर उसे हमेशा के लिए बिठा-कर तो रखा नही जा सकता। विदेशी शासन के खिलाफ जनता के रोष को और सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक शक्तियो के उभार को कैंटूनमेंटो की शात-एकात दुनिया और 'सिविल लाइनो' मे बसनेवाले गोरे रोक नही सकते थे।

उन्नीसवी शताब्दी मे अग्रेजो के आधिपत्य के बाद भारत मे कुल ३१ अकाल पडे—सात शुरू के पचास वर्षो मे और चौबीस बाद के पचास वर्षो मे। १८७० से ८० के बीच पूर्वी बगाल और दक्षिण के किसानो की हालत इतनी खराब हो गई ओर उनमे इतना असतोष फैला कि सरकार को मज-बूर होकर किसानो की रक्षा और अकाल मे उनकी सहायता के कानून बनाने पडे। असतोष की यह गूज शहरो मे भी सुनाई देने लगी थी। जान स्टुअर्ट मिल आदि स्वतत्र विचारको की कृतियो से प्रभावित भारत का नवशिक्षित वर्ग अपने देश मे भी ब्रिटिश उदारतावाद के सिद्धातो को लागू हुआ देखना चाहता था, अग्रेजो की कथनी और करनी का भेद उससे छिपा न रहा।

आरभ मे तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी अग्रेजो के प्रसशक थे। अपने बचपन मे उन्होने इग्लैड मे जान ब्राइट के भाषण सुने थे और उनके विश्व-व्यापी महान् उदारतावाद से बडे प्रभावित हुए थे। युवक मदनमोहन मालवीय भी अग्रेजो की पार्लामेटरी प्रथा के प्रशसक और भक्त थे। जब मैकाले ने भारत मे पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश किया तो यहा के ब्रिटिश अधिकारियो का माथा ठनका था और उन्हे जो खतरा दिखाई दिया वह आगे चलकर ठीक ही साबित हुआ, वे जानते थे कि मैकाले की शिक्षा-पद्धति की उपज नये भारतीय तरुण मैकाले के उत्तराधिकारियो से भविष्य मे यह माग अवश्य करेंगे कि उन्हे अपनी महान् ब्रिटिश परपराओ के ही अनुसार भारत मे रहना और बरतना चाहिए। अग्रेज अधिकारी न तो उदारतावादी थे और न आमूल परिवर्तनवादी, लेकिन भारत का नवो-दित मध्यमवर्ग ब्रिटेन की सारी अच्छाइयो का सबध वहा की उदारतावादी

राजनीति और आमूल परिवर्तनवादी अर्थनीति के साथ जोडता था। पश्चिमी शिक्षा पाये हुए इन भारतीयो की पहली माग अपने देश के प्रशासन मे हिस्सा पाने की माग थी। १८७७-७८ मे भारत मे जो पहला सगठित आदोलन हुआ वह सरकारी नौकरियो मे भारतीयो को लिये जाने के ही प्रश्न पर था। बगाल के सुप्रसिद्ध वक्ता सुरेद्रनाथ बनर्जी ने देशव्यापी दौरा किया और सर्वत्र बडी-बडी सभाओ मे यह माग की कि इडियन सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षाए भारत और इग्लैड दोनो जगह होनी चाहिए।

इन्ही दिनो धार्मिक और सामाजिक सुधार के आदोलन भी शुरू हुए, जिन्होने देश के मध्यम वर्ग मे नया जोश भर दिया और भारत के स्वर्ण युग की ओर देशवासियो का ध्यान आकृष्ट किया। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहस और स्वामी विवेकानद ने हिन्दू धर्म का परिष्कार किया और भारतीयो को अपनी महान आध्यामिक एव सास्कृतिक धरोहर का दिग्दर्शन कराकर लबी दासता की सहज उपज राजनैतिक अवसाद और हीन भावना से मुक्त किया। मैक्स मूलर-जैसे विदेशी विद्वानो और आलकाट-जैसे थियोसोफिस्टो ने भारतीय दर्शन और धर्म के अक्षय कोष की ओर ध्यान आकृष्ट कर भारतीयो के आत्म-सम्मान मे वृद्धि की।

गदर के बाद से दोनो जातियो के अलगाव और गोरे शासको के दूर-दूर रहने की नीति से भारतीयो को पग-पग पर लाछित और अपमानित होना पडता था। उन दिनो किसी भी गोरे मालिक का अपने भारतीय नौकर या 'काले कुली' की जान लेकर अदालत से इस दलील के बल पर कि मरनेवाले की तिल्ली बढी हुई थी, बरी हो जाना मामूली बात थी। नौकरशाही के टुकडो पर पलनेवाले वर्ग की चाटुकारिता से नफरत भी की जाती थी और उन्हे बढावा भी दिया जाता था। एक दिलचस्प उदाहरण १८६८ का वह बाकायदा सरकारी प्रस्ताव है, जिसके द्वारा देशी सज्जनो को यूरोपियन काट का बूट या जूता पहनकर 'सभ्यवेश मे' दरबारो और दूसरे उत्सवो मे शरीक होने की इजाजत बख्शी गई थी और देशी जूतिया पहननेवालो पर यह पाबदी लगाई गई थी कि 'निर्धारित सीमा मे' आते ही उन्हे अपनी जूतिया उतार देनी चाहिए। अदालती कार्र-

वाइयो मे रग और वर्ण के आधार पर किये जानेवाले पक्षपात को खत्म करने के लिए लार्ड रिपन के 'इलवर्ट बिल' का गोरे अफसरो और अंग्रेज व्यापारियो ने जैसा जबर्दस्त विरोध किया, उसने भारतीय मध्यम वर्ग की आखे खोल दी। आखिर वह बिल पास हुआ और अपने सगठित आदोलन से सरकार को झुकाने की बात भारतवासियो की समझ मे आ गई।

देश मे आधुनिक उद्योगो की स्थापना से राष्ट्रीय उभार मे एक नया महत्त्वपूर्ण तत्त्व और जुटा। पहली सूती कपडा मिल बबई मे १८५४ मे स्थापित हुई और पचास वर्ष के अन्दर इनकी सख्या दोसौ हो गई। लेकिन भारतीय उद्योग इग्लैड के उद्योग से प्रतिस्पर्द्धा करे, यह ब्रिटिश सरकार फूटी आखो भी नही देख सकती थी। १८८२ मे सरकार ने कपडे पर से आयात-कर उठा लिया तो भारतीय उद्योगपति को कोई मुगालता नही हुआ। वह जानता था कि ऐसा करके सरकार भारतीय उपभोक्ता को कोई राहत नही पहुचा रही, बल्कि लकाशायर और मैनचेस्टर के ब्रिटिश उत्पादको की ही मदद कर रही थी।

इसे इतिहास की विडबना ही कहा जायगा कि भारत मे अग्रेजी राज्य को समाप्त करनेवाली इडियन नेशनल काग्रेस के प्रणेता और सस्थापक एक अग्रेज थे। भारतीय स्वाधीनता-सग्राम के इतिहास मे ए० ओ० ह्यूम के नाम से विख्यात और समादृत मि० एलन ओक्टेवियन ह्यूम भारत सरकार के कृषि-सचिव थे। तीस बरस से भी अधिक समय इडियन सिविल सर्विस मे नौकरी करने के बाद उन्होने जब अवकाश ग्रहण किया तो इनका ऐसा विश्वास था कि इग्लैड ने भारत मे शाति तो अवश्य स्थापित कर दी, लेकिन वह यहा की आर्थिक समस्याओ को हल नही कर सका, और सरकार का जनता से कोई सपर्क नही रह गया है। इसलिए प्रशासन मे भारतीयो का कुछ प्रतिनिधित्व नितात आवश्यक है। उन्होने एक ऐसे सगठन की आवश्यकता महसूस की "जो हमारे ही कार्य से उत्पन्न महान और विकसित होती हुई शक्ति की रोक-थाम कर सके।" उस समय के वाइसराय लार्ड डफरिन से मिलकर जब उन्होने सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नो पर चर्चा करने के लिए एक अखिल भारतीय वार्षिक सम्मेलन की अपनी योजना बताई तो वाइसराय ने यह सलाह दी कि उस सम्मेलन मे प्रशासन-सबधी

प्रश्नो पर भी चर्चा होनी चाहिए। ह्यूम साहब ने भारत के सभी प्रमुख नगरो का दौरा किया, इग्लैड भी गये और प्रथम अधिवेशन के निर्धारित समय पर लौट भी आये। २८ दिसम्बर, १८८५ को कलकत्ता के प्रमुख बैरिस्टर श्री डब्ल्यू सी० वनर्जी की अध्यक्षता मे भारत के विभिन्न भागो से आये हुए वहत्तर प्रतिनिधियो का सम्मेलन हुआ। वनर्जी महाशय ने अपने भाषण मे कहा कि "यूरोप के ढग की शासन-प्रणाली की अभिलाषा करना राजद्रोह नही है।" १८८५ मे पहले प्रस्ताव पर जो पहला भाषण दिया गया था उसका आरम्भ इस प्रकार होता है—"भारत मे शक्तिशाली ब्रिटिश शासन लाने के लिए उस करुणा-निधान परम पिता परमेश्वर को कोटिश धन्यवाद।" ऐसे राजभक्तिपूर्ण भाषणो की भरमार के ही कारण आज का समालोचक उस समय की काग्रेस की कार्रवाइयो को 'राजनीतिक भिखमगापन' कहता है।

काग्रेस के शुरू के पच्चीस अधिवेशनो मे से पाच की अध्यक्षता अग्रेजो ने की थी। १८९२ मे लदन मे भी एक अधिवेशन करने का सुझाव पेश हुआ था और १९११ मे यदि उनकी पत्नी की मृत्यु न हो जाती तो रामजे मैक्डानल्ड उस वर्ष के अधिवेशन की अध्यक्षता करते। उन दिनो काग्रेस के अधिवेशनो मे प्रतिवर्ष जो प्रस्ताव पारित किये जाते थे, उन्हे आज के हिसाव मे तो जवानी जमा-खर्च ही कहा जायगा। लेकिन उस समय गोरी नौकरशाही उन निर्दोष लच्छेदार भाषणो को भी खतरनाक समझती थी। जल्दी ही सरकार का सरपरस्ती और बढावा देने का रुख वदला और कुछ-कुछ नाराजी का हो गया। १८८५ मे काग्रेस के जन्म पर आशीर्वाद देने-वाले लार्ड डफरिन ने तीन ही वर्ष वाद एक "बहुत छोटा-सा अल्पमत" कह-कर उसका निरादर किया। १८९० मे सरकारी अधिकारियो को यह आदेश दिया गया कि वे काग्रेस के अधिवेशनो मे शरीक न हो। १८९८ मे लार्ड एल्गिन ने शिमला के युनाइटेड सर्विसेज क्लब मे भाषण करते हुए कहा, "भारत तलवार से जीता गया है और तलवार से ही उसपर कब्जा रहेगा।" लार्ड एल्गिन के उत्तराधिकारी लार्ड कर्जन ने सन् १९०० मे भारत के उप-निवेश सचिव को यह आश्वासन दिया कि "काग्रेस टूट रही है और मेरी परम अभिलाषा है कि अपने भारत मे रहते हुए इसके शातिपूर्वक निधन मे सहा-

यता करू ।"

लार्ड कर्जन ने अवश्य सहायता की, लेकिन काग्रेस के मर जाने मे नही, वरिक उसमे और राष्ट्रीय आदोलन मे नये प्राण पूरित करने मे। वग-भग का प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से जो महत्व रहा हो, वगालियो ने उसे अपनी एकता पर आक्रमण ही ममझा और एक प्रचण्ड विरोधी आदोलन उठ खडा हुआ। उम आन्दोलन का स्वरूप था, विदेशी (ब्रिटेन मे बनी वस्तुओ) का वहिष्कार , और अग्रेजो की हत्याओ की छुटपुट घटनाए भी घटी।

१६०५ से काग्रेस मे गरम और नरम दल का सघर्प आरभ हुआ। १६०६ मे फूट को टालने के लिए वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी को ८१ वर्ष की उम्र मे इग्लैड से बुलाकर काग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन का अध्यक्ष वनाया गया। दूसरे वर्ष काग्रेस का अधिवेशन सूरत मे वडी ही तनावपूर्ण स्थिति मे हुआ। नरम दल को अधिवेशन मे अपने वहुमत का विश्वास था तो गरम दल को अपनी देशव्यापी लोकप्रियता का। पहले ही दिन हगामा हो और उस गडवडी मे अधिवेशन को स्थगित कर देना पडा। अधिवेशन मे आये हुए १६०० प्रतिनिधियो मे नरम दल के समर्थको की सख्या एक हजार के लगभग थी। इन समर्थको को जमा करके नरम दलवालो ने पुलिस के सरक्षण मे अपना एक कन्वेन्शन किया और विधान पास करके प्रचलित शासन-पद्धति मे 'वैधानिक उपायो से' सुधारो के प्रति अपने विश्वास को फिर से दुहराया। इस पहली मुठभेड मे गरम दलवालो की हार हुई।

सूरत-काग्रेस के एक निपुण पर्यवेक्षक वैलेंटाइन शिरोल के मतानुसार "सूरत मे जो कुछ हुआ वह देशव्यापी घटना-चक्र का एक मामूली-सा प्रतिविव ही था स्वराज्य का नारा ब्रिटिश भारत के हर सूवे मे गज रहा था।' अग्रेजो और राजभक्त भारतीयो की छुट-पुट हत्याओ मे इस असतोष की अभिव्यक्ति हो रही थी। भाषाओ के अखवार, खास तौर पर श्री वाल गगाधर तिलक का मराठी 'केसरी' और श्री अरविंद घोष का वगाली 'वदेमातरम्' जनता के जोश को उभाड रहे थे। कुछ आतकवादी समितिया भी यहा-वहा वन गई थी। वाद मे आतकवादी क्रातिकारी आदोलन की शाखा-

प्रशाखाओ की जाच-पडताल के लिए सरकार ने जो समिति नियुक्त की थी उसकी राय मे यह आदोलन "काफी फैला हुआ, मजबूत और खूब सोच-विचारकर चलाया जा रहा था।" गाधीजी उन दिनो दक्षिण अफ्रीका मे थे। अपने देश मे आतकवाद की इस बढती हुई लहर मे वह इतने चिंतित हुए कि भारत की राजनैतिक हलचलो के तटस्थ पर्यवेक्षक होते हुए भी उन्होने अपने पत्र 'इडियन ओपिनियन' मे भारतीय आतकवादियो को समझाकर सही राह पर लाने की दृष्टि से एक लेखमाला शुरू कर दी।

इधर सवैधानिक सुधारो के मीठे वादो से फुसलाकर सरकार नरम-दल को अपने साथ बनाये रखने की कोशिश कर रही थी। लेकिन सुधार के वादे इतने मामूली होते और इतनी देर मे किन्तु-परन्तु के साथ पूरे किये जाते कि उनका सारा महत्व ही नष्ट हो जाता था। ऐसे वादो से जनता को सतोष तो क्या ही होता, सुधारो की उसकी भूख और तेज हो जाती थी। मिटो-मार्ले सुधारो के कारण धारासभाओ मे निर्वाचितो की सख्या बढ जरूर गई थी, लेकिन बहुमत तो अब भी सरकारी पक्ष का ही था। लार्ड मार्ले के कथनानुसार सरकार "पार्लामेटरी मताधिकार का नाम भी नही लेना चाहती थी। हम पार्लामेंट नही कौसिल चाहते थे।" और सबसे बुरी बात तो यह हुई कि साप्रदायिकता के आधार पर मुसलमानो का पृथक् निर्वाचन का अधिकार मजूर कर लिया गया। जनवाद के जन्म के साथ ही उसमे विष घोल दिया गया।

१९०० के बाद के देशव्यापी राजनैतिक जागरण और उत्साह की हवा मुसलमानो को भी लग चुकी थी। मुस्लिम लीग की स्थापना १९०६ मे हुई। शुरू से ही लीग मुसलमानो की वफादारी और कौसिलो तथा नौकरियो मे मुसलमानो की तादाद बढाने पर जोर देती रही थी। लेकिन लीगी नेताओ की नई पीढी बुजुर्गों के पहनाये वफादारी के चोगे को नोचने लगी थी। उनके असतोष का कारण स्थानीय या घरेलू बिलकुल नहीं था, वह कारण था हिंदुस्तान की सर जमीन के बाहर का। गदर ने मुसलमानो के हुकूमते इलाहिया के सारे सपनो को चूर-चूर कर दिया था, अब बाहर के मुस्लिम देश ही उनकी प्रेरणा का स्रोत रह गये थे। लेकिन खुद उन देशो की हालत अच्छी नही थी। मध्यपूर्व की घटनाओ ने भारतीय मुसलमानो

को बुरी तरह व्यग्र कर दिया था। फारस (वर्तमान ईरान) को रूस और इग्लैंड ने दो प्रभाव-क्षेत्रो मे बाट लिया था। बलकान-युद्ध से अग्रेजो ने अपनेको दूर ही रखा था, परन्तु महान तुर्क साम्राज्य इस लडाई मे अपने कुछ यूरोपीय इलाके खो बैठाया। बलकान की लडाई इतिहास के लेखक की दृष्टि मे तो पुराने-धुराने तुर्क साम्राज्य और दक्षिण पूर्वी यूरोप मे राष्ट्रीयता की उभरती हुई शक्तियो की जोर आजमाई थी, लेकिन भारतीय मुसलमानो के लिए वह सिर्फ ईसाई ताकतो के खिलाफ इस्लाम के जीवन-मरण की जग थी। इकबाल और शिबली-जैसे शायरो ने और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और मोहम्मद अली-जैसे आलिम फाज़िल (विद्वान्) और सियासतदानो ने मुस्लिम मध्यमवर्ग को दुनिया मे इस्लाम पर मडरा रहे खतरो से आगाह किया। नतीजा यह हुआ कि मुसलमानो की वफादारी के कौल का रग फीका पडने लगा। १९१३ मे मुस्लिम लीग ने अपने उद्देश्य की घोषणा की तो उसमे सिर्फ मुसलमानो के अधिकारो की रक्षा की ही बात नही थी 'हिंदुस्तान के लिए मौज़ू हुकूमत खुदइख्तियारी को हासिल करने की बात भी कही गई थी। उस साल काग्रेस के अध्यक्ष एक मुसलमान, नवाब सयद मुहम्मद थे। उन्होने लीग के इन विस्तारित उद्देश्य का स्वागत किया और यह अभिलाषा प्रकट की कि दोनो सस्थाओ को देश-हित के लिए पारस्परिक सहयोग करना चाहिए।

१९१४ मे जब पहला विश्व-युद्ध शुरू हुआ तो भारतीय मुसलमान अच्छी-खासी दुविधा मे पड गये। दुविधा का कारण एक मुस्लिम नेता के शब्दो मे यह था कि "हमारे खलीफा (तुर्की की सरकार) और हमारे बादशाह (इग्लैंड की सरकार) मे जग छिड गई है।" कहने का तात्पर्य यह कि मुस्लिम मध्यमवर्ग की राजनैतिक चेतना को बाहर की घटनाओ ने उभारा और हिंदू मध्यमवर्ग की राजनैतिक चेतना को देश की छाती पर बैठी हुई विदेशी सरकार के खुले-मुदे कृत्यो ने। १९१६ मे जब काग्रेस और लीग का समझौता हुआ तो असतोष की ये दोनो धाराए मिलकर एक हो गई।

लेकिन १९१५ मे जब गाधीजी लौटकर भारत आये तो देश के राजनैतिक आदोलन मे मदी थी। काग्रेस पर फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोखले-जैसे नरमदली नेताओ का आधिपत्य था। गरम दल के

नेता तिलक अभी जेल से छूटे ही थे और चुप थे। पजाब-केसरी लाला लाजपतराय देशनिकाले की सजा भुगत रहे थे। अरविंद घोष राजनीति से सन्यास लेकर पाडिचेरी जा बैठे थे। तुर्की के मामले मे अग्रेजी नीति के कटु आलोचक मौलाना अबुल कलाम आजाद और अली-बधु कुछ ही महीनो मे जेल मे ठूस दिये गए। इनसब कारणो से राजनैतिक आदोलन काफी शिथिल हो गया था और युद्ध मे उलझी हुई अग्रेज सरकार के लिए राष्ट्रीय आदोलन की यह शिथिलता वरदान ही थी।

१७
शानदार अलगाव

१९१५ के शुरू के दिनो मे देश की राजनीति मे जो सुस्ती घर कर गई थी, अगले वर्ष होमरूल आदोलन के छिडते ही वह काफूर हो गई। इस आदोलन की प्रवर्तक सुप्रसिद्ध थियोसोफिस्ट नेता, अपने समय की शिक्षा-विशेषज्ञ श्रीमती एनी बेसेट मूलत आयरिश थी। वह भारत मे आकर बस गई थी और यहा की सामाजिक एव सास्कृतिक प्रगति के लिए अपने जीवन के अन्तिम दिनो तक काम करती रही। अपने राजनैतिक और सामाजिक कार्यो के द्वारा उन्होने यहा काफी ख्याति अर्जित कर ली थी। वह बहुत अच्छी लेखिका, कुशल वक्ता और अप्रतिम सगठनकर्त्री भी थी। प्रसिद्ध अग्रेजी नाटककार जार्ज बर्नार्ड शा ने एक बार उनकी कार्यक्षमता का उल्लेख करते हुए कहा था, "स्त्री होकर भी वह तीन आदमियो के बराबर काम कर सकती हैं।" श्रीमती बेसेट ने पहला विश्व-युद्ध छिडने के कुछ महीने पहले लदन की एक सभा मे कहा था, "भारत की राजभक्ति का मूल्य भारत की स्वतत्रता है।" होमरूल के प्रस्तावित आदोलन के बारे मे अपने अग्रेजी दैनिक 'न्यू इडिया' मे लिखना और प्रचार करना तो उन्होने १९१८ की वसत से ही आरम्भ कर दिया था। उसी वर्ष दिसबर मे, जब काग्रेस का अधिवेशन हुआ तो अपने भावी आदोलन के पक्ष मे लोकमत बनाने और समर्थन प्राप्त करने के लिए वह उसमे शरीक भी हुई। काग्रेस के नरम दल ने विरोध किया

परन्तु सितबर १९१६ मे उन्होने होमरूल लीग[1] की स्थापना कर ही दी।

श्रीमती एनी बेसेंट ने गाधीजी को भी होमरूल लीग के संस्थापको मे शरीक करना चाहा था, लेकिन वह लडाई के समय ब्रिटिश सरकार को परेशानी मे डालनेवाले किसी भी राजनैतिक आदोलन के पक्ष मे नही थे। सवैधानिक सुधारो का समय, गाधीजी की राय मे, युद्धकाल मे नही, उसके बाद आता था। उनका विश्वास था कि युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वशासन का अधिकार अवश्य मिल जायगा। इसके विपरीत श्रीमती बेसेंट की यह राय थी कि ब्रिटेन जबतक युद्ध की मुसीबत मे फसा हुआ है तभी तक उसे भारत को स्वतत्र करने के लिए मजबूर किया जा सकता है। इसका गाधीजी ने यह जवाब दिया था, "आपको अग्रेजो पर अविश्वास हो सकता है श्रीमती बेसेंट मुझे नही, और लडाई के जमाने मे मै विरोध करनेवाले किसी भी आदोलन की मदद नही करूगा।"

श्रीमती एनी बेसेंट की होमरूल लीग का उद्देश्य सवैधानिक उपायो से भारत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अतर्गत स्वराज्य प्राप्त करना था। आज यह उद्देश्य अवश्य उतना प्राणवान नही लगेगा, लेकिन १९१६-१७ मे इसने भारतीय राजनीति मे बिजली का-सा असर किया था। देश की पढी-लिखी जनता इस आदोलन मे इसलिए तेजी से खिच आई थी कि कुछ सीमा तक तो यह उनकी आकाक्षाओ को ध्वनित करता था, युद्ध-जनित व्यापक असतोष को व्यक्त करने का एक माध्यम भी था। श्रीमती बेसेंट की सग-ठनात्मक क्षमताओ और प्रचार-सबधी सूझ-बूझ ने जहा शिक्षित वर्ग की राज-नैतिक चेतना को उद्बुद्ध किया वही देश के राजनैतिक जीवन मे जोश और उत्साह भी भर दिया।

तत्कालीन भारत-सरकार होमरूल आदोलन की प्रगति से कितनी चितित हो उठी थी, इसका पता उस समय के होम मेबर (गृहमत्री) स-

---

[1] श्रीमती बेसेंट के पहले, २२ अप्रैल १९१६ को तिलक भी एक होमरूल लीग स्थापित कर चुके थे। १९१४ में ७ बरस की कठोर नजरबन्दी से रिहा होकर वह लौट आये थे। १९१६ मे, देश के राजनैतिक जीवन को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से, उन्होंने होम रूल लीग स्थापित की, और जेल से मुक्त होने पर देशवासियों से जो एक लाख रुपये की थैली मिली थी, वह लीग को दे दी।—अनुवादक

रेजिनाल्ड क्रेडॉक के निम्न विचारो से भली-भाति चल जाता है। ब्रिटिश सरकार के खिलाफ समाचार-पत्रो के विषैले प्रचार की वात करते हुए वह कहते हे कि होमरूल की सिफारिश सवैधानिक सुधार के रूप मे उतनी नही की जाती जितनी भारत मे ब्रिटिश शासन की सारी बुराइयो और शिकायतो से छुटकारा दिलानेवाले एकमात्र उपाय के रूप मे। आदोलन के प्रवल जन-समर्थन से ब्रिटिश शासन वडी मुश्किल मे पड गया। मिस्टर क्रेडाक के शब्दो मे "सारा शिक्षित समुदाय पूरी तरह श्रीमती वेसेट और तिलक के पीछे है। नरमदलीय नेताओ मे से जिनका प्रभाव था, वे अव रहे नही, एक-एक कर मर गये और जो अव हैं उनका शिक्षितवर्ग पर कोई असर नही है।"

श्रीमती वेसेट का 'घमडिन' और 'नेतृत्व की भूखी' तथा तिलक का 'ब्रिटिश-मात्र से घोर घृणा करनेवाले' के रूप मे उपहास करनेवाले क्रेडॉक को इन दोनो नेताओ के द्वारा उत्पन्न की हुई प्रशासकीय और सवैधानिक समस्याओ की गभीरता को भी स्वीकार करना पडा, "भारत मे राजद्रोह किनारे को तोड-फोड जानेवाली समुद्री लहरो की तरह है। १९०७-८ मे जोर का रेला आया और तोड-फोडकर लौट गया। अव फिर रेला आ रहा है, जो लगता है कि काफी ऊपर तक चढकर तोड-फोड करेगा। अक्षत भूमि को वचाने के लिए हमे जल्दी से बाध वना लेना चाहिए।"

यह होमरूल आदोलन का ही प्रभाव[१] था कि अगस्त १९१७ मे वादशाह सलामत की सरकार को "साम्राज्य के अविच्छिन्न अग के रूप मे भारत को क्रमश उत्तरदायी शासन प्रदान किये जाने की दृष्टि से प्रशासन के हर विभाग मे भारतीयो के उत्तरोत्तर समावेश और देश मे स्वशासन की

[१] होमरूल आदोलन का एक शुभ परिणाम यह भी हुआ कि राष्ट्र के कार्यकर्ताओं में एक केंद्र में मिलकर काम करने की अभिलाषा जाग उठी और १९१६ के दिसम्बर महीने में लखनऊ के काग्रेस अधिवेशन में गरम और नरम दोनों दलों के नेता आपसी मतभेद को भुलाकर राष्ट्र की हितचिंता के लिए एक मच पर इकट्ठा हुए उसमें सुरेन्द्रनाथ वनर्जी, लाला लाजपतराय, श्रीमती वेसेंट और तिलक सभीने भाग लिया। गाधीजी उसमें प्रतिष्ठित दर्शक के ही रूप में शरीक हुए थे।

—अनुवादक

संस्थाओं के क्रमिक विकास" को अपनी भारत-सबंधी नीति का लक्ष्य घोषित करना पड़ा।

गांधीजी अभी तक भारतीय राजनीति के दर्शक ही थे। उन्होंने होम-रूल आंदोलन में कोई भाग नहीं लिया और १९१६ की लखनऊ-कांग्रेस के अधिवेशन में लीग और कांग्रेस के बीच जो समझौता हुआ, उसमें भी उनका कोई हिस्सा नहीं था। इस समय राष्ट्रीय आंदोलन पर छाप गांधीजी की नहीं तिलक और श्रीमती बेसेंट की थी और सरकार के निकट भी उन्हीं दोनों का महत्व था। १९१७ में एडविन मांटेगू ने अपनी डायरी में लिखा था कि "इस समय भारत में सबसे प्रभावशाली व्यक्ति तिलक ही हैं।" गांधीजी के बारे में मांटेगू की राय थी कि 'वह निरे समाज-सुधारक हैं। जनता के कष्टों को मिटाने की उनकी अभिलाषा बड़ी तीव्र है और वह यह काम अपनी प्रसिद्धि के लिए नहीं, देशवासियों की दशा सुधारने की शुभ निष्ठा से करते हैं। कुलियों-जैसे कपड़े पहनते हैं। आगे आने से बचते हैं, और अपनी संपन्नता से विमुख हवा में जीनेवाले शुद्ध आदर्शवादी हैं।'

तत्कालीन राजनीति में गांधीजी की ख्याति न होने का एक कारण तो यह था कि उन्होंने युद्धकाल में किसी राजनैतिक आंदोलन में भाग न लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया था, और दूसरे, उनके विचार और काम करने के तरीके कांग्रेस के उस समय के नरम और गरम दोनों ही दलों के विचारों और कार्यप्रणालियों से मेल नहीं खाते थे। गोखले ने १९०९ के कांग्रेस अधिवेशन में 'भारतीय मानवता का अत्यधिक विकसित रूप" कहकर उनकी प्रशंसा की थी, लेकिन १९१५ में गोखले के ही घनिष्ठ सहयोगियों ने गांधीजी को भारत-सेवक-समिति का सदस्य बनाने से इनकार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका के आंदोलनों की वजह से कांग्रेस का उग्र पक्ष उनकी इज्जत जरूर करता था, परन्तु एक तो वह गोखले के साथी समझे जाते थे और दूसरे युद्धकाल में अंग्रेजों को संकट में न डालने की उनकी नीति लोगों की समझ में नहीं आती थी, इसलिए गरम दलवालों में वह लोकप्रिय नहीं हो पाये।

१९१५ से १८ तक के समय में गांधीजी अलग-अलग भले ही रहे हों, परंतु उनके व्यक्तित्व, राजनैतिक सिद्धांतों और नीतियों का निर्माण तो हो ही चुका था और स्थिरता भी प्राप्त कर चुका था। होमरूल आंदोलन में

अपने शरीक न होने का कारण वतलाते हुए उन्होने एक मित्र से कहा था, "इस उम्र मे जव ज्यादातर मामलो मे मेरी राय कायम हो चुकी है, मैं किसी सस्था या सगठन की नीति पर असर डालने के ही लिए उसमे शरीक हो सकता हू, उसके असर के नीचे चलने के लिए नही। लेकिन इसका यह मतलव नहीं कि मै नई रोशनी से वचना चाहता हू। मेरे कहने का मतलब तो सिर्फ इतना ही हे कि नई रोशनी इतनी तेज जरूर होनी चाहिए कि मुझे मोहित कर सके।"[1]

और सत्याग्रह के जाज्वल्यमान प्रकाश से अधिक तेज रोशनी और हो भी क्या सकती थी! पिछले दस वर्षो से निजी और सार्वजनिक जीवन मे वह इसी-के प्रकाश मे अपना रास्ता खोजते और पाते रहे थे। अन्याय को मिटाने, वुराइयो को दूर करने और झगडो को सुलझाने का यह एक अचूक उपाय स्वय उन्होने खोज निकाला था। दक्षिण अफ्रीका मे इसे सफलता से आजमा चुकने के वाद यहा देशवासियो द्वारा मदद मागी जाने पर वह इससे इनकार कैसे कर सकते थे? और यही कारण था कि युद्धकाल मे राजनैतिक आदोलन से अपनेको अलग रखने का निर्णय किये रहने के वाद भी जनता की जिन तकलीफो को मिटाना एकदम जरूरी हो गया था, उनके लिए वह फौरन तैयार हो गये।[2]

---

[1] १९४४ में गाधीजी की ७५वीं वर्षगाठ पर प्रकाशित ग्रथ 'गाधीजी' में जी० ए० नटेसन का लेख 'सस्मरण', पृष्ठ २१५।

[2] भारत लौटकर भी गाधीजी नेटाली गिरमिटियों और गिरमिट की अर्द्ध गुलामी की प्रथा को नहीं भूले थे। चपारन के किसानों, अहमदावाद के मजदूरों और खेडा सत्याग्रह की लडाइया लडने से पहले उन्होंने इस कलकित प्रथा को उठवाने के लिए देशव्यापी आदोलन किया। २५ फरवरी, १९१० को भारत की वडी कौसिल में गोखले का प्रस्ताव पास हो जाने से भी गिरमिट की प्रथा वद नहीं हो पाई थी। गाधीजी के भारत आने पर मालवीयजी ने १९१६ में फिर वडी कौसिल में इस प्रथा को उठाने का प्रस्ताव पेश किया, तो लार्ड हार्डिग ने उसे स्वीकार कर यह आश्वासन दिया कि "वक्त आने पर" इसे उठा दिया जायगा। इसके खुलासे की माग करने पर उन्होंने कहा कि "दूसरी व्यवस्था करने में जितना समय लगेगा उतने समय में"। तव फरवरी १९१७ में मालवीयजी ने इस प्रथा को तुरत उठा

सहायता की पहली पुकार बिहार के चपारन जिले मे आई, जिनकी
गाधीजी ने कभी कल्पना भी नही की थी। वहा के किसानो मे नील की
खेती को लेकर असतोष बहुत तीव्र हो उठा था, जो निलहे गोरो के खिलाफ
भारतीयो के जातीय रोष और घृणा का रूप धारण करता जा रहा था।
१९१६ के दिसबर महीने मे, कलकत्ता के काग्रेस-अधिवेशन मे, जब चपा-
रन की समस्या पर चर्चा हुई तो गाधीजी भी वहा उपस्थित थे। चपारन
की बहस मे हिस्सा लेने के लिए कहे जाने पर, उन्होने इसलिए मना कर
दिया कि उन्हे समस्या की कोई जानकारी नही थी, चपारन का उन्होने
नाम-भर सुना था और सिर्फ इतना जानते थे कि वह बिहार मे कही है।
अधिवेशन के बाद, चपारन के एक किसान, राजकुमार शुक्ल ने उन्हे वहा
चलकर सारी स्थिति स्वय देखने का आग्रह किया। शुक्लजी बराबर गाधी-
जी के पीछे लगे रहे और उनके साथ-साथ सारे देश का दौरा किया, और
अत मे उन्हे चपारन ले जाकर ही माने। वहा की समस्या वास्तव मे बडी
उग्र और जटिल थी, और लगभग पिछली पूरी शताब्दी से निलहे गोरो
और नील की खेती करनेवाले किसानो मे झगडा और मनमुटाव चला

देने का कानून बडी कौंसिल में पेश करने की इजाजत मागी, जो वाइसराय ने नहीं
दी। इसलिए गाधीजी ने इस प्रश्न को लेकर भारत का दौरा शुरू किया। पहला
सभा बम्बई में श्री जहागीर पेटिट, सर लल्लूभाइ शामलदास, डा० राट आदि के
सयोजकत्व में हुई और "३१ जुलाई १९१७ तक इस प्रथा को बद कर देने का
प्रस्ताव पास किया गया। बम्बई से लेडी ताता के नेतृत्व में महिलाओं का एक
प्रतिनिधि मडल भी वाइसराय से मिलने के लिए गया। गाधीजी कराची, कलकत्ता
और सभी प्रमुख नगरों में गये। सब जगह बडी-बडी सभाए हुई और इसवाला
प्रस्ताव पास किया गया। स्वय गाधीजी के शब्दों में "सब जगह अच्छा-खासा
सभाए हुई और सर्वत्र लोगों में भरपूर उत्साह था। सन् १८९४ में इस प्रथा
का विरोध करनेवाली पहली दरख्वास्त मैंने तैयार की थी और यह उम्मीद रखी
थी कि किसी दिन यह अर्द्ध-गुलामी जरूर रद्द होगी।" और १० अप्रैल १९१७ को
युद्धकालीन कार्रवाइ के रूप में गिरमिटियों की भरती बद करने की घोषणा वाइ-
सराय को करनी पडी। वैसे पूरी तरह तो इस प्रथा का अत १ जनवरी, १९२० को
ही हुआ। —अनुवादक

आता था ।

समस्या की कुछ जानकारी तो राजकुमार शुक्ल ने रास्ते मे करा ही दी थी, अब गाधीजी खुद मौके पर जाकर जाच-पडताल करना चाहते थे। पटना से वह मुजफ्फरपुर और वहा से चपारन जिले के सदर मुकाम मोतीहारी पहुचे। अधिकारियो ने उनकी उपस्थिति को जिले की शाति भग होने का खतरा करार देकर 'पहली गाडी से' जिला छोड जाने की नोटिस दे दी। गाधीजी ने इस आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया १८ अप्रैल, १९१७ को मुकदमा चलानेवाले मैजिस्ट्रेट के सामने उन्होने यह बयान दिया—"कानून का आदर करनेवाले प्रजाजन की हैसियत से तो मुझे जो हुक्म दिया गया है, उसका पालन करने की मेरी स्वाभाविक इच्छा होती है और होनी भी चाहिए। पर मुझे लगा कि वैसा करके तो मैं जिन लोगो के लिए यहा आया हू उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नही कर पाऊगा इस बात को मैं अच्छी तरह समझता हू कि हिंदुस्तान के लोक-जीवन मे मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखनेवाले आदमी को कोई कदम उठाकर उदाहरण उपस्थित करने मे बडी सावधानी रखनी चाहिए आज्ञा का उल्लघन करने मे मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नही, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बडे कानून को स्वीकार करता है, अर्थात् अतरात्मा की आवाज, उसका अनुसरण करना है।"

तिरहुत सभाग के आयुक्त ने, क्योकि चपारन उसके सभाग का जिला था, अपने वरिष्ठ अधिकारियो से परामर्श किये बिना गाधीजी की गिरफ्तारी का हुक्म दे दिया था, इसलिए भारत-सरकार ने उस हुक्म को रद्द कर दिया और मुकदमा उठा लिया गया। अब गाधीजी किसानो की शिकायतो की जाच-पडताल के काम मे लग गये। उन्होने किसानो के बयान लेना शुरू किया। वह हर किसान से कडी जिरह करते, हर बयान की बहुत बारीकी से छान-बीन करते, कोई बात को ज़रा-सा भी बढा-चढाकर कहता तो उसे फौरन वही रोक देते, और जो जिरह मे उखड जाता उसका बयान तो कलमबद्ध ही नहीं किया जाता था। उस समय के एक अग्रेज आई० सी० एस० अफसर डब्लू० ए० लुइस ने, जो बेतिया का सब-डिवि-जनल आफीसर था, चपारन के जिला मैजिस्ट्रेट डब्लू० एच० हिकाक को

जिन्होंने अपने २६ अप्रैल, १९१७ के पत्र मे गाधीजी की कार्य-पद्धति और उनके व्यक्तित्व का बडा ही सुन्दर और यथार्थ चित्रण किया है—

"मि० गाधी कल, रविवार की शाम, यहा पहुचे और आज, सोमवार के सवेरे मुझसे मिलने के लिए आये। उनका कहना है कि रैयतो पर इलाके में ज्यादतिया हो रही है, और मि० गाधी की जाच-पडताल का मकसद जैसा कि उन्होंने मुझे बताया, रैयतो को उनकी तकलीफो और उनपर हो रही ज्यादतियो से निजात दिलाना है। मि० गाधी ने मुझे यह भी यकीन दिलाया कि उनकी जाच-पडताल बिलकुल गैर-जानिबदार होगी।

'बुधवार को दुपहर के बाद मैं खुद उस गाव मे गया जहा वह लोगो के बयान ले रहे थे और थोडी देर तक उनके साथ भी रहा। मि० गाधी हर बयान देनेवाले से कडी जिरह करते है, क्योकि वह बयानो मे ऐसी कोई बात दर्ज नहीं करना चाहते, जो गलत हो और काटी जा सके। बाबू ब्रजकिशोर भी उनके साथ है और ठीक उन्हीके तरीके पर काम कर रहे हैं वह बयानो को कलमबद्ध भी करते जाते हैं।

"एक तरह से तो मि० गाधी ने इस इलाके मे यहा के हाकिमो से भी ऊची जगह अपने लिए बना ली है। उनका कहना है कि यहा की हुकूमत पर निलहे साहबो का काफी असर है।

"निलहे साहब मि० गाधी को कुदरतन अपना दुश्मन समझते है, क्योकि नील की ज्यादातर कोठिया, जिनमे वे कोठिया भी शामिल है, जिनके इतजाम और हिसाब-किताब को हम काफी अच्छा समझते रहे है, रुपये-टके और लेन-देन के मामले मे उस कडी पडताल मे, जो मौजदा हालात मे की जा रही है, कभी खरी उतर ही न सकेगी, और मि० गाधी के पास उनके खिलाफ ऐसे वाकयात होगे जिनकी सचाई से इनकार करना एकदम गैर-मुमकिन होगा।

"मि० गाधी की मौजूदगी का रैयतो पर जो असर हुआ है, उसके बारे मे भी मुझे खासतौर पर कुछ कहना है हम मि० गाधी को जो अपने जी मे आये समझने के लिए आजाद है—हवा मे उडनेवाला, जिद्दी, इन्कलाबी या और भी कुछ। लेकिन रैयत तो उन्हे अपना मसीहा ही मानती है और आम किसानो का ऐसा खयाल है कि उनमे कुछ गैबी इल्म (दैवी

शक्तिया) भी हैं। वह गाव-गाव जाकर लोगो की शिकायते सुनते है और उन जाहिल लोगो के दिमागो मे रामराज्य और सतजुग का फितूर भर देते हैं। मैंने जब उन्हे इसके खतरनाक नतीजो से आगाह किया तो उन्होने यकीन दिलाया कि वह हर लफ्ज़ को सोच-समझकर और तोलकर मुह से निकालते है, इसलिए उनकी किसी भी बात का नतीजा लोगो को बरगलाने और गदर के लिए उभाडनेवाला नही हो सकता। मैं मि० गाधी की बात पर यकीन करने को तैयार हू, क्योकि उनकी ईमानदारी मे मुझे ज़रा भी शक नही, मगर अपने साथियो के मुह तो वह बद करने से रहे

"मि० गाधी जिले के किसानो की तकलीफो को मिटाने के लिए कुछ भी उठा न रखेगे और जरूरत पडी तो इस सवाल पर अपनेको कुर्बान भी कर देंगे, और जबतक हालात मे काफी रद्दो-बदल नही कर दिये जाते वह यहा से जायगे भी नही, बराबर डटे रहेगे। लेकिन मुझे इस बात का यकीन है कि वे इन मुश्किल सवालातो के मामले मे समझदारी से ही पेश आयगे।"

चपारन मे गाधीजी की उपस्थिति से भारत-सरकार भी चिंतित हो उठी थी, उसे यह डर सताने लगा कि कही वह बिहार मे सत्याग्रह न छेड दे। इसलिए होम मेबर क्रेडाक की सलाह के अनुसार वाइसराय ने बिहार के गवर्नर, सर एडवर्ड गेट को एक जाच-आयोग नियुक्त करने और उसके सदस्यो मे गाधीजी को भी रखने का सुझाव दिया। गवर्नर ने वाइसराय के इस सुझाव का पहले तो विरोध किया। उन्होने लार्ड चेम्सफोर्ड को ..। कि "यह तो गाधीजी को सिर चढाना होगा, और इसका भी क्या भरोसा कि आयोग का असर अच्छा ही हो।" लेकिन अन्त मे जाच-समिति नियुक्त की गई और गाधीजी को उसका सदस्य भी बनाया गया। मगर जाच-समिति की नियुक्ति, जैसा कि गाधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है, मि० गेट की 'भलमनसी' के कारण नही, भारत सरकार के कहने से ही हुई थी।

गाधीजी के पास कम-से-कम आठ हजार किसानो के बयान थे। किसानो की खेती-सम्बन्धी कोई समस्या ऐसी नही थी, जिसका ज्ञान गाधीजी को न रहा हो। अपनी जानकारी, दृढता और धीरज से उन्होने जाच-समिति मे किसानो के मामले की पैरवी की। समिति ने किसानो की

सब शिकायतों को सही माना और एकराय से निलहों के अनुचित रीति से लिये हुए रुपयों का अमुक भाग वापस करने और सौ वर्ष पुरानी दमनकारी 'तिनकठिया'[1] पद्धति को रद्द करने की सिफारिश की।

गांधीजी अभी बिहार में ही थे कि अहमदाबाद की कपड़ा-मिलों में झगड़े के आसार दिखाई देने लगे। १९१७ के अगस्त महीने में मिल मजदूरों को 'प्लेग बोनस' दिया जा रहा था। यह इसलिए शुरू किया गया था कि प्लेग के जमाने में मजदूर शहर छोड़कर भाग न जायं। कुछ मिलें तो तनख्वाह का अस्सी प्रतिशत तक 'प्लेग बोनस' दे रही थीं। जब प्लेग का खतरा मिट गया तो मिल-मालिकों ने इस 'बोनस' को बन्द कर देना चाहा। मजदूरों ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि लड़ाई के जमाने में जीवन-निर्वाह का खर्च पहले से दूना हो गया था और बोनस से महंगाई में जो जरा-सी राहत मिली हुई थी, उसके बन्द कर दिये जाने पर तो उनकी मुसीबतें और भी बढ़ जायंगी।

मिल-मालिकों और मजदूरों के आपसी झगड़े की आशंका से अहमदाबाद का अंग्रेज कलक्टर चिंतित हो उठा। मिल-मालिकों पर गांधीजी के प्रभाव की बात वह जानता था। उसने उनसे अनुरोध किया कि आप मिल-मालिकों को किसी तरह समझौते के लिए राजी कीजिये। प्रमुख मिल-मालिक अम्बालाल साराभाई गांधी-परिवार के मित्र थे। शुरू-शुरू में एक हरिजन-परिवार को आश्रमवासी बना लेने पर जब गांधीजी का साबरमती-आश्रम घोर आर्थिक संकट में पड़ गया था तो अम्बालाल भाई के दान ने ही उसकी रक्षा की थी। गांधीजी ने तुरन्त दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों से चर्चाएं आरम्भ कर दीं। लम्बी चर्चाओं के बाद पंच-फैसले के लिए दोनों पक्ष राजी हो गये। पंच-मंडल में मिल-मालिकों के तीन और मजदूरों के भी तीन प्रतिनिधि रखने और कलक्टर को अध्यक्ष बनाने की बात तय

---

[1] बिहार में बीस कट्ठे का एक एकड़ होता है। चंपारन के किसान अपनी ही जमीन में हर बीस कट्ठे में से तीन कट्ठे में निलहों के लिए नील की खेती करने को कानून से मजबूर थे। यह कानून ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में १८६७ के आसपास बनाया गया था और तबसे निलहे गोरे वहां के किसानों पर जुल्म ढाते आ रहे थे। —अनुवादक।

पाई। लेकिन अभी पचमडल ने अपना काम शुरू भी नही किया था कि एक हडताल की ओट लेकर मालिको ने मजदूरो पर समझौता तोडने का आरोप लगा दिया, खुद पच-मडल से अलग हो गये और यह घोषणा कर दी कि जो मजदूर बीस सैकडा बोनस मजूर नही करेगा, उसे काम पर से निकाल दिया जायगा।

जब मिल-मालिको ने मजदूरो के खिलाफ 'सयुक्त कार्रवाई' करने की धमकी दी तो गाधीजी ने कहा था कि वे "चीटियो के सघ के मुकाबले हाथियो का सघ" बना रहे है। वह सत्याग्रह के एक प्रयोग के रूप मे मजदूरो की लडाई लडना चाहते थे और यह निश्चय करना भी कि अहमदाबाद के मिल-मजदूरो की वाजिब माग को शान्तिपूर्ण अहिसात्मक हडताल से कहा-तक हासिल किया जा सकता है। उनकी राय मे बोनस को पैतीस प्रतिशत से ज्यादा घटाने की गुजाइश नही थी, इसलिए उन्होने पैतीस प्रतिशत बोनस की ही माग रखी। सत्याग्रह के सिद्धान्तो पर की जानेवाली हडताल उसके परम्परागत परिचित रूप से भिन्न तो होनी ही थी। मजदूरो को जोश दिलाने के लिए उनके गुस्से और घृणा को भडकाने की बिलकुल ही मुमानियत थी और न मालिको एव न गद्दारो के ही साथ मार-पीट जैसी हिसात्मक कार्रवाइया की जा सकती थी। कटुता, झूठी शिकायतो, अतिरजित दावो और गाली-गलौज की होडा-होडी की भी इसमे कोई गुजाइश नही थी। हडताल के समय की बेकारी का उपयोग रचनात्मक काम मे करने का फैसला किया गया था। मजदूर दूसरे उद्योग सीखेंगे, मकानो की मरम्मत करेगे और श्रमिक बस्तियो की सडको और रास्तो की सफाई करेगे।

मिल-मालिको और मजदूरो की इस लडाई का एक और मनोरजक पहलू यह भी था कि प्रमुख उद्योगपति अम्बालाल साराभाई की बहिन अनसूया बहन गाधीजी के पक्ष मे और मजदूरो की नेता थी। हडताल शुरू हुई और उसके साथ-साथ गाधीजी की चिंता भी बढती गई। कुछ ही दिनो बाद मजदूरो का जोश ठडा पडने लगा। जब यह साफ दिखाई देने लगा कि बिना काम और बिना पैसो के ज्यादा दिन टिक पाना मजदूरो के लिए असभव है तो गाधीजी ने उपवास शुरू कर दिया। उन्होने तो शुरू मे ही

कह दिया कि अगर मजदूर भूखो मरने लगे तो सबसे पहले वह खुद ही भूखो रहेंगे। गाधीजी के उपवास का असली उद्देश्य तो मजदूरो की हिम्मत को टिकाये रखना था, लेकिन मिल-मालिको पर भी उसका असर पडे बिना न रहा, क्योकि उनमे से बहुत-से गाधीजी की इज्जत और उनसे स्नेह भी करते थे। साथ ही, उन लोगो पर इस उपवास का अप्रत्यक्ष परन्तु निश्चित दबाव भी पडा।[1] सत्याग्रह मे इस प्रकार के दबाव को अनुचित मानकर गाधीजी तीन दिन के उपवास के बाद समझौते के लिए राजी हो गये। हडताल और उपवास इसीलिए करने पडे थे कि मालिको ने पचफैसले के सिद्धान्त को ठुकरा दिया था। अब उन्होने फिर पच से फैसला करवाने की बात स्वीकार कर ली। पच ने फैसला मजदूरो के पक्ष मे दिया और इस तरह अत मे पैतीस प्रतिशत बोनस की लडाई मे उनकी जीत हुई।

अहमदाबाद के मजदूरो की लडाई के तुरत बाद ही गाधीजी को खेडा जिले के किसानो के सघर्ष मे जुट जाना पडा। सूखे के कारण फसल नष्ट हो गई थी और सारे जिले मे लगभग अकाल की-सी स्थिति हो गई थी। लगान की माफी के सवाल पर वहा के किसानो और स्थानीय अधिकारियो मे ठनी हुई थी। ऐसा कानून था कि अगर फसल चार आने या इससे कम हो तो उस साल का लगान माफ हो जाना चाहिए। सारा झगडा कूत को लेकर था। सरकारी अफसरो का कहना था कि फसल चार आना से ज्यादा हुई है और किसानो का कहना था कि चार आने से कही कम है। भारत-सेवक-समिति के तीन सदस्यो ने मौके का मुआयना किया, उनकी कूत और बबई धारा-सभा के उस समय के सदस्य विट्ठलभाई पटेल और खुद गाधीजी की कूत के अनुसार फसल मे बारह आने से भी ज्यादा का नुकसान हुआ था। लेकिन सरकार ने इसे 'बाहरी लोगो की कूत' करार देकर मानने से इनकार कर दिया।

गुजरात सभा ने इस आदोलन मे प्रमुख रूप से भाग लिया। गाधीजी इस सभा के अध्यक्ष थे। जब दरख्वास्तो, मुलाकातो और प्रेस-वक्तव्यो का नतीजा नही निकला तो आदोलन का सूत्र गाधीजी ने सभाला और सत्याग्रह की घोषणा कर दी। भारत मे गाधीजी के द्वारा चलाया जानेवाला

[1] महादेव देसाई 'एक धर्म-युद्ध', पृष्ठ ४५

यह पहला किसान-सत्याग्रह था। इसमे बुनियादी बात थी, किसानो को सरकारी अमले के डर से और जमीन-जायदाद की कुर्की-नीलामी के डर से मुक्त करना। गाधीजी और वल्लभभाई पटेल ने गाव-गाव जाकर किसानो को सत्याग्रह के मौलिक सिद्धातो और उसके व्यवहार-पक्ष की शिक्षा दी और उन्हे अहिसक लडाई के लिए तैयार किया। लगान-वसूली मे सरकार की ओर से सख्तिया बढती गई। लगान देने से इनकार करनेवालो के जानवर बेच दिये गए, घरो का सामान जब्त करके नीलाम कर दिया गया, कइयो की तो खडी फसले तक कुर्क कर दी गई। लेकिन किसानो ने धीरज न छोडा और न हिम्मत हारी। अकाल, प्लेग और महगाई की तिहरी मार के बाद किसानो ने सरकारी दमन को भी सहा, पर अन्त मे वे थकने लगे। उन्हे इस तरह बरबाद हो जाने देना गाधीजी ने उचित नही समझा। वे सम्मानजनक निबटारे का कोई रास्ता निकालने की बात सोच ही रहे थे कि सरकार ने कहला भेजा कि अच्छी हैसियतवाले जो किसान दे सकते है उन्हीसे लगान वसूल किया जाय और गरीबो पर वसूली के लिए कोई सख्ती न की जाय। गाधीजी ने इसे पर्याप्त कारण मानकर सत्याग्रह-आदोलन वापस ले लिया।

सत्याग्रह के इन आरम्भिक प्रयोगो को ठीक से समझने के लिए इस बात को ध्यान मे रखना होगा कि उन दिनो पहला महायुद्ध चल रहा था और गाधीजी सरकार के ध्यान को बटाना या उसे मुसीबत मे डालना बिलकुल ही नही चाहते थे। सरकार से सीधी भिडत को वे यथासभव टालने के पक्ष मे थे। चपारन और खेडा मे जब मुठभेड हो ही गई तो उन्होने वहा की लडाइयो को उन्ही क्षेत्रो तक सीमित रखा और न्याय की थोडी-सी झलक मिलते ही समझौता कर लिया और उन्हे अखिल भारतीय सकट का रूप न लेने दिया।

पहले महायुद्ध के प्रति उनका दृष्टिकोण देश के और सब नेताओ से बिलकुल भिन्न था। उन्हे आशा थी कि यदि भारत ने इग्लैड को युद्ध मे दिल खोलकर मदद की तो लडाई के अन्त मे देश को स्वशासन का अधिकार जरूर दे दिया जायगा। लेकिन और कोई नेता उनके इन विचारो से सहमत नही था।

जब पहला महायुद्ध छिडा तो गाधीजी इग्लैड होते हुए देश लौट रहे थे। उनका इरादा इग्लैड मे कुछ सप्ताह रहने का भी था। ६ अगस्त, १९१४ को वह इग्लैड पहुचे और तुरन्त वहा के भारतीयो का एक एबुलेन्स दल बनाने के काम मे जुट गये। यदि उन्हे वहा पसली के दर्द की बीमारी न हो जाती और उसने उग्र रूप धारण न कर लिया होता तो शायद वह स्वय भी उस एबुलेस दल मे भर्ती हो जाते और उनका भारत लौटना अनिश्चित काल के लिए रुक जाता।

भारत लौटने पर उन्होने देश को युद्ध मे बिना शर्त सहायता देने के घोर विरोध मे पाया। उस समय युद्ध मे सहायता देना राजभक्ति का परिचायक माना जाता था और राजभक्ति का परिचय देना राजनैतिक पिछडेपन का लक्षण और सरकारी पिट्ठुओ का काम था, देशभक्तो का नही। लेकिन गाधीजी ने युद्ध मे सरकार से सहयोग करने की कोई कीमत नही मागी और न कोई शर्त लगाई। १९१७ के नवबर महीने मे, गुजरात राजनैतिक सम्मेलन मे उन्होने ये वाक्य कहे थे—"सकट मे राजभक्ति दिखाने का यह मतलब नही है कि हम स्वराज्य के योग्य हो गये। राजभक्ति तो खुद एक गुण है। सारी दुनिया के सभी देशो के नागरिको का यह एक जरूरी गुण है।"[1]

१९१८ मे जब मित्र राष्ट्रो की हालत शोचनीय हो गई और पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनो के जबर्दस्त आक्रमण का खतरा काफी बढ गया तो वाइसराय ने युद्ध की परिस्थिति पर और उसमे सहायता देने के प्रश्न पर विचार करने के लिए दिल्ली मे भारतीय नेताओ का एक सम्मेलन बुलाया। उसमे तिलक, जिन्ना और खापर्डे-जैसे प्रमुख राष्ट्रीय नेताओ को इसलिए नही बुलाया गया, क्योकि उन्होने सहयोग की शर्तो का सवाल उठा दिया था। वे निश्चयपूर्वक जानना चाहते थे कि सरकार किन शर्तो पर देश का सहयोग चाहती है। अग्रेजो के अस्पष्ट और गोलमोल वादो पर राष्ट्र का कोई भरोसा नही रह गया था। नेतागण सम्मेलन मे शरीक होने से पहले सरकार के मुह से यह सुन लेना चाहते थे कि वह सहयोग के बदले मे कितने और कौन-से सवैधानिक सुधार देने को तैयार होगी। गाधीजी का पहला

[1] नटेसन 'महात्मा गाधी के भाषण और लेख' (अग्रेजी सस्करण), पृष्ठ ८०६

विचार तो सम्मेलन का वहिष्कार करने का ही हुआ, परन्तु वाद मे वह राजी हो गये और सम्मेलन मे शरीक होकर वाइसराय के रगरूट-भरती के प्रस्ताव का सिर्फ एक ही हिन्दी वाक्य मे समर्थन किया, "मुझे अपनी जिम्मेवारी का पूरा खयाल है और उस जिम्मेवारी को समझते हुए भी मै इस प्रस्ताव का समर्थन करता हू।"

फिर तो वह तन-मन से रगरूट-भरती के काम मे लग गये। अहिसा के पुजारी गाधीजी का यूरोप और मध्यपूर्व के मोर्चो पर लडनेवाली ब्रिटिश फौज के लिए गुजरात के गावो मे रगरूट-भरती के लिए जाना अच्छा खासा मजाक ही कहा जायगा। कुछ महीनो पहले ही जिस खेडा जिले मे वह करवदी-आदोलन का नेतृत्व कर चुके थे वहा किसीने उनसे सीधे मुह वात भी न की। गाधीजी और वल्लभभाई पटेल के लिए लोगो को फौज मे भरती होने के लिए राजी करना लगभग असभव ही सावित हुआ। इसकी अपेक्षा किसानो को जेल जाने के लिए तैयार करना कही आसान था। एक गाव मे, जो आदोलन मे सवसे आगे रहा था, न तो उनसे कोई मिलने के लिए आया और न किसीने उन्हे अपने घर मे ही ठहराया। तीन दिन तक गाधीजी और वल्लभभाई पटेल गाव की सीमा पर पडे रहे और हाथ से टिक्कड वनाकर खाते रहे।

गाधीजी और उनके साथियो को सवारी के लिए अकसर वैलगाडिया भी नही मिल पाती थी और एक दिन मे बीस-बीस मील तक पैदल चलना पड जाता था। गाधीजी इन तकलीफो को वर्दाश्त न कर सके और उन्हे पेचिश हो गई। दवाई तो वह लेते नही थे। उपवास किया, लेकिन फायदा नही हुआ। जैसाकि उन्होने वाद मे कहा, अपने 'घोर अज्ञान के कारण' इजेक्शन लगवाने से भी इनकार कर दिया। उनके मित्र अम्वालाल सारा-भाई को पता चला तो वह उन्हे अहमदावाद की अपनी हवेली मे ले गये। दवाई लेने को गाधीजी राजी नही हुए और खाली तिमारदारी से अच्छे नही हो रहे थे। एक दिन तेज बुखार की हालत मे ही सावरमती-आश्रम पहुचाने का आग्रह करने लगे और वहा पहुचकर ही चैन लिया। दूसरे दिन डा० राजेन्द्रप्रसाद मिलने के लिए आये तो उन्होने गाधीजी को मरणासन्न अवस्था मे पाया—शरीर सूखकर लकडी हो गया था और जीवन की कोई

उमग भी वाकी नही रही थी। गाधीजी को अपने जीवन पर पश्चात्ताप होने लगा कि आजतक कोई भी काम पूरा न कर सके। जिसे भी उठाया अधूरा ही छोड दिया और अव मृत्यु आ गई, लेकिन अगर ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है तो उसके आगे किसीका क्या वग !

गाधीजी ने जीने की मव आशाए छोड दी थी। अपनेको अव-तव का मेहमान समझ रहे थे। अन्त समय निकट आया जान गीता का पाठ सुनने लगे और सारे आश्रमवासियो को अपनी मृत्यु-शय्या के पास बुला लिया। जब सब लोग वहा आकर चुपचाप खडे हो गये तो गाधीजी ने कहा, "भारत के नाम मेरा आखिरी सदेश यही है कि अहिंसा से ही उसे मुक्ति मिलेगी और अहिंसा के ही द्वारा वह विश्व की मुक्ति मे अपना योगदान करेगा।"

गाधीजी मृत्यु-शय्या पर पडे मौत की घडिया गिन रहे थे कि वर्फ के हिमायती एक डाक्टर उनका इलाज करने के लिए आये। वरफ से ही इलाज करने के कारण उनका उपनाम 'आइस डाक्टर' रख दिया गया था। गाधी-जी ने उन्हे अपने शरीर पर प्रयोग करने दिया। नतीजा अच्छा रहा, उनमे जीने की कुछ आशा वधने लगी और उत्साह आया। जीने की इच्छा इतनी वलवती हो उठी कि दूध न लेने की प्रतिज्ञा के खिलाफ कस्तूरवा के इस तर्क को कि वह तो सिर्फ गाय के दूध के लिए थी, वह उनके अनुरोध पर वकरी का दूध लेने को राजी हो गये। लेकिन यह केवल प्रतिज्ञा के अक्षर-पालन का सतोष था, और जैसाकि स्वय गाधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है—"सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह के लिए जीने की इच्छा रखकर अपने सत्य को दाग लगा दिया यह मुझे रोज चुभता है।"

गाधीजी की जीने की इच्छा को और भी वलवती करने का सामान भारत सरकार ने भी शीघ्र ही तैयार कर दिया। इसी समय रौलट कमेटी की रिपोर्ट और रौलट विल प्रकाशित हुए। गाधीजी ने उन्हे पढा तो छट-पटा उठे, वोले, "अगर मैं वीमार न होता तो अकेला ही जूझता और देश को जगाने के लिए सारे भारत का दौरा करता।" मित्र सलाह के लिए आने लगे और विचार किया जाने लगा कि नागरिक अधिकारो का अपहरण करने-वाले इस नये कानून के खिलाफ देशव्यापी स्तर पर किस तरह लडा जा सकता है ? अग्रेजो की सद्भावना पर विश्वास कर उनको सकट की घडी

मे जिस तरह सहायता की थी और युद्ध के अन्त मे उनकी ओर से जिस शुभ सकेत की आशा बधी थी, वह सब गाधीजी को रह-रहकर याद आने लगा। एक बार फिर उन्हे रोटी के बदले पत्थर मिले थे। युद्ध-काल मे अपने-आपको राजनैतिक आदोलन से उन्होने पूरी तरह अलग रखा था। अब शाति-काल मे जो अन्याय किया गया, उसके खिलाफ लडने को वह व्यग्र हो उठे।

: १८ :
अमृतसर की काली छाया

रौलट बिलो का विरोध करने के लिए गाधीजी ने अपनी बीमारी की भी परवा न की और मैदान मे उतर आये। देश मे पनप रहे आतकवाद (हिंसात्मक कार्रवाइया) का सामना किस तरह किया जाय, इसपर विचार करने के लिए सरकार ने सर सिडने रौलट की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की थी। उसने जाच करके जो रिपोर्ट पेश की उसीके आधार पर रौलट बिल बनाये गए थे।

गाधीजी खुद आतकवाद के कट्टर विरोधी और जबर्दस्त आलोचक थे। दस बरस पहले, जब रौलट बिलो का कही अस्तित्व भी नही था, वह अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज्य' मे आतकवाद को नैतिक और व्यावहारिक दोनो ही दृष्टियो से निदनीय और त्याज्य ठहरा चुके थे। बम और पिस्तौल के मुकाबले उन्होने सत्याग्रह को ज्यादा कारगर उपाय बताया था। केवल कुछ स्थानो पर होनेवाली आतकवादी कार्रवाइयो के कारण दमनकारी काला कानून बनाकर सारे देश को सजा देना, गाधीजी, आतकवाद के कट्टर विरोधी होते हुए भी, उचित नही समझते थे, न उनकी दृष्टि मे यही ठीक था कि एक ऐसी सरकार को, जो जनता के प्रति उत्तरदायी न हो, इतने व्यापक अधिकार दे दिये जाय।

रौलट बिलो का विरोध करने के प्रश्न पर सभी भारतीय नेताओ ने

अभूतपूर्व एकता दिखाई। जिन्ना की राय में, शांतिकाल में ऐसा दमनकारी कानून बनानेवाली सरकार निरी असभ्य और जंगली सरकार थी। तेजबहादुर सप्रू ने बिलों को "सैद्धांतिक दृष्टि से गलत, व्यावहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण और अति व्यापक" बताया। विट्ठलभाई पटेल ने कहा, "यदि ये बिल पास हो गये तो सवैधानिक सुधारों के लिए किये जानेवाले हमारे वैधानिक आंदोलन का गला ही घुट जायगा।"

लेकिन भारत सरकार ने इस विरोध को कोई महत्व नहीं दिया, विरोध की सारी आवाज़ को निहायत कमजोर और भारतीय नेताओं की बेकार की चिल्ल-पों करार देकर उपेक्षा कर दी और १९१९ के मार्च महीने के तीसरे सप्ताह में बड़ी फुर्ती से और बहुत ही भोंडे तरीके से सरकार ने एक बिल को बड़ी कौंसिल में पेश कर दिया। कौंसिल में जितने भी चुनकर आये हुए भारतीय नेता थे उन सबने इस बिल का डटकर विरोध किया और विपक्ष में अपने मत दिये। लेकिन फिर भी वह पास हो गया।[1]

---

१ रौलट बिलों के नाम से दो बिल थे। एक अस्थायी था, जिसका उद्देश्य भारत रक्षा कानून के समाप्त हो जाने से उत्पन्न स्थिति का मुकाबला करना था। उसमें यह विधान था कि क्रांतिकारियों के मुकदमे हाईकोर्ट के तीन जजों की अदालत में पेश हों और वे शीघ्र उनका फैसला कर दें, जहां क्रांतिकारी अपराध बहुत होते हों वहां अपील न हो सके, जिसपर राज्य के विरुद्ध अपराध करने का संदेह हो उससे जमानत ली जाय, उसे किसी स्थान विशेष में रहने और किसी खास काम को करने से रोका जाय, लेकिन ऐसा हुक्म देने से पहले उस व्यक्ति की जांच जज और एक गैर-सरकारी आदमी से करा ली जाय। जिस व्यक्ति से सार्वजनिक शांति भंग होने की आशंका हो उसे गिरफ्तार कर स्थान विशेष में बंद रखने का अधिकार प्रांतीय सरकारों को दे दिया गया। दूसरा बिल साधारण फौजदारी कानून में एक स्थायी परिवर्तन चाहता था, जिसके अनुसार किसी राजद्रोही सामग्री का प्रकाशन या वितरण करने के उद्देश्य से पास रखना जेल की सजा तक का दंडनीय अपराध करार दिया गया, सरकारी गवाह बननेवालों की रक्षा का भार अधिकारियों को सौंपा गया, पहले से सरकार की आज्ञा प्राप्त किये बिना जिन अपराधों के लिए मुकदमा नहीं चल सकता उनकी प्रारंभिक पुलिस-जांच का अधिकार जिला मैजिस्ट्रेटों को दे दिया गया और जिसे राज्य के विरुद्ध अपराध करने में सजा मिल चुकी हो उसकी सजा के बाद दो वर्ष तक की नेकचलनी की जमानत

जिस तरह यह बिल पास किया गया उसने गाधीजी की आखें खोल दी। उस समय वह बडी कौंसिल की दर्शक गैलेरी मे उपस्थित थे। उन्होने वहा बिल के विरोध मे भारतीय नेताओ के युक्ति-युक्त और जोशीले व्याख्यानो को सुना और विरोध के उस प्रबल स्वर को चिकने घडे पर पानी की तरह सरकारी पक्ष के निकट व्यर्थ हो जाते हुए अपनी आखो से देख भी लिया। इस सबध मे उन्होने बाद मे ठीक ही लिखा था "ऊघते को आदमी जगा सकता है, जागता ऊघे तो उसके कान पर ढोल बजाने से क्या होगा ?"[१] उनका यह विश्वास दृढ हो गया कि गोरी नौकरशाही और अग्रेज व्यापारियो ने मिलकर भारत सरकार के कान इस बुरी तरह भर दिये है कि वह जनता की सही आवाज़ को कभी नही सुन सकती। जनता की भावनाओ और लोकमत की थोडी-सी भी कद्र करनेवाली सरकार ऐसे बिल को, जिसका सभी पक्षो और दलो के भारतीय नेताओ ने घोर विरोध किया हो, कानून का रूप कभी नही देगी। और जो सरकार निकट भविष्य मे काफी बडे पमाने पर सवैधानिक सुधारो को लागू करने की बाते करती हो वह स्वराज्य की किस्त देने से पहले इतनी बुरी भूमिका क्यो बाधेगी।

वैधानिक उपायो से जब रौलट बिल के विरोध का कोई परिणाम नही हुआ और वह पास हो गया तो गाधीजी ने रौलट कानून को हटवाने के लिए सत्याग्रह का निश्चय किया। फरवरी १९१९[२] मे वे रौलट बिलो के विरोध मे एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित कर चुके थे, जिसमे कहा गया था, "यदि इन बिलो को कानून का रूप दिया गया तो जबतक इन्हे वापस न लिया जायगा तबतक हम इन तथा अन्य ऐसे कानूनो को भी, जिसे इसके बाद नियुक्त की जानेवाली सत्याग्रह कमेटी उचित समझेगी, मानने से नम्रतापूर्वक इनकार कर देगे। हम इस बात की प्रतिज्ञा करते है कि इस युद्ध मे ईमान-

लेने का विधान किया गया। इनमें से एक बिल मात्र के तीसरे सप्ताह में पास हो गया और दूसरा वापस ले लिया गया। —अनुवादक।

१ 'आत्मकथा', सस्ता साहित्य मडल (१९६०), पृष्ठ ५१७

२ 'भारतीय स्वाधीनता सग्राम का इतिहास'—इन्द्र विद्यावाचस्पति और 'कांग्रेस का इतिहास'—डा० बी० पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार १८ मार्च, १९१९। —अनुवादक

दारी के साथ सत्य का अनुसरण करेंगे और किसीके जान-माल को हानि नही पहुचायगे ।"

बीमारी के बाद अभी गाधीजी पूरी तरह स्वस्थ नही हो पाये थे, लेकिन सरकार ने पहले रौलट बिल को कानून का रूप दे दिया था, इसलिए उन्हे मैदान मे उतर आना पडा । देश की जनता को सत्याग्रह का अर्थ समझाने के लिए उन्होने देश-व्यापी दौरा किया और 'सत्याग्रह सभा' के नाम से एक नया सगठन बनाया । मदरास मे वह राजाजी के घर ठहरे हुए थे । एक दिन सवेरे उठकर उनसे बोले, 'रात को स्वप्नावस्था मे मेरे मन मे यह विचार आया कि इस कानून के जवाब मे हमे सारे देश मे हडताल करने की सलाह देनी चाहिए । उस दिन सब उपवास करे, काम-काज बन्द रखे और प्रार्थना करे ।" पहले १६१६ के मार्च की ३० तारीख रखी गई थी, फिर छठी अप्रैल कर दी गई । शोक या विरोध मे हडताल करना भारत मे कोई नई बात नही थी, लेकिन एक दिन राष्ट्रव्यापी राजनैतिक हडताल जरूर नई और बहुत बडी बात थी । बम्बई मे हडताल के साथ-साथ सविनय विरोध के रूप मे 'हिन्द स्वराज्य' और 'सर्वोदय' आदि कुछ ऐसी किताबे भी बेची गई, जिन्हे सरकार ने राजद्रोहात्मक करार देकर प्रतिबन्ध लगा दिया था । ७ अप्रैल को प्रेस कानून के विरोध मे गाधीजी के सम्पादन मे 'सत्याग्रह' नामक एक छोटे-से-समाचार-पत्र का प्रकाशन भी शुरू किया गया ।

दिल्ली मे गलतफहमी के कारण ६ अप्रेल के बदले ३० मार्च को ही हडताल हो गई और उसमे झगडे के कारण थोडा खून-खराबा भी हुआ । गाधीजी ने तुरन्त उपद्रवकारियो और स्थानीय अधिकारियो की भी भर्त्सना की । अधिकारियो के आचरण के बारे मे उन्होने कहा कि उन लोगो ने तो मक्खी को मारने के लिए हथौडा ही चला दिया । सबसे अधिक उत्तेजना पजाब मे थी । वहा के नेताओ का खयाल था कि यदि गाधीजी पजाब मे आ जाय तो उससे शाति-स्थापना मे बडी मदद मिल जायगी । लेकिन सरकार ने उन्हे वहा पहुचने ही नही दिया । वह बबई से दिल्ली के लिए रवाना हुए तो दिल्ली के पास एक छोटे-से स्टेशन पर उन्हे गिरफ्तार कर एक स्पेशल ट्रेन से पुन बबई भेज दिया गया और वहा पहुचने पर वह

रिहा कर दिये गए। वह दुबारा दिल्ली जाने का इरादा कर ही रहे थे कि बबई, अहमदाबाद, नदियाद और गुजरात के दूसरे शहरो मे उपद्रव हो जाने के समाचार आने लगे। उनके अपने ही प्रदेश मे जनता सत्याग्रह और अहिसा के सिद्धातो को भूलकर हिसात्मक काररवाई पर उतर आयगी, इसकी तो गाधीजी ने सपने मे भी कल्पना नही की थी। लोगो के मन मे छिपी हिसा की शक्ति को सही-सही आकने मे उनसे भूल हो गई थी। उन्होने आगे बढने, दुबारा गिरफ्तार होने और आदोलन को चालू रखने का विचार उसी समय त्याग दिया और सत्याग्रह को स्थगित कर दिया। जनता को पूरी तरह तैयार किये बिना सत्याग्रह-सग्राम शुरू कर देने की अपनी हिमालय-जैसी बडी भूल के प्रायश्चित्त स्वरूप उन्होने तीन दिन का उपवास भी किया।

उधर, इस बीच, पजाब मे घटना-चक्र ने बडा ही विकट और शोक-जनक रूप धारण कर लिया था। वहा एक साथ कई बाते ऐसी हो गई, जिससे जनता का अन्दर-ही-अन्दर घुमडता हुआ असतोष और गुस्सा एकदम भडक उठा। यद्यपि गाधीजी ने अभी तक पजाब का दौरा नही किया था, परन्तु उनके नाम का जादू तो वहा भी चलता ही था। जैसे ही दिल्ली के निकट उनकी गिरफ्तारी का समाचार पजाब पहुचा सारे प्रात मे गुस्से की लहर दौड गई। १० अप्रैल को जब अमृतसर के जिला मजिस्ट्रेट ने दो नेताओ[१] को गिरफ्तार कर लिया तो लोगो की भीड आपे से बाहर हो गई, उसने टाउन हाल और डाकखाने को आग लगा दी, टेलीग्राफ के तार काट डाले और कुछ अग्रेजो को, जिनमे दो महिलाए भी थी, घायल कर दिया। ब्रिगेडियर-जनरल डायर की कमान मे फौज बुलाकर किसी तरह भीड को काबू किया जा सका और शहर सेना के हवाले कर दिया गया। दो दिन तक शाति रही, लेकिन तीसरे दिन १३ अप्रैल को बैसाखी का त्यौहार था और उस दिन जलियावाला बाग मे एक सभा की घोषणा की गई थी। वह सभा भीषण नर-मेध मे बदल गई। डायर ने शस्त्र-बल

---

१ गिरफ्तार किये जानेवाले नेता डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल थे, जो वहा काग्रेस का सगठन कर रहे थे। जिला मजिस्ट्रेट ने उन्हें गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान को भेज दिया था, जिससे नगर में सनसनी फैल गई।—अनुवादक

मे सभा को भग करने का फैसला पहले ही कर लिया था। जलियावाला बाग का दरवाजा इतना सकरा था कि उसमे होकर बख्तरबन्द गाडी अन्दर नही जा सकती थी। डायर और उसके सैनिक पैदल ही घुस गये और दस मिनट मे उन्होने १६५० फैर किये। बैसाखी के त्यौहार के कारण उस सभा मे पुरुषो के अलावा, स्त्रिया और बच्चे भी बडी सख्या मे उपस्थित थे। सारी निहत्थी जनता उस बगीचे मे "पिजडे मे बन्द चूहो" की तरह फस गई और कोई भी भाग न सका। सरकारी बयान के मुताबिक उस गोला-काड मे ३७९ मरे। सर चिमनलाल सीतलवाड का, जो गोलीकाड की जाच के लिए नियुक्त हटर-कमेटी के सदस्य थे, अनुमान था कि ४०० मरे और १२०० घायल हुए थे।

बाद मे डायर ने जाच कमेटी को अपना उद्देश्य बताते हुए कहा था कि उसका उद्देश्य "कडी कार्रवाई के द्वारा लोगो को सबक देना" और उनमे 'नैतिक असर' पैदा करना ही था। लेकिन जिस साम्राज्य को बचाने का वह दावा कर रहा था उसे जितनी बडी चोट उसने पहुचाई थी उसकी उसे उस समय शायद ही कल्पना हुई होगी। अमृतसर के हत्याकाड का भारतीयो और अग्रेजो के सबधो को प्रभावित करने (बिगाडने) वाली घटना के रूप मे १८५७ के विद्रोह का जितना ही महत्त्व है।[1] भारत मे रहनेवाले अग्रेज अफसर '१८५७ के आतक' से अपनेको कभी मुक्त नही कर पाये अमृतसर का गोली-काड वास्तव मे उनकी इसी दूषित मनोवृत्ति का भयकर परिणाम था। इसी मनोवृत्ति के कारण पजाब के गवर्नर सर माइकेल ओडायर और उनकी सरकार के मन मे यह दहशत बैठ गई थी मानो उन्हे उखाड फेकने का कोई प्रातव्यापी षड्यत्र रचा गया हो।

१९१९ मे, अमृतसर के बाद, सारे पजाब मे दमन का जो नगा नाच हुआ, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओ को जो अमानवीय यत्रणाए दी गई, पढे-लिखे लोगो को जिस तरह सताया और अपमानित किया गया उस सबके मूल मे अग्रेज अफसरो के मन पर छाया हुआ 'विद्रोह का आतक' ही काम कर रहा था। इसी आतक से प्रेरित जनरल डायर ने जिस जगह अग्रेज महिला

---

[1] टामसन एण्ड गेरेट 'राइज एण्ड फुलफिलमेंट ग्राफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया,' पृष्ठ ६०९

पर हमला किया गया था उस सडक पर भारतीयो को पेट के बल रगने के लिए विवश किया, इसी आतक से प्रेरित होकर उन्हे हुक्म दिया गया कि जो भी अग्रेज सामने पड जाय उसे सवारी मे से उतरकर फौरन सलाम किया जाय, इसी आतक के कारण कई गावो पर मशीनगनो और हवाई जहाजो से गोलिया बरसाई गई, भारतीयो की सारी मोटरगाडिया छीन ली गई, कर्नल जानसन ने लाहौर के सभी कालेजो के लगभग एक हजार विद्यार्थियो के लिए तीन सप्ताह तक मई की चिलचिलाती धूप मे रोजाना १६ मील पैदल चलकर दिन मे चार बार हाजिरी देने का नियम लागू कर दिया, और जब एक कालेज की बाहरी दीवार पर यह नोटिस फटा हुआ पाया गया तो उस कालेज के सारे छात्रो, कर्मचारियो और अध्यापको तक को गिरफ्तार कर लिया गया। निश्चय ही उन फौजी अफसरो का ऐसा खयाल था कि वे सकट की घडी मे ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा कर रहे है। वे यूरोप और मध्यपूर्व के मोर्चो से ताजा लौटे थे और पूरे जी-जान से अपनी कारगुजारी दिखाने को बेताब थे। पजाब के हत्याकाड के विरोध मे सरकार द्वारा दी जानेवाली 'सर' की पदवी को ठुकरानेवाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस आतकराज के बारे मे बिलकुल ठीक कहा था "जलियावाला बाग मे जो हुआ, वह पैशाचिक युद्ध का पैशाचिक प्रतिफल ही था।"

सरकार ने पजाब की घटनाओ पर लोहे का ढकना-सा डाल दिया था। गाधीजी ने १८ अप्रैल को सत्याग्रह स्थगित कर दिया था और वह पजाब जाना चाहते थे। वह सरकार से कोई झगडा नही मोल लेना चाहते थे, इसलिए उन्होने वाइसराय से वहा जाने की बकायदा अनुमति मागी, लेकिन पूरे छह महीने तक उन्हे उस प्रात मे जाने की इजाजत नही दी गई। सी० एफ० एड्रूज वहा से गाधीजी को जो खबरे भेज रहे थे, वे बडी ही चिताजनक थी। इस बीच सरकार ने लार्ड हटर की अध्यक्षता मे पजाब के उपद्रवो की पडताल के लिए एक जाच-समिति नियुक्त कर दी थी। काग्रेस ने उसका विरोध किया और अपनी ओर से एक गैर-सरकारी जाच-समिति बनाई, जिसमे प० मोतीलाल नेहरू, सी० आर० दास, अब्बास तय्यबजी, एम० आर० जयकर और गाधीजी को रखा गया।[1] इस गैर-सरकारी

[1] फजलुलहक भी इस समिति के सदस्य थे और के सतानम को मत्री बनाया गया

अमृतसर की काली छाया

समिति के सदस्य की हैसियत से जब गाधीजी पजाब गये तभी उन्हे वहा मार्शल-ला लागू किये जाने का पता चला। अपनी छान-बीन के बाद जनता पर किये गए भयकर अत्यचारो के बारे मे जो अकाट्य तथ्य गाधीजी के हाथ मे आये वे निश्चय ही दिल दहलानेवाले थे। पजाब मे उन्होंने जो देखा-सुना उससे ब्रिटिश साम्राज्य के ईश्वरीय देन होने का उनका जो विश्वास चला आता था वह काफी हद तक डगमगा गया। लेकिन सरकार मे उनकी आस्था फिर भी बनी रही। पजाब के क्रूर दमन के लिए उन्होंने कुछ सिर-फिरे अग्रेज अफसरो को जिम्मेवार माना और यह आशा प्रकट की कि सचाई मालूम हो जाने पर सरकार हालत को जरूर सुधारेगी।

२४ दिसबर, १६१६ को इग्लैंड के बादशाह पचम जार्ज ने एक शाही फरमान निकालकर इडियन रिफार्म्स एक्ट (नये सवैधानिक सुधार) की स्वीकृति और राजनैतिक बदियो को माफी[1] देने की घोषणा की। उस फरमान मे अधिकारियो और प्रजाजन को आपस मे सहयोग करने के लिए भी कहा गया था। इस शाही घोषणा पर अपनी राय देते हुए गाधीजी ने लिखा था, "यह ऐसा दस्तावेज है, जिसपर हर अग्रेज को गर्व और हर भारतीय को सतोष होना चाहिए। इस शाही घोषणा ने अविश्वास को मिटाकर विश्वास को जगाया है। अब देखना है कि सरकारी अधिकारी इसपर किस हद तक आचरण करते है।"

लेकिन भारत-स्थित ब्रिटिश नौकरशाही ने घोषणा के अनुसार विश्वास जगाने और सहयोग करने की दिशा मे कोई तत्परता नही दिखाई। गाधीजी ने केंद्रीय और प्रातीय सरकारो से 'हृदय-परिवर्तन' की जितनी भी अपीलें

था। एम० आर० जयकर को प० मोतीलाल नेहरू के स्थान पर लिया गया, जब अमृतसर कांग्रेस के सभापति चुने जाने के बाद उन्होंने समिति से त्यागपत्र दे दिया था। —अनुवादक

[1] राजनैतिक बंदियों की माफी के सम्बन्ध में घोषणा के शब्द इस प्रकार थे—"गत उपद्रवों के कारण जिन लोगों को दंड दिये गए हैं, उनमें से जिनके छोड़ने से सार्वजनिक सुरक्षा को कोई भय न हो, उन्हें छोड़ दिया जायगा।' —अनुवादक

की वे सब-की-सब अनसुनी हो रही। जब मार्च १९२० मे, पजाब मे मार्शल ला के अतर्गत फासी की सजा पाये हुए बीस कैदियो की अपीले रद्द कर दी गई तो उन्होने लिखा—"सबसे बडी अदालतो पर भी राजनैतिक असर पडे बिना न रह सका।" जब पजाब मे अत्याचार करनेवाले अफसरो को वहा से हटाया नही गया और फिर पजाब मे रहनेवाले अग्रेजो द्वारा उनका सम्मान भी किया जाने लगा तो गाधीजी के विस्मय की सीमा न रही। जब हटर-कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो उन्होने उसे 'लीपा-पोती करने की कोशिश" से अधिक और कुछ न पाया। वह मन-ही-मन सोचने लगे कि कही भारत मे ब्रिटिश नौकरशाही की कोई ऐसी गुप्त आचरण-सहिता तो नही बनी हुई है, जिसके आगे "महान ब्रिटिश जाति का कोई बस नही चल पाता और उसे नौकरशाही के आगे झुक जाना पडता है ?"

अनचाहे भी यह दु खद विश्वास उनके मन मे दृढ होता चला गया कि जिस शासन-प्रणाली को वह सुधारने का प्रयत्न करते रहे हैं वह सुधार के काबिल रही ही नही, उसे तो नष्ट ही करना होगा। १९१९ के दिसबर महीने मे उन्होने अमृतसर-काग्रेस को यह सलाह दी थी कि ब्रिटिश सरकार द्वारा दी गई शासन-सुधारो की नई किस्त को स्वीकार कर सहयोग के द्वारा पूर्ण उत्तरदायी शासन का वातावरण तैयार करना चाहिए। लेकिन दस ही महीने बाद सितबर १९२० मे उन्हे कहना पडा कि नई कौसिले और भारतीयो को गवर्नर बनाने की बाते सिर्फ हमारी "ताकत को घटाने की चालबाजियाँ" ही है।

पजाब पर किये गए अत्याचारो के अतिरिक्त 'खिलाफत-सबधी' अन्याय भी गाधीजी के इस विचार-परिवर्तन का एक कारण था।

: १९ :

विद्रोह का रास्ता

पजाब की घटनाओ ने १९१९ मे गाधीजी की साम्राज्य-भक्ति का डिगा अवश्य दिया था, लेकिन उसे आखिरी धक्का दिया खिलाफत के प्रश्न

ने, जिसे लेकर अगले साल भारत मे एक प्रचड राजनैतिक आदोलन उठ खडा हुआ था।

१९१४ मे पहला महायुद्ध छिडा तो भारतीय मुसलमानो ने अपनेको बडी असमजपूर्ण स्थिति मे पाया। तुर्की का सुलतान उनका खलीफा था और इस लडाई मे वह जर्मनी के बादशाह कैसर के साथ था यानी भारतीय मुसलमानो के बादशाह शाहे बरतानिया के खिलाफ। भारतीय सेना मे मुसलमान भी बडी सख्या मे थे। सरकार के लिए उनकी बेचैनी को मिटाना जरूरी हो गया। इसलिए ब्रिटिश प्रधान मत्री, लायड जार्ज ने खास इसी सवाल पर एक नीति-सबधी वक्तव्य मे कहा 'हम तुर्की से एशिया माइनर और थ्रेस की उपजाऊ और ऐतिहासिक भूमि, जहा के ज्यादातर निवासी तुर्क ही है, छीनने के लिए यह लडाई नही लड रहे।" भारत के वाइसराय ने भी सार्वजनिक रूप से यह वादा किया कि "अरबिस्तान, मेसोपोटामिया और जद्दा के मुस्लिम तीर्थ-स्थानो की स्वतत्रता की रक्षा की जायगी।

१९१४ मे जब गाधीजी कुछ समय के लिए इग्लैड रुके थे तो वहा के भारतीय मुसलमानो की तुर्की-सबधी चिता की बात उन्हे मालूम हुई थी। १९१५ से १८ के बीच के समय मे जब वह सरकार से किसी भी तरह का सघर्ष लेने के पक्ष मे नही थे, तो भारतीय मुस्लिम नेता उनसे प्राय खिलाफत के भविष्य के सबध मे सलाह-मशवरा किया करते थे। उन्ही दिनो गाधीजी ने मुस्लिम लीग और अलीगढ के मुस्लिम विश्व विद्यालय मे भाषण दिये। मुस्लिम देशभक्तो को वह हमेशा यही सलाह देते थे कि उन्हे धीरज रखना चाहिए और हिंसा तथा उत्तेजना से बचते हुए अहिंसात्मक उपायो का अवलबन करना चाहिए। खिलाफत के एक नेता मुहम्मद अली उस समय जेल मे थे। गाधीजी का उनसे भी पत्र-व्यवहार था। १९१८ मे जब वह वाइसराय द्वारा आयोजित युद्ध-सम्मेलन मे भाग लेने के लिए दिल्ली गये तो मुहम्मद अली को रिहा करने की जोरदार सिफारिश की और मुसलमानो को यह आश्वासन देने का कि तुर्की के भविष्य के बारे मे मुसलमानो की भावनाओ का आदर किया जायगा सरकार से आग्रह भी किया।

१९१८ के नवबर महीने मे जब पहला महायुद्ध समाप्त हो गया तो

खिलाफत के सवाल ने फिर जोर पकडा। १९२० के जनवरी महीने मे मुस्लिम नेताओ का एक प्रतिनिधि-मडल वाइसराय से मिला तो उन्होने यह कहकर छुट्टी कर दी कि यदि भारतीय मुसलमानो का कोई डेपुटेशन इग्लैड जाना चाहे तो उसके लिए सारा इतजाम कर दिया जायगा।

वाइसराय से दरख्वास्ते करने और इग्लैड प्रतिनिधि-मडल भेजने मे अव वहुत-से मुस्लिम नेताओ का विश्वास भी नही रह गया था। उनमे मौलाना अवुल कलाम आजाद भी थे, जो उन दिनो 'अलहिलाल' नामक उर्दू पत्र का सपादन करते थे। खिलाफत के नेताओ की एक वैठक छह घटे तक इस बात पर बहस करती रही कि अव अगला कदम क्या हो, लेकिन किसी नतीजे पर नही पहुच पाई। गाधीजी को उस वैठक मे खासतौर पर बुलाया गया था। उन्होने यह काम एक उपसमिति के जिम्मे सौपने की सलाह दी। उस उपसमिति मे अवुल कलाम आजाद, हकीम अजमल खा और गाधीजी को रखा गया। मौलाना आजाद के कथनानुसार 'असहयोग का विचार सवसे पहले उस उपसमिति मे ही पैदा हुआ।"[1] दूसरे दिन गाधीजी ने जब "ब्रिटिश सरकार से असहयोग का कार्यक्रम" मुस्लिम नेताओ के आगे रखा तो वहुत-से घवरा उठे और उन्होने तजवीज पर गौर करने के लिए वक्त की माग की।

१९२० के फरवरी महीने मे मौलाना अवुल कलाम आजाद की अध्यक्षता मे कलकत्ता मे खिलाफत-सम्मेलन हुआ और उन्होने इस वात पर जोर दिया कि गाधीजी की तजवीज को मजूर कर लेना चाहिए। इसी वीच तुर्की के साथ सधि की शर्ते प्रकाशित हुई, उससे मुसलमानो का असतोष और वढ गया। तुर्की के साथ नरमी का वह वर्ताव नही किया गया, जिसकी भारतीय मुसलमानो को आशा थी और जिसकी वे वरावर माग करते आ रहे थे। वाइसराय की इस सलाह ने तो कि "अपने तुर्की विरादरो की वदकिस्मती को चुपचाप और धीरज से वर्दाश्त कर लेना ही हिंदी मुसलमानो के लिए वाजिव है" और भी जले पर नमक छिडक दिया। भारतीय मुसलमानो के सब्र का घडा भर चुका था। खिलाफत के नेता अपने विरोध और गुस्से को किसी भी तरीके से जाहिर करने के लिए वेताव हो उठे। ९ जून

[1] महादेव देसाई 'मौलाना आजाद', आगरा (१९४०), पृष्ठ २७

को इलाहाबाद मे खिलाफत कमेटी की बैठक हुई और उसमे एक राय से गाधीजी के असहयोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। वाइसराय को एक महीने का नोटिस देकर असहयोग-आदोलन शुरू करने का भार भी गाधीजी को ही सौंपा गया था। ऊपर के फैसले के पद्रह दिन बाद गाधीजी ने वाइसराय को लिखकर सूचित कर दिया कि ब्रिटेन ने युद्ध-काल मे मुसलमानो से जो वादा किया था, उसके अनुसार अगर तुर्की की सधि-शर्तो मे परिवर्तन नही किया गया तो वह मुसलमानो को सरकार से असहयोग करने और हिंदुओ को भी उस आदोलन मे शरीक हो जाने के लिए कहेगे।

खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानो से पूरी तरह सहमत न होते हुए भी अपने अत्यधिक धार्मिक दृष्टिकोण के कारण गाधीजी यूरोपियनो और पढे-लिखे हिंदुओ की अपेक्षा उनकी भावनाओ को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते थे और इसीलिए इस प्रश्न पर मुसलमानो से उनकी सहानुभूति थी। लेकिन दुर्भाग्य से खिलाफत के बारे मे उनका सारा ज्ञान धर्मप्राण मौल-वियो और अखिल इस्लामवाद के उत्साही समर्थको द्वारा दी हुई जानकारी तक ही सीमित रहा, इसलिए वह इस समस्या के घोर प्रतिक्रियावादी स्व-रूप को समझने मे असमर्थ रहे। वह यह देख ही न सके कि खिलाफत तो खुद ही मौत की घडिया गिन रही है, यहातक कि तुर्की के मुसलमान ही उसे जीवित रखना नही चाहते, और तुर्को के ओटोमान साम्राज्य को प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियो मे जर्मनी के हैप्सबर्ग साम्राज्य की ही तरह बचाया नही जा सकता और इस्लामी दुनिया के अरब आदि सभी छोटे-बडे मुस्लिम राष्ट्र तुर्की साम्राज्य के जुए को उतार फेकने के लिए सघर्ष कर रहे है।

सितबर १९२० मे काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ और उसमे गाधीजी का असहयोग का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया गया। अब वह एक साथ राष्ट्रीय और खिलाफत दोनो ही सघर्षो के नेता थे। अली बधुओ के साथ उन्होने सारे देश का दौरा किया और सर्वत्र हिंदू-मुस्लिम एकता का जैसे ज्वार ही आ गया। हिंदू और मुसलमान दोनो ही बडी श्रद्धा-भक्ति से उनके भाषण सुनने को जमा होते थे। यहातक कि पर्दानशीन मुस्लिम

महिलाए भी उन्हे आग्रहपूर्वक अपनी सभाओ मे ले जाने लगी, जहा बूढे-बूढे मौलवी भी आखो पर पट्टी बाधे बगैर तकरीर नही कर सकते थे, लेकिन गाधीजी को इतना "पाक, नेक और साफदिल" समझा जाता था कि उनकी आखो पर पट्टी बाधने की जरूरत ही नही महसूस की गई। यह सब देखकर गाधीजी को भी हिंदू-मुस्लिम एकता की अपनी मनोभिलापा पूरी होने का विश्वास होने लगा।

अब वह एक ऐसे जन-सघर्ष का नेतृत्व करने जा रहे थे, जिसका उद्देश्य देश से विदेशी शासन को समाप्त करना था। अहिसक होते हुए भी वह सघर्ष एक खुला विद्रोह था।

जिस साम्राज्य का उन्होने गौरव-गान किया था, जिस साम्राज्य की लडाइयो को, अहिंसावादी होने के बावजूद, अपना मानकर उन्होने मदद की थी, उसी साम्राज्य के खिलाफ राजद्रोह के रास्ते पर अनचाहे ही वह काफी दूर तक निकल आये थे। 'यग इडिया'[1] के १५ दिसबर, १९२१ के अक मे उन्होने लिखा था—"लार्ड रीडिंग को यह बात समझ लेनी चाहिए कि असहयोग करनेवाले सरकार से जगी लडाई लड रहे है, और उन्होने सरकार के खिलाफ बगावत कर दी है।"

ये वही गाधीजी थे, जिन्होने मदरास के वकीलो की एक सभा मे १९१५ के अप्रैल महीने मे "अपार हर्ष के साथ ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी वफादारी को दुहराते हुए" उस साम्राज्य की "कई खूबियो मे से

---

१ अग्रेजी साप्ताहिक "यग इडिया' और उसके हिंदी तथा गुजराती सस्करण 'नव-जीवन' गाधीजी ने प्रथम सत्याग्रह आदोलन के समय १९१९ में शुरू किये थे। जैसाकि खुद महात्माजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, "इन अखबारों के जरिए मैंने सत्याग्रह की शिक्षा जनता को यथाशक्ति देना शुरू किया। पहले दोनों अखबारों की थोडी ही प्रतिया छपा करती थीं, सो बढते बढते ४०,००० के आसपास पहुच गई थी। दोनों अखबारो ने आडे समय पर जनता की अच्छी सेवा की और फौजी कानून के जुल्म को हलका करने मे हिस्सा लिया।" बाद में इनको बद करके इनकी जगह 'हरिजन' और 'हरिजन सेवक' शुरू किये। 'हरिजन सेवक' 'हरिजन' का हिंदी सस्करण था और दूसरी भी कई भारतीय भाषाओ में उसके सस्करण प्रकाशित होते थे।

सबसे बड़ी खूबी" यह बताई थी कि "ब्रिटिश साम्राज्य के हर प्रजाजन को अपनी योग्यता और रुतबे के अनुसार तरक्की का पूरा मौका मिला हुआ है और हर आदमी अपने विवेक के अनुसार सोचने-विचारने को पूरी तरह आज़ाद है।"

दक्षिण अफ्रीका मे पूरे बीस वर्षो तक गोरी सरकार से सघर्ष कर चुकने के बाद यह बात तो गाधीजी को मालूम हो ही जानी चाहिए थी कि गोरे और कालो मे तथा शासक एव शासितो मे कोई समता इस साम्राज्य मे नही थी। जिन उपनिवेशो मे गोरो का बाहुल्य था, जैसे कि आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि, वे तो बहुत तेजी से शासक देश के समकक्ष आते जा रहे थे, लेकिन इग्लैंड के अधीनस्थ देशो मे उत्तरदायी शासन की प्रगति की रफ्तार या तो बहुत धीमी थी या बिलकुल ही नही थी। भारत मे अग्रेजी राज्य की नींव कैसे पडी और यहा उसकी जडे कैसे मजबूत हुई, इसकी जानकारी गाधीजी को न रही हो, सो बात नही। ईस्ट इडिया कपनी की जीत का कारण उन्होने भारतीय राजाओ की आपसी लडाइयो और पारस्परिक फूट को ही माना था। भारत मे शाति-स्थापना के अग्रेजो के दावे की उन्होने यह कहकर आलोचना की थी कि शाति केवल नाम को ही थी, असलियत मे तो भारतीयो को निर्वीर्य और कायर बना दिया गया था और रेलो, अदालतो और विदेशी शिक्षा-प्रणाली ने देश पर विदेशी शासन के शिकजे को कसा ही था। भारत मे अग्रेजी राज्य पर इतने कडे आरोप लगाने के बाद भी उन्होने जो निष्कर्ष निकाला, वह बडा ही अद्भुत था—भारत को कुचलने का दोषी ब्रिटिश राज्य नही, विदेशी सभ्यता थी, जिसने इस तरह की शासन-प्रणाली को जन्म दिया था। उनकी दृष्टि मे सारी अग्रेज जाति उस सभ्यता से पीडित और उसकी शिकार बनी हुई थी, वह घृणा की नही दया की पात्र थी। इसीलिए वह विजेताओ पर आध्यात्मिक विजय की बात किया करते थे। उन्होने कहा भी था, "ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी वफादारी जाहिर करने मे मेरा स्वार्थ ही है। मैं अग्रेज जाति के जरिए अहिसा का महान सदेश फैलाना चाहता हू।" १९१५-१६ मे पश्चिम के भौतिकवाद के घोर विरोध के कारण और पूर्व की प्राचीन सस्कृति, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, चर्खा और खादी

के विकास और भारतीय भापाओ के प्रचार-प्रसार पर अपने अत्यधिक आग्रह के कारण वह निरे आदर्शवादी, राजनीति से एकदम परे और बिलकुल ही दूसरी दुनिया के व्यक्ति मालूम पडते थे।

इस सबसे कुछ लोगो का यह विश्वास हो चला था कि गाधीजी अपनी शक्ति और प्रतिभा का उपयोग निर्दोष और अहानिकर सामाजिक सुधारो को गति देने मे ही करेंगे। लेकिन यह उन लोगो की भूल थी। गाधीजी के निकट राजनैतिक और अराजनैतिक कार्यो का विभाजन करनेवाली कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नही थी। जब वे लोगो से धर्म पर आचरण करने के लिए कहते तो हमेशा इस बात पर जोर देते थे कि एक ईश्वर को छोड और किसी भी सासारिक शक्ति से डरना नही चाहिए। जिस स्वदेशी को अपनाने का वह उपदेश देते थे वह भी "जहा हम रहते है वही की चीजो का उपयोग और वही की सेवा करने" की धार्मिक प्रवृत्ति ही थी और इसीसे वह यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकाला करते थे कि अपनेको जीवित रखे बिना भारत लकाशायर के लिए कुछ भी नही कर सकता। राष्ट्रभापा के रूप मे किसी विदेशी भापा के प्रयोग के वह सख्त खिलाफ थे और १९१८ के युद्ध-सम्मेलन मे तो हिंदी मे बोलकर उन्होने सबको चकित ही कर दिया था। सरकार शीघ्र ही इस नतीजे पर पहुच गई कि यह आदर्शवादी गाधी तो मानवी शक्ति का ऐसा बारूदखाना है, जिसे न तो काबू मे रखा जा सकता है और न जिसके बारे मे यही कहा जा सकता है कि यह कब क्या कर बैठेगा?

१९१६ मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटन करते हुए तो गाधीजी ने कई बाते बिलकुल साफ-साफ ही कह दी। भारतीय राजाओ को उन्होने उनकी तडक-भडक और श्री-सपन्नता के लिए खूब कसकर फटकारा—"जब मैं यह सुनता हू कि ब्रिटिश भारत या देशी राज्यो के किसी बडे शहर मे कोई महल बनाया जा रहा है तो मैं चौक पडता हू और एकदम मेरे मुह से निकल जाता है कि हाय वह तो किसानो की गाढी कमाई का पैसा है!" उसी भापण मे उन्होने आगे कहा था, "अगर हम ईश्वर मे भरोसा रखते है और उससे डरते हैं तो फिर हमे किसीसे डरने की जरूरत नही—न राजा-महाराजाओ से, न वाइसरायो से और न बादशाह पचम-

जार्ज से ही।" श्रीमती एनी बेसेंट भी उस समारोह मे उपस्थित थी, उनसे यह सब सहा नही गया और वह चिल्ला उठी, "बद भी कीजिये इन सबको।" और वहा उपस्थित एक बडे अग्रेज अफसर ने चिनचिनाकर कहा था—"हमे इस आदमी की इस तरह की बकवासो को बद करना ही होगा।"

लेकिन जिसे गाधीजी उचित समझते थे उसे कहने और करने मे उन्हे दुनिया की कोई भी ताकत रोक नही सकती थी। चपारन के मजिस्ट्रेट से उन्होने कहा था—"आज्ञा का उल्लघन करने मे मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नही, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बडे कानून को स्वीकार करता है, अर्थात् अतरात्मा की आवाज, उसका अनुसरण करना है।" और यह सिद्धात उस समय के किसी भी उग्रतम राजनीतिज्ञ से निस्सदेह कही अधिक क्रातिकारी था।

आरभिक वर्षो के इन अनुभवो ने भारत मे ब्रिटिश राज्य के असली स्वरूप को देखने-समझने मे गाधीजी की काफी सहायता की। ब्रिटिश साम्राज्य की अच्छाइयो मे उनका विश्वास क्रमश डिगता चला गया।

अपनी मातृ-भूमि की गरीबी का कुछ ज्ञान तो उन्हे पहले से भी था, 'हिंद स्वराज्य' मे उन्होने उसका जिक्र भी किया था, लेकिन उसकी वास्तविकता तो उन्होने देश मे आकर ही जानी और जो देखा-सुना, उससे दग ही रह गये। बिहार के एक गाव मे एक औरत को गदे कपडो मे देखकर उन्होने कस्तूरबा से कहा था कि वह उसे सफाई से रहने की बात समझा दे। उस औरत ने कस्तूरबा को अपनी झोपडी मे लेजाकर जवाब दिया था, "देखिये, घर मे मेरी इस पहनी हुई साडी के अलावा दूसरा कोई भी कपडा नही है। मै क्या तो धोऊ और क्या पहनू? आप महात्माजी से कहकर मेरे लिए एक साडी का इतजाम और करवा दीजिये, फिर उनका हुकुम सिर-माथे, रोज धुली साडी पहना करूगी।"

१९१७ मे दक्षिण अफ्रीका मे बाढ के कारण वहा के भारतीयो को बडा कष्ट उठाना पडा। उन्होने भारत से सहायता की माग की तो उसी वर्ष दिसबर महीने मे 'इडियन ओपिनियन' मे गाधीजी ने एक लेख लिखकर कहा कि उन्हे भारत से सहायता की आशा नही करनी चाहिए—"यहा

इतनी भयकर गरीबी है कि वहा के बाढग्रस्तो के लिए भी किसी तरह की आर्थिक सहायता मागने की हिम्मत मैं नही कर सकता। यहा तो एक पाई भी सोने की मुहर के बराबर है। इस समय मैं ऐसे प्रदेश मे हू, जहा हजारो लोग सिर्फ एक जून सत्तू और नमक या सिर्फ उबाली हुई दाल खाकर जी रहे है।"

गुजरात राजनैतिक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए नवबर १९१७ मे भी उन्होने देश की घोर गरीबी का उल्लेख किया था। उन्होने कहा था कि सरकार ईमानदारी से ऐसा मानती है कि राष्ट्र की सपन्नता मे वृद्धि हो रही है, 'अपने विवरणो और वृत्तातो पर वह इतना अधिक आख मूदकर विश्वास करती है।"

शुरू-शुरू मे ब्रिटिश उच्चाधिकारी गाधीजी का बडा सम्मान करते रहे, क्योकि वे उन्हे पक्का राजभक्त समझते थे। लेकिन ज्योही गाधीजी ने सरकारी नीतियो और अधिकारियो की आलोचना करना शुरू किया, सारी सरकारी मशीनरी के कान खडे हो गये और वह अधिकारियो के उतने प्रिय पात्र भी नही रहे। प्रादेशिक और केद्रीय अधिकारियो की अपेक्षा जिलो के हाकिम उनसे अधिक घबराने लगे, क्योकि उन बेचारो को गाधीजी के आदोलन का खटका हमेशा लगा रहता था और यह आशका भी कि न जाने कब वह खतरे का रूप धारण कर ले। गाधीजी की पहली भिडत तिरहुत सभाग के आयुक्त से हुई और दूसरी बबई सूबे मे अहमदाबाद के आयुक्त से। अहमदाबाद के कमिश्नर को तो उन्होने "ब्रिटिश साम्राज्य के लिए जर्मनी से भी बडा खतरा" माना था और उसके साथ अपने सघर्ष को "ब्रिटिश साम्राज्य को अदरूनी खतरे से बचाने की कोशिश" कहा था। १९१७ मे तो वह सरकार के निकट इतने अविश्वसनीय हो उठे कि उनके पीछे खुफिया पुलिस भी लगा दी गई। नौकरशाही के समूचे तत्र को वह भय पर टिका हुआ मानते थे और यह कि "अफसर तो जनमत के आगे न झुकने को ही अपनी अफसरी और शान" समझता था। बार-बार के अनुभवो से जब उन्हे विश्वास हो गया कि सरकारी तत्र अपनी इज्जत के सवाल पर कितना अडियल, अपनी गलतियो को सुधारने के मामले मे कितना दीर्घ-सूत्री और अनमनीय होता है तभी उन्होने सघर्ष का मार्ग अपनाया था।

उन्होने लिखा भी था—"मनुष्य की गिरावट और भ्रष्टता मे विश्वास करना मेरे स्वभाव के खिलाफ है, लेकिन नौकरशाही का पतन तो इस हद तक हो गया है कि अपने मतलब को पूरा करने के लिए वे किसी भी तरीके को अपनाने मे बाज नही आते।" नौकरशाही मे पूरी तरह निराश हो चुकने पर ही वह इस निष्कर्ष पर पहुचे कि इस प्रणाली को सुधारा नही जा सकता, समाप्त ही करना होगा।

भारत के वाइसराय ने इस बात को बहुत पहले ही समझ लिया था कि यदि गाधीजी अच्छे मित्र बन सकते है तो वह उतने ही खतरनाक विरोधी भी साबित हो सकते हैं। १९१७-१८ मे चपारन की लडाई और दिल्ली के युद्ध-सम्मेलन के समय तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने गाधीजी का सहयोग और शुभेच्छाए बनाये रखने की कुछ कोशिशे की, लेकिन बाद के दो वर्षो मे अन्य उच्च अधिकारियो की भाति उनका भी यह विश्वास दृढ हो चला कि गाधीजी तो सरकार से झगडने का बहाना ही ढूढा करते हैं और कोई बात समझना नही चाहते, हर मामले मे जबर्दस्त विरोधी रुख बनाये रहते है। शुरू के उन दिनो मे ब्रिटिश सरकार जहा उनकी इज्जत करती थी वहा उनकी नीतियो और उद्देश्यो को लेकर आशकित भी रहती थी। सरकार उनके सत्याग्रह-आदोलन को भारत मे ब्रिटिश राज्य के लिए सिर्फ एक चुनौती ही मानती थी, उस चुनौती के नैतिक और अहिंसात्मक आधार को, जिसे गाधीजी इतना अधिक महत्व देते थे, वह बिलकुल ही नही देख पाती थी। अग्रेजो के लिए भारत मे अहिंसावादी तरीको से भी हटाये जाने मे भला कौन-सी अच्छाई हो सकती थी! वैसे उनका यह विश्वास भी नही था कि कोई जन-आदोलन अहिंसक रह भी सकता है। रौलट बिलो और खिलाफत के सवालो पर गाधीजी की यह सलाह कि झुकने मे सरकार की प्रतिष्ठा बढेगी और उसे सफलता मिलेगी, अग्रेजो की समझ मे नही आ पाती थी, और इसलिए उनकी दोस्ती और साम्राज्य-भक्ति पर उन्हे विश्वास नही हो पाता था।

यह कहना कि १९२० की ग्रीष्म और शरद की घटनाओ ने गाधीजी को राजभक्त से विद्रोही बना दिया, सही नही है। उन घटनाओ ने तो केवल उस प्रक्रिया को पूरा किया जो बहुत पहले शुरू हो चुकी थी। १९२०

मे उनकी घोर निराशा उस आशा के टूटने की ही जबर्दस्त प्रतिक्रिया थी, जो उन्होने युद्धकाल मे अग्रेजो को दी गई मदद के बदले युद्ध के बाद स्वराज्य की स्थापना के सम्बन्ध मे लगा रखी थी। सरकार द्वारा सभी तरह के आदोलनो के विरोध की नीति और राजनैतिक एव आर्थिक अन्यायो को मिटाने के लिए अहिंसक उपायो पर अमल करने के सहज अधिकार के गाधीजी के दावे मे कभी-न-कभी तो सघर्ष होना ही था और अन्त मे वह हुआ। आश्चर्य यही है कि उसमे इतना अधिक विलम्ब हुआ। युद्ध-काल मे गाधीजी सरकार को आदोलन करके किसी परेशानी मे नही डालना चाहते थे और सरकार भी उनके समर्थन और सहानुभूति को खोने के पक्ष मे नही। लेकिन कोई भी विदेशी सरकार गुलाम प्रजा के इस अधिकार को कि वह उसके विधि-विधानो और प्रशासन को, अहिंसक उपायो से ही क्यो न हो, चुनौती दे, कब स्वीकार कर सकती है। इसलिए जब गाधीजी ने पजाब के अत्याचारो और तुर्की के प्रति ब्रिटिश नीति के विरोध मे अहिंसक विद्रोह की कमान सभाली तो सरकार ने उसे अपनी सत्ता और अस्तित्व के लिए चुनौती समझा और मुकाबले के लिए तैयार हो गई।

राजनीति मे भी गाधीजी बडी ही भावुकता और सहृदयता से पेश आते थे। समझौते का कोई मौका वह हाथ से जाने नही देते थे। १९१९ के अतिम और १९२० के आरभिक महीनो मे वह सरकार की ओर से कोई ऐसा शुभ सकेत पाने की आशा लगाये रहे, जो ब्रिटिश न्याय मे उनकी डिगती हुई आशा को पुन दृढ कर सके। १९१९ के दिसबर महीने मे शाही फरमान की घोषणा हुई। गाधीजी ने उसका स्वागत किया, पर अत मे वह सदा की तरह का एक निरा शब्दजाल होकर ही रह गया। भारत मे बादशाह सलामत की सरकार ने उस फरमान की सही मन्शा को अमली रूप देने की जरा भी कोशिश नही की। पजाब की घटनाओ और खिलाफत के सवाल पर अधिकारियो की कथनी और करनी के भेद को गाधीजी ने खूब अच्छी तरह देख लिया था। स्वभाव से सहज विश्वासी होने के कारण जबतक सरकार की नेकनीयती मे उनकी आस्था बनी रही वह बराबर विश्वास करते रहे, लेकिन जिस क्षण आस्था टूटी, उन्हे ब्रिटिश राज्य एक नये ही रूप मे दिखाई देने लगा। शासन की बुराइयो को वह अधिकारियो के

व्यक्तिगत दुर्गुणो और कमजोरियो का परिणाम मानते रहे थे और शासन की अच्छाइयो को वह शाश्वत समझने आये थे। लेकिन 'यग इडिया' के ३१ दिसबर १९२१ के अक मे उन्होने लिखा—"अच्छाइया तो नीरो और मुसोलिनी के राज्यो मे भी कुछ-न कुछ हो ही सकती है, लेकिन असहयोग का फैसला कर लेने के बाद तो हमे अच्छाइयो का विचार करना ही नही है ब्रिटिश सरकार की उपकारी सस्थाए लोक कथा के उस मणिधर साप की तरह है, जिसके दातो मे हलाहल विष भरा होता है।"

· २० ·

एक साल मे स्वराज्य

गाधीजी ने खिलाफत कमेटी और काग्रेस के आगे सरकार से अहिंसात्मक असहयोग का जो कार्यक्रम रखा था और जिसे देश की जनता और सरकार ने इतना क्रातिकारी समझा था वह वास्तव मे गाधीजी के व्यक्तित्व और उनके दार्शनिक विचारो का ही अभिन्न अग था। १९०९ मे उन्होने लिखा था—"भारत को अग्रेजो ने नही जीता, हमीने उसे उनके हवाले कर दिया। भारत मे वे अपनी ताकत के बलपर नही है, हमी उन्हे यहा रखे हुए है।'[1] इसके एक साल बाद काग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को भेजे गए अपने सदेश मे उन्होने कहा था, "पेसिव रेजिस्टेंस ही भारत मे हमारी सारी तकलीफो की रामबाण दवा है।" इसलिए जब वह इस नतीजे पर पहुचे कि सरकार को किसी भी तरह सुधारा नही जा सकता तो "कुशासक को किसी भी तरह का सहयोग न देने के प्रजा के अनतकालीन अधिकार"[2] का उपयोग करने की उन्होने घोषणा कर दी। सरकारी शिक्षा-सस्थाओ का बहिष्कार करके इनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित करने की उनकी योजना मे रवीद्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, श्री निवास शास्त्री और सी० आर० दास जैसे उनके प्रमुख समकालीनो को भी गहरा

[1] गाधीजी हिंद स्वराज्य, सस्ता साहित्य मडल (१९५८), पृष्ठ ३४

[2] लार्ड चेम्स फोर्ड को २२ जून, १९२० को लिखा गाधीजी का पत्र।

सदेह था। लेकिन स्वय गाधीजी को कोई सदेह नही था, क्योकि वह स्वय अपने लडको पर इस नई शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग कर चुके थे। शिक्षा के लिए अग्रेजी माध्यम को वह भारतीय बालको को उन्हीके अपने देश मे विदेशी बनाने की दूषित प्रथा कहकर निदा करते थे। और जैसा वह कहते थे वैसा स्वय करते भी थे। १९१५ मे जब दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर बबई मे उनका स्वागत किया गया था तो उसमे अपना भाषण गुजराती मे देकर उन्होने वहा के सभी गण्य-मान्य नागरिको को स्तभित कर दिया था। १९१८ मे वाइसराय द्वारा आयोजित युद्ध-सम्मेलन मे हिन्दी मे बोल-कर उन्होने वाइसराय और उनके सहयोगियो को 'ठेस' भी पहुचाई थी।

भारत मे ब्रिटिश अदालतो के अनिष्टकारी प्रभाव के बारे मे तो वह अपना निर्णय १९०९ मे अपनी पुस्तक 'हिद स्वराज्य' मे ही दे चुके थे—'वकीलो ने भारत को गुलाम बनाया, हिंदू-मुसलमानो के झगडो को बढावा दिया और यहा अग्रेजी सत्ता को मजबूत किया। अग्रेजी शासन काल की अदालतो की लबी और खर्चीली कार्रवाइयो और उनके सत्यानाशी परिणामो के बारे मे अपने समय के प्रमुख वकील प० मोतीलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि "अदालत मे जो जीता सो हारा, जो हारा सो मरा।"

'स्वदेशी' अर्थात् अपने ही देश की बनी चीजो का इस्तेमाल गाधीजी के असहयोग-आदोलन का दूसरा कार्यक्रम था। दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आने के बाद से ही वह 'स्वदेशी' को अपनाने का उपदेश देते आ रहे थे। फरवरी १९१६ मे उन्होने ईसाई धर्म-प्रचारक पादरियो के एक सम्मेलन मे कहा था कि भारत स्वय जिदा रहे बिना लकाशायर के लिए जिदा नही रह सकता। विदेशी वस्त्रो के बहिष्कार और हाथ की कती-बुनी खादी के उप-योग की उनकी नीति को असहयोग-आदोलन के जमाने मे भारत सरकार-और कई भारतीय राष्ट्रभक्तो ने भी भारत के साथ ब्रिटेन की व्यापार नीति पर करारा आघात कहा था। लेकिन गाधीजी विदेशी वस्त्रो के बहि-ष्कार को राजनैतिक दबाव की तरह बिलकुल ही इस्तेमाल नही कर रहे थे, उनका मूल उद्देश्य तो इसके द्वारा भारत के प्राचीनतम गृहोद्योग को पुनर्जी-वित करना ही था। खेती पर दबाव इतना अधिक बढ गया था कि किसानो को पूरी रोजी नही मिल पा रही थी, चरखा अच्छी फसलवाले साल मे उन्हे

कुछ रोजी दे सकता था और सूखे-गीले साल मे तो वह भुखमरी और बेकारी के खिलाफ उनका 'बीमा' ही था।

कौसिलो के बहिष्कार को लेकर काग्रेस मे बडे बहस-मुबाहसे हुए और यहातक कहा गया कि धारा-सभाए तो स्वशासन की कला सिखाने के आवश्यक केद्र है। लेकिन गाधीजी इस विचारधारा मे जरा भी सहमत नही थे। न उन्होने कौसिलो के अन्दर जाकर 'भीतर से तोड-फोड' करने की नीति का ही समर्थन किया। दिसम्बर १९१९ मे भी, जबतक अग्रेजो की ईमानदारी मे उनका विश्वास बना रहा, उन्होने मोटेगू-चेम्स-फोर्ड सुधारो को कार्यान्वित करने की सिफारिश की, लेकिन जब विश्वास उठ गया तो वह कौसिलो को देशसेवको के मार्ग की बाधा और प्रलोभन समझने लगे।

इस तरह गाधीजी के असहयोग-आदोलन का सार था, अग्रेजी अदालतो, शिक्षण-सस्थाओ, कौसिलो और विदेशी कपडो का बहिष्कार। अपने इस आदोलन को उन्होने कभी अवैधानिक नही समझा, क्योकि उनके शब्द-कोश मे वैधानिक और नैतिक एक दूसरे के पर्याय ही थे। ब्रिटिश सत्ता इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ गई थी कि असहयोग-आदोलन सफल हो गया तो उसकी सारी प्रशासनिक मशीनरी ठप्प हो जायगी। लार्ड चेम्स फोर्ड ने पहले तो "हद दर्जे की बेवकूफी" कहकर इस आदोलन की खिल्ली उडाई, साथ ही, यह भी कहा कि जिनका सरकार से कुछ भी लेना-देना है, उन्हे यह तबाह कर देगी। साफ है कि वह ऐसी बात कहकर देश के सम्पन्न वर्गो को आतकित करना चाह रहे थे। कई नरम दली (माडरेट) नेताओ ने भी इस आदोलन की आलोचना मे सरकार का साथ दिया। मुहम्मदअली जिन्ना ने काग्रेस के दिसम्बर १९२० के नागपुर-अधिवेशन मे इस आदोलन का जबर्दस्त विरोध किया। गोखले के उत्तराधिकारी श्रीनिवास शास्त्री ने "सरकार का अनुचित और अविवेकपूर्ण विरोध करनेवाले अव्यावहारिक कार्यक्रम" के खतरो से अपने देशवासियो को सचेत किया।

असहयोग-आदोलन के विरोध मे ब्रिटिश सरकार और देश के माडरेट नेताओ की भी मुख्य दलील यह थी कि इससे अराजकता फैल जायगी। गाधीजी ने अराजकता के खिलाफ पहले से ही पेशबन्दी कर ली थी, लेकिन

असहयोग को नकारात्मक और खतरनाक आदोलन कहकर निदित करनेवालो ने उन सतर्कताओ की ओर ध्यान ही नही दिया। वास्तव मे तो उस आदोलन को 'असहयोग' का नाम देना ही भ्रामक था, क्योकि जहा कुछ सस्थाओ को तोडा जा रहा था वही उनकी जगह नई सस्थाओ का निर्माण भी तो किया जाने को था। सरकारी स्कूलो और कालेजो को छोडनेवाले शिक्षको और विद्यार्थियो से राष्ट्रीय विद्यापीठो मे सम्मिलित होने के लिए कहा गया था, अदालतो का बहिष्कार करनेवाले वकीलो और विवादार्थियो (मुवक्किलो) से कहा गया था कि वे अपने मुकदमे पचायतो मे ले जाय, सेना और पुलिस मे इस्तीफे देनेवालो को काग्रेस और खिलाफत-समिति के स्वयसेवक दलो मे भर्ती होने के लिए कहा गया था। केवल विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करके ही नही रह जाना था, उसके साथ-ही-साथ शहर और गावो के लोगो के पहनने के लिए खादी और कताई-बुनाई को प्रोत्साहन देने की बात भी थी। इस तरह बहिष्कार के द्वारा लोगो के बेकार और निठल्ले हो जाने का कोई डर नही था, वह निरा नकारात्मक ही नही रचनात्मक आदोलन भी था। फिर यह भी नही भुलाना चाहिए कि मूल प्रस्ताव के अनुसार "असहयोग को अनुशासन व आत्म-त्याग के एक साधन के रूप मे पेश किया गया" था। सरकारी उपाधियो और अवैतनिक पदो के परित्याग से आरम्भ करके आदोलन को सामूहिक सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक पहुचाने के लिए बीच मे कई सीढिया रखी गई थी और हर जिले अथवा प्रात को उनके अनुशासन और सगठन की स्थिति के ही अनुसार एक के बाद दूसरा अगला कदम उठाने की अनुमति देने की बात थी। पूरा नियत्रण गाधीजी ने अपने हाथ मे रखा था। जहा अनुशासन की जितनी तैयारी होगी उन्हे उसी स्तर तक असहयोग करने की इजाजत दी जायगी और यदि आदोलन के उग्र रूप धारण करने की जरा-सी भी सम्भावना दिखाई दी तो फौरन आदोलन बन्द कर दिया जायगा, यह बात गाधीजी ने आरभ मे ही स्पष्ट कर दी थी। इस तरह अहिसा शाति की सबसे बडी गारटी थी, जिसपर गाधीजी बहुत जोर दे रहे थे। असहयोग ब्रिटिश राज्य से किया जा रहा था, लेकिन अग्रेजो से नफरत या बुरा व्यवहार करने की कडी मनाही थी। गाधीजी ने बार-बार इस बात की घोषणा की थी कि वे किसी

भी अंग्रेज के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करेंगे जैसा अपने सगे भाई से नहीं कर सकते। और कई सैद्धांतिक प्रश्नों पर असहयोग तो वह अपने सगे भाई से भी कर चुके थे।

गांधीजी असहयोग-आंदोलन के आत्मपरिष्करणवाले अंग पर बराबर जोर देते और उसके नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष पर उसमें सम्मिलित होनेवालों का ध्यान बार-बार आकर्षित करते रहे। भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत हुई थीं लोगों की आपसी फूट, हिंसा और भ्रष्टाचार के कारण, इसलिए जनता को इन बुराइयों से मुक्त होना ही पड़ेगा। अंग्रेजों का हृदय-परिवर्तन करने से पहले स्वयं भारतीयों को अपना हृदय-परिवर्तन करना होगा। यही काफी नहीं है कि भारतीय जनता सरकार से निडर हो जाय, उसे साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता, शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन, बेगार आदि सभी सामाजिक बुराइयों से भी अपना पीछा छुड़ाना होगा।

कांग्रेस के सितम्बर १९२० के कलकत्ता-अधिवेशन में गांधीजी ने कहा था कि यदि देश ने असहयोग के कार्यक्रम को सही ढंग से अपनाया तो एक साल में स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। सुभाषचन्द्र बोस ने इसे "ना-समझी ही नहीं बचकानापन भी" कहा था।[१] भारत की भूमि में सौ वर्षों से पैर जमाये हुए ब्रिटिश साम्राज्य को अहिंसक आंदोलन के द्वारा साल-भर में उखाड़ फेंकने की बात वैसे तो बहुत ही आशावादितापूर्ण लगती है, लेकिन गांधीजी ने कोई राजनैतिक भविष्यवाणी या वादा तो किया नहीं था। उनकी राय में सदियों से सोई हुई जनता को जगाने, निडर बनाने और कमर सीधी करके खड़ा करने में एक साल का समय बहुत काफी था। भारतीय जनता का नैतिक कायाकल्प ही ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता के विचारों को बदल सकता था। गांधीजी का कहना था कि 'आजादी जन्म लेने की तरह है। जबतक हम पूरी तरह आजाद नहीं हो जाते गुलाम बने रहते हैं। और जन्म तो सभीका एक क्षण में ही होता है।" और उन्होंने यह भी कहा कि मैंने तो राष्ट्र के आगे एक व्यावहारिक कार्यक्रम रख दिया है। अगर राष्ट्र युगों पुरानी अस्पृश्यता और नशाखोरी के अभिशाप से पीछा छुड़ाकर केवल एक साल में, अपने फुरसत के समय

[१] बोस, सुभाषचन्द्र 'इंडियन स्ट्रगल' कलकत्ता, १९४८, पृष्ठ ७०४

का उपयोग कर साठ करोड की लागत की खादी तैयार कर सके तो उसका पुनर्जन्म हुआ ही समझना चाहिए। ऐसे राष्ट्र मे अनुशासन, साहस और आत्म-त्याग की कोई कमी न होगी, उसकी तेजस्विता से आश्वस्त इग्लैंड को यह स्वीकार करना ही पडेगा कि बराबरी की भागीदारी के अतिरिक्त भारत से व्यवहार करने का दूसरा कोई आधार हो ही नही सकता। स्वराज्य इग्लैंड से उपहार मे नही मिल सकता। "पार्लमिंट तो अपने अधि-नियम से भारतीय जनता की घोषित आकाक्षा पर केवल मुहर लगाने का काम करेगी, जैसा कि उसने दक्षिण अफ्रीका के सघ के समय किया था।"

किसी भी राजनैतिक कार्यक्रम की सिद्धि के लिए उपयुक्त राजनैतिक सगठन भी होना चाहिए, यह बात गाधीजी को पच्चीस वर्ष की उम्र मे ही मालूम हो गई थी, जब नेटाल के भारतीयो के अधिकारो की लडाई लडने के लिए उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे नेटाल भारतीय काग्रेस की स्थापना की थी। अब 'अहिसात्मक असहयोग' के एक सार्थक सगठन के रूप मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस को नये सिरे से ढालने और सगठित करने की आवश्यकता गाधीजी ने अनुभव की। देश को वार्षिक सम्मेलन और लच्छेदार भाषण करने के मच की नही, जनता के सतत सम्पर्क मे रहनेवाले प्राणवान और लडाकू सगठन की आवश्यकता थी। समय के अनुकूल काग्रेस का नया विधान तैयार करने मे गाधीजी का हाथ था और वह विधान काग्रेस के नागपुर-अधिवेशन मे १९२० के दिसम्बर महीने मे अगीकृत कर लिया गया। उस विधान मे 'सभी वैध और शात उपायो से स्वराज्य की प्राप्ति' काग्रेस का लक्ष्य घोषित किया गया था। इस तरह सत्याग्रह को काग्रेस के विधान मे विधिपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ। काग्रेस सगठन को पहले से अधिक प्राति-निधिक परन्तु साथ ही ऐसा स्वरूप दिया गया, जिससे दो अधिवेशनो के बीच के समय मे रोजमर्रा के कामो को ज्यादा अच्छी तरह से किया जा सके।[१] अबतक काग्रेस उच्च और मध्यम वर्ग की ही बपौती थी, लेकिन

---

[१] इस विधान की दो खूबिया थी—एक तो काग्रेस का प्रातीय सगठन प्रातो की भाषा के अनुसार यानी भाषावार प्रातो के अनुसार किया गया और दूसरे अध्यक्ष, मत्री और कोषाध्यक्ष सहित पन्द्रह सदस्यों की एक कार्यकारिणी नियुक्त की गई, जिसने काग्रेस के रोजमर्रा के कार्य में एक क्राति ही कर दी। —अनुवादक

अब पहली बार इसके दरवाजे छोटे शहरो और गावो मे बसनेवाली उस लाखो-करोडो जनता के लिए खोल दिये गए, जिसकी राजनैतिक चेतना को गाधीजी जगाने मे लग हुए थे।

कलकत्ता मे तीन महीने पहले एक विशेष अधिवेशन करके असहयोग का जो प्रस्ताव पारित किया गया था, दिसबर १९२० के नागपुर अधिवेशन मे उसपर स्वीकृति की मुहर लगा दी गई। असहयोग के कार्यक्रम का विरोध यहापर भी हुआ। स्वय अधिवेशन के सभापति विजय राघवाचार्य ने उसकी आलोचना की और केलकर, जिन्ना और श्रीमती बेसेंट ने भी काफी विरोध किया। लेकिन आम प्रतिनिधियो के जोश और उत्साह के आगे विरोध टिक न सका, असहयोग काग्रेस का मुख्य कार्यक्रम और गाधीजी उसके निर्विवाद नेता स्वीकार किये गए। उस दिन से लेकर जीवन के अतिम दिन तक गाधीजी ने काग्रेस और भारतीय राजनीति को जिस हद तक प्रभावित किया उसकी मिसाल विश्व के इतिहास मे ढूढे नही मिलता।

अब गाधीजी महात्मा थे, स्वेच्छा अपनाई हुई गरीबी, सादगी, विनम्रता और साधुता आदि गुणो के कारण वह अतीतकालीन ऋषि ही प्रतीत होते थे, जो मानो देश की मुक्ति के लिए पुराणो के बीते कल से वर्तमान मे चले आये हो। देश की लाखो-करोडो जनता तो उन्हे अवतार पुरुष ही मानने लगी थी। एक बार बिहार के दौरे मे जब मोटर का टायर फट गया तो गाधीजी ने उसमे से उतरने पर सडक के किनारे एक बुढिया को खडा पाया। कहते है कि उसकी उम्र १०४ वर्ष की थी और वह बिना कुछ खाये-पीये सारे दिन बरसते पानी मे वहा खडी इतजार करती रही थी। जब किसीने उससे पूछा कि "अम्मा, तुम किसका रास्ता देख रही हो ?" तो उसने कहा, "बेटा, तुममे महात्मा गाधी कौन है ?" इस बीच गाधीजी भी उसके पास पहुच गये थे। उन्होने पूछा, "मैया, तुम गाधी को क्यो देखना चाहती हो ?" "वह भगवान के अवतार है, मै उनके दर्शन करना चाहती हू।" बुढिया ने जवाब दिया था। और पूरे पच्चीस बरसो तक लोग उनके पास केवल मार्गदर्शन के ही लिए नही, दर्शनो के लिए भी आते रहे। लोग महात्माजी के दर्शनो को काशी आदि तीर्थों की यात्रा से भी अधिक पुण्यप्रद मानते थे। कभी-कभी तो गाधीजी जन सामान्य

की इस श्रद्धा-भक्ति से दुखी भी हो जाया करते थे। अपनी इस आत्म-पीडा को व्यक्त करते हुए उन्होने लिखा भी था—"महात्मा होने के कष्ट को केवल महात्मा ही जान सकता है।" लेकिन जनता की यह अपार श्रद्धा-भक्ति ही थी, जिसकी बदौलत वह भारत के सार्वजनिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित कर सके। जवान या बूढा, वह सभीमे समान रूप से प्राण फूक देते थे। जवाहरलालजी ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' मे असहयोग-आदोलन मे गिरफ्तार होनेवाले उस किशोर की कहानी का विशद वर्णन किया है, जिसे टिकटी पर टागकर कोडे मारे गये थे और चमडी उधेडकर खून के फव्वारे उडानेवाले हर कोडे की मार पर वह 'महात्मा गाधी की जय' का नारा तबतक बुलद करता रहा, जबतक पीडा से बेहोश न हो गया।

गाधीजी ने भारतीय जनता के दिल के तारो को झनझना दिया था। साहस और त्याग की उनकी अपील को लोगो ने हाथो-हाथ लिया और वह स्वय भी साहस और त्याग की जीवित मूर्ति ही थे। जैसा कि चर्चिल ने कहा था, वह 'नगे फकीर' थे और उनकी इस फकीरी, सयम और आत्म-त्याग के ही कारण भारत की जनता उन्हे अपने प्राणो के इतना निकट अनुभव करती थी। उनसे प्रेरणा पाकर देश मे और भी कई फकीर शीघ्र ही पैदा हो गये। वैभवपूर्ण जीवन का परित्याग कर गाधीजी के नेतृत्व मे जेल जानेवालो मे प० मोतीलाल नेहरू, बाबू राजेद्रप्रसाद, सी० आर० दास, सरदार वल्लभभाई पटेल, सी० राजगोपालाचार्य आदि अनके महा-पुरुष थे। गाधीजी के सपर्क मे आने के बाद उन लोगो के जीवन का सारा अर्थ-बोध ही बदल गया था। बडौदा के भूतपूर्व न्यायाधीश अब्बास तय्यब-जी ने एक गाव से लिखा था—"लगता है, मानो मेरी उम्र बीस बरस कम हो गई, ओह, कितना अद्भुत अनुभव है। जनता के प्रति मेरा प्रेम उमडा आ रहा है और खुद जनता मे से एक हो जाना कितने बडे सम्मान की बात है। यह सब उस फकीर के बाने की करामात है, जिसने सारे भेद-भाव को खत्म कर दिया, हर बाधा-बधन को तोड बहाया।" प० मोती-लाल नेहरू ने इलाहाबाद के उच्च न्यायालय मे अपनी लाखो की प्रैक्टिस को लात मार दी थी, बीमारी के बाद किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान मे स्वास्थ्य

लाभ करते हुए उन्होने गाधीजी को जो पत्र लिखा था उसके कुछ अश इस प्रकार है—"पहले के राजसी रसोडे की जगह सिर्फ दो छोटी-सी रसोइया और नौकरो की पुरानी पलटन मे से अकेला एक मामली-सा नौकर—चावल, दाल और मसाले की तीन छोटी-छोटी थैलिया, जो सब मे एक खच्चर पर आ जाती है शिकार को धता बताई, दूर-दूर तक पैदल घूमने निकल जाता हू, राइफल और बदूको की जगह किताबो और पत्र-पत्रिकाओ ने ले ली है कहा से कहा जा गिरे। लेकिन जिदगी का जो लुत्फ आज है वह पहले कभी न था।"

और असहयोग के इन्ही दिनो के बारे मे पडित जवाहरलाल नेहरू भी अपनी पुस्तक मे लिखते है कि "मै आदोलन मे इस कदर डूब गया था कि पुराने मुलाकातियो, दोस्तो और किताबो का भी ध्यान न रहा, अखबार भी सिर्फ आदोलन की खबरो के ही लिए पढता था यहातक कि अपने परिवार, पत्नी और बेटी को भी करीब करीब भूल चला था।"[1]

: २१ :

उत्कर्ष

१९२१ भारत की जागृति का साल था। सर्वत्र उत्साह की लहर फैली हुई थी और असहयोग-आदोलन जोर पकडता जा रहा था। 'एक साल मे स्वराज्य' के नारे ने मजे-मजे से चली आती भारतीय राजनीति को जैसे बिजली ही छुआ दी थी। गाधीजी के 'साहस और बलिदान' के गुरु मत्र से दीक्षित सारा राष्ट्र युगो पुराने बधन और भय की नागफास को तोडकर उठ खडा हुआ था। सरकार चिंतित थी और कुछ परेशान भी, वह तय नही कर पा रही थी कि सत्याग्रह को दबाने के लिए क्या करे, वह नही जानती थी कि हिसात्मक आदोलनो के खिलाफ की जाने-वाली कार्रवाइयो से सत्याग्रह-आदोलन दब जायगा या और जोर पकड

---

१ नेहरू, जवाहरलाल 'मेरी कहानी', सस्ता साहित्य मडल (१९६१) पृष्ठ ११७

लेगा ?

गाधीजी के लिए वे दिन घोर व्यस्तता के थे। वह अपनी सामर्थ्य से कही अधिक काम कर रहे थे। देश का कोई भाग ऐसा नही था जहा का उन्होने दौरा न किया हो। वह छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता से सपर्क बनाये हुए थे। नेताओ को वह बराबर निर्देश देते, उनका मार्ग-दर्शन करते और आवश्यकता पडने पर कान-खिचाई भी करते रहते थे। रोज ढेरो चिट्ठिया आती और वह सबका यथायोग्य उत्तर देते थे। उनके सचिव और सहायक गण दूर-दराज के गावो के सही पते-ठिकाने मालूम करने के लिए रेलो की समय सारणियो और डाक-तार की निर्देशिकाओ के पन्ने रात-दिन पलटा करते थे। कई बार जब पत्र लिखनेवालो का नाम-पता बहुत कोशिश करने के बाद भी पढने मे न आता तो मूल चिट्ठी मे से उसे काटकर लिफाफे पर चिपका दिया जाता था। दम मारने की फुर्सत नही मिलती थी, फिर भी गाधीजी 'यग इडिया' और 'नवजीवन' मे लिखने के लिए वक्त निकाल ही लेते थे। इन पत्रो के हर पन्ने पर वह अपनी आत्मा को उडेल दिया करते थे। देशवासियो मे साहस और आस्था का सचार करनेवाले उस समय के अधिकाश लेख गाधीजी ने रेलगाडियो के तीसरे दर्जे मे यात्रा करते हुए ही लिखे थे। सोने के लिए मुश्किल से चार-पाच घटे का समय मिल पाता था और उसमे भी प्राय विघ्न पड जाया करता था। दिन हो या रात उनके रास्ते की हर स्टेशन पर अपार मानव-मेदिनी दर्शन, स्वागत और जय जयकार के लिए खडी ही होती थी। 'महात्मा गाधी के साथ सात मास' नामक पुस्तक के लेखक श्रीकृष्णदास ने आसाम के एक गाव के लोगो का उल्लेख किया है। लोगो ने ठान लिया था कि यदि गाधीजी की ट्रेन उनके स्टेशन पर नही रोकी गई तो सब-के-सब पटरियो पर लेट जायगे और ट्रेन को आगे बढने न देगे। उन्होने जो कहा था उसे कर दिखाया। और जैसे ही गाडी रुकी सारा गाव आधी रात के समय जलती मशाले लिये गाधीजी के डिब्बे मे घुस गया और महात्मा गाधी की जय-जयकार से दिग्दिगत को गुजा दिया।

लोगो की इस श्रद्धा-भक्ति से गाधीजी को बडा कष्ट होता था। बेरिसाल की एक सभा मे उन्होने लोगो को फटकारा भी—"जब मै 'महात्मा

गाधी की जय" का नारा सुनता हू तो मेरे कलेजे मे तीर चुभ जाता है । अगर आपके इस तरह चिल्लाने मे स्वराज्य मिल जाय तो मै यह दु ख भी सह लूगा । लेकिन जब मैं लोगो को अपना समय और शक्ति इस तरह बेकार चिल्लाने मे खर्च करते हुए देखता हू और जो असली काम करने का है वह नही किया जाता है तो जी चाहता है कि मेरी जय बोलने के बदले मेरे लिए चिता चुन दी जाय और मै उसकी जलती लपटो मे कूदकर अपने हृदय की धधकती आग को शान्त कर सकू ।"

कठोर शब्दो मे गाधीजी ने बहुत कडी बात कह दी थी, लेकिन साथ ही यह फटकार इस बात की द्योतक भी थी कि उस देश व्यापी जोश-खरोश के समय भी वह चुपचाप रचनात्मक काम के किये जाने को ही अधिक महत्त्व देते थे ।

लेकिन जनता को इस तरह जाग्रत होते देखकर गाधीजी को प्रसन्नता भी अवश्य होती थी । अपनी यात्राओ के दौरान किसी जगह उन्होने कहा भी था, 'महाकवि तुलसीदासजी ने जिस करुणा और दया का इतना बखान किया है उसकी जडे जमने लगी है ।" स्वराज्य के लिए उनका बताया हुआ रास्ता बिलकुल सीधा और साफ था । भारत अग्रेजो की तोपो के जोर से नही, खुद हिन्दुस्तानियो की खामियो और कमजोरियो की वजह से गुलाम था । जिस दिन भारत अपनेको अस्पृश्यता, कौमी झगडे, नशाखोरी, विदेशी कपडा और अग्रेजी सरकार द्वारा सचालित या सहायता-प्राप्त सस्थाओ की गुलामी से मुक्त कर लेगा, उसमे एक नई शक्ति का सचार हो जायगा । स्वराज्य ब्रिटिश पार्लमेट से इनाम के तौर पर मिलनेवाला नही था । गाधीजी ने तो, उन्हीके शब्दो मे, "यहातक कहने की धृष्टता कर डाली थी कि स्वराज्य भगवान भी नही दे सकता । उसे तो खुद हमीको अर्जित करना होगा ।"

गाधीजी ने पहली बार अप्रैल १९१९ मे कानून भग किया था । उस समय प्रातीय और केन्द्रीय दोनो ही सरकारो ने बडी मुस्तैदी से काम लिया । वह दिल्ली जा रहे थे, उन्हे रास्ते मे ही गिरफ्तार कर एक स्पेशल ट्रेन से फिर बम्बई पहुचा दिया गया और वहा पहुचते ही वह रिहा भी कर दिये गए । उनकी अनुपस्थिति मे गुजरात मे उपद्रव हो गया था, और फिर कुछ

दिनो के बाद पजाब मे भी हुआ। इसलिए गाधीजी ने कुछ समय के लिए सविनय अवज्ञा के आदोलन को स्थगित कर दिया था।

शुरू मे तो सरकार भी जोश मे आ गई थी और उसने गाधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उनकी गिरफ्तारी को कोई खास महत्व नही दिया। लेकिन बाद मे सोचने विचारने पर सरकार को सत्याग्रह के मुकाबले का यह ढग, यानी शक्ति का प्रयोग करना, उचित नही प्रतीत हुआ। उधर १९१९ के वसन्त मे जो घटनाए घटी, उन्होने जनता पर गाधीजी के अत्यधिक प्रभाव को सिद्ध कर दिया था, और ऐसे व्यक्ति की गिरफ्तारी खतरे से खाली नही हो सकती थी। फिर गाधीजी ने आदोलन को पहले स्थगित और बाद मे सीमित भी कर दिया था, और सरकार का ऐसा ख्याल था एक तो शायद वह कोई बडा देशव्यापी आदोलन चलायगे ही नही और दूसरे यह कि काग्रेस के सब नेता और सारे गुट उनका साथ नही देगे। इसलिए उनकी पहली गिरफ्तारी के समय की मुस्तैदी गवर्नरो और वाइसराय द्वारा लगभग तीन वर्षो तक नही दुहराई गई।

तत्कालीन होम मेबर सर विलियम विन्सेंट ने २६ अप्रैल, १९१९ के एक पत्र मे लिखा था—"गाधी और उनकी खामखयालियो से काफी लोग बहुत जल्दी तग आ जायगे।" बबई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने ११ जून, १९१९ को वाइसराय के नाम जो पत्र भेजा था, उसमे भी लगभग ऐसी ही बात कही गई थी—"मुझे यहा की फिक्र है, क्योकि गाधी चुप नही बैठे है पजाब के बारे मे उनका कुछ करने का इरादा जरूर है, मगर वह क्या है, इसका ठीक-ठीक पता मुझे अभी तक लग नही पाया है। उनकी सभाओ मे ज्यादा लोग नही आते और उनके अनुयायी भी काफी असन्तुष्ट मालूम पडते है गाधी को अगर सूबे से बाहर निकालते है तो उसकी मुखालफत मे जरूर जबर्दस्त तूफान उठ खडा होगा और न उनको गिरफ्तार करने की बात ही मेरी समझ मे आती है। होम रूल पार्टी मे तो यहा पूरी तरह फूट पड गई है। उसके कई बडे नेताओ ने इस्तीफे दे दिये है. अगर गाधी का बावेला न हो तो यहा की हालत कुल मिलाकर सन्तोषप्रद समझनी चाहिए लेकिन गाधी ही तो झगडे की सच्ची जड है। वह हमे मजबूर ही कर दे तो बात दूसरी है, वर्ना हमारे लिए तो गिरफ्तार गाधी से आजाद

गाधी कम ही खतरनाक है। उनका असर रोज-ब-रोज कम होता जा रहा है। वह भी इस बात को जानते है और अपने असर को फिर से कायम करने के लिए कोई बहुत तेज कदम उठाये बगैर रहेगे नही।"

सरकारी पक्ष के इन्ही विचारो के कारण, सितम्बर १९२० मे काग्रेस द्वारा असहयोग कार्यक्रम के अपना लिये जाने पर भी भारत सरकार ने ४ सितम्बर, १९२० के अपने गश्ती पत्र मे हस्तक्षेप न करने को ही 'सबसे सही नीति' और 'समझदारी की बात' कहा था—"असहयोग की योजना बहुत ही मूर्खतापूर्ण है और भारत सरकार को आशा है कि सामान्यत भारतवासी इसे नामजूर ही कर देगे इस समय तो हस्तक्षेप न करने की नीति सबसे समझदारी की बात होगी। भारत सरकार की राय मे इस समय आदोलन के नेताओ के खिलाफ नये दमनकारी कानून बनाना या प्रचलित फौजदारी कानून के अन्तर्गत उनपर मुकदमे चलाना बडी भारी भूल होगी। इस तरह से तो वे शहीद बन जायगे और काफी अनुयायी जमा कर लेगे, जो यदि नेताओ को न छोडा गया तो आदोलन से दूर ही रहेगे।"

२ अप्रैल, १९२१ को लार्ड चेम्स फोर्ड की जगह लार्ड रीडिंग भारत के वाइसराय बनकर आये। अप्रैल महीने का अन्त होते-होते उन्हे अपने एक पत्र मे कहना पडा—"इग्लैड मे था तो भारत की गम्भीर हालत की बात जानकर मुझे कोई खास चिन्ता नही हुई थी, लेकिन यहा आकर हालत की जाच-पडताल की तो मुझे सारे मामले पर गम्भीर रुख अख्तियार करने के लिए मजबूर होना पडा।" उन्होने आन्दोलन पर जबर्दस्त प्रहार करने का निश्चय कर लिया था, लेकिन इसके लिए समय चाहते थे, सो उन्होने, उनके जीवनी-लेखक पुत्र के शब्दो मे 'फेबियन नीति'[1] को अपनाया। मई का आधा महीना बीत जाने के बाद उन्होने गाधीजी से भेट की। प० मदन-मोहन मालवीय के प्रयत्नो से यह भेट तय हुई थी। भेट का मुख्य उद्देश्य खिलाफत आदोलन के कुछ नेताओ द्वारा हिंसा को भडकानेवाले तथा कथित भाषणो को लेकर जो गलतफहमी पैदा हो गई थी उसे दूर करना था। वाइसराय को यह शिकायत थी कि जब अफगानिस्तान के अमीर द्वारा

---

[1] शत्रु को पराजित करने के लिए सावधान एव दीर्घसूत्री युद्ध कौशल का प्रयोग करने की नीति।—अनुवादक।

भारत पर आक्रमण करने की अफवाह गरम थी तो मौलाना मुहम्मद अली ने अफगानिस्तान का हवाला देकर जो भापण किये, वे हिसा को भडकाने-वाले थे। गाधीजी को वाइसराय की शिकायत सही प्रतीत हुई और वह मौलाना मुहम्मद अली से उन भावो का सार्वजनिक रूप से प्रतिवाद कर-वाने के लिए राजी हो गये। इसमे गाधीजी का उद्देश्य अपने अनुयायियो और वाइसराय को भी यह विश्वास दिलाना था कि उनके आदोलन का मुख्य आधार अहिसात्मक ही था। लेकिन वाइसराय का दृष्टिकोण कुछ और ही था। वह तो चाणक्य-नीति से काम ले रहे थे—"मुहम्मद अली हिदू और मुसलमानो को जोडनेवाली कडी है, अगर उनमे और गाधीजी मे झगडा हो गया तो वह कडी टूट जायगी। अगर मुहम्मदअली ने गाधीजी का कहना मान लिया, और वह कहना मानकर अवश्य ही प्रतिवाद कर देगे, तो उनकी (मुहम्मद अली की) सार्वजनिक प्रतिष्ठा खत्म हो जायगी।"[1] लार्ड रीडिग की इस चाणक्य-नीति से इग्लैड के उपनिवेश-मत्री इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होने वाइसराय को लन्दन से बधाई का एक तार भेजा।

लेकिन इस सबके बावजूद अपने पुत्र को लिखे निजी पत्र मे लार्ड रीडिग ने स्वीकार किया है कि गाधीजी से मिलकर वह उल्लसित और रोमाचित हो जाया करते थे। उसी पत्र मे उन्होने गाधीजी के धार्मिक और नैतिक विचारो का उल्लेख करते हुए उन विचारो की सराहना की है और साथ ही यह भी कहा है कि राजनीति मे धर्म और नैतिकता को घुसेटने की बात उनकी (लार्ड रीडिग की) समझ मे नही आती। गाधीजी लार्ड रीडिग से सब मिलाकर छ बार मिले थे और उन दोनो ने पजाब के १६१६ के उपद्रव, खिलाफत-आदोलन, स्वराज्य का अर्थ आदि कई विपयो पर चर्चाए की थी।

गाधीजी और अली बन्धुओ मे मन-मुटाव होने की जो आशा भारत सरकार ने लगा रखी थी वह फलीभूत नही हुई। सितम्बर, १६२१ मे जब बबई की सरकार ने अली-बन्धुओ को गिरफ्तार कर उनपर भारतीय सैनिको को "अग्रेजी फौज मे भरती न होने और जो भर्ती हो चुके है उन्हे

[1] रीडिग, मार्क्वेस आफ 'रुफस इजाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिग', खड-२ पृष्ठ ११६

नौकरी छोड़ देने" की विद्रोहात्मक बात कहने का आरोप लगाया तो गांधीजी सहित पचासेक नेताओं ने अपने हस्ताक्षरों से घोषणा-पत्र प्रकाशित कर सभी भारतीय सैनिकों और सिविलियनों को सरकारी नौकरी छोड़कर जीवन-निर्वाह का कोई और प्रबन्ध कर लेने की सलाह दी थी।

प्रिंस आफ वेल्स की भारत-यात्रा का कार्यक्रम तो लार्ड रीडिंग के भारत का वाइसराय बनकर आने से पहले ही तैयार हो गया था। लेकिन लार्ड रीडिंग देश की बिगड़ी हुई राजनैतिक परिस्थिति के बावजूद युवराज के दौरे को स्थगित करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने उपनिवेश-मंत्री को लिखा था—"इस समय दौरे को स्थगित करना असहयोग-आंदोलन की ताकत के आगे झुक जाना ही नहीं, इंग्लैंड दूसरे सभी उपनिवेशों और सारी दुनिया के सामने यह स्वीकार कर लेना होगा कि भारत इतना विद्रोही हो गया है कि वहां पर राजकुमार को भेजना सुरक्षित नहीं समझा गया।"

१७ नवंबर, १९२१ को जब प्रिंस आफ वेल्स बंबई पहुंचे तो सरकारी स्वागत-समारोह में असहयोग-आंदोलन में भाग लेनेवालों में से एक भी उपस्थित नहीं था। गांधीजी उन दिन बंबई में ही थे और सवेरे एक विशाल आम सभा में विदेशी कपड़ों की होली उन्होंने जलाई थी, तीसरे पहर शहर में दंगा हो गया और युवराज एडवर्ड के स्वागत में सम्मिलित होनेवाले यूरोपियनों, पारसियों और अन्य राज्यभक्तों पर हमले भी हुए। गांधीजी और उनके साथियों ने जी-तोड़ कोशिशें की, गांधीजी ने खुद जा-जाकर लोगों को समझाया, उपवास भी किया तब कहीं जाकर बड़ी मुश्किलों से शांति स्थापित हो सकी। दूसरे शहरों में दंगे तो नहीं हुए, लेकिन लोगों ने स्वागत-समारोह का पूर्ण बहिष्कार कर ब्रिटिश राज्य के प्रति अपनी वास्तविक भावनाओं का बहुत अच्छी तरह परिचय दे दिया। राजकुमार जहां भी गये अधिकारियों ने उनके सम्मान में परेड स्वागत-समारोह और भोज आदि का पूरा-पूरा प्रबंध किया था, लेकिन जैसाकि ड्यूक आव विंड्सर ने अपने संस्मरणों में लिखा है "सड़कें सूनी, दूकानें बंद और चारों ओर सन्नाटा" था।

प्रिंस आफ वेल्स का कलकत्ते का दौरा दिसंबर, १९२१ के अंतिम सप्ताह में रखा गया था। वाइसराय घबराये कि कहीं दूसरे शहरों की तरह

यहा भी हड़ताल और विरोधी प्रदर्शन न होने लगे। उन्होने तुरत प० मदन-मोहन मालवीय की मध्यस्थता से काग्रेस के साथ समझौता-वार्ता के प्रयत्न शुरू कर दिये। मालवीयजी ने १६ दिसबर, १६२१ को गाधीजी को तार से सूचित किया कि वह गोलमेज-परिषद् बुलवाने के लिए वाइसराय के पास एक प्रतिनिधि-मडल ले जाना चाहते है, अगर वाइसराय ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर नेताओ को छोड दिया, तो क्या वह जबतक गोलमेज-परिषद् की बैठके होती रहेगी तबतक के लिए युवराज के बहिष्कार और सविनय अवज्ञा के आदोलन को स्थगित कर देगे ? ठीक यही प्रस्ताव सी० आर० दास को भी भेजा गया, जो उस समय कलकत्ते की प्रेसिडेसी जेल मे सजा काट रहे थे। सी० आर० दास और मौलाना अबुल कलाम आजाद को मालवीयजी का यह प्रस्ताव विचारणीय लगा और उन्होने तार द्वारा गाधीजी से इसको स्वीकार कर लेने का अनुरोध किया। गाधीजी ने स्वीकृति के लिए दो शर्ते रखी—एक तो यह कि परिषद् के सदस्यो के बारे मे और उसकी तिथिया पहले से तय हो जानी चाहिए, और दूसरे यह कि अन्य राजनैतिक बदियो के साथ-साथ अली-बधुओ को भी रिहा किया जाना चाहिए। मालवीयजी इस तरह का आश्वासन न दे सके, इसलिए समझौता-वार्ता वही भग हो गई।

अब दमन का चक्र जोरो से चल पडा। दिसबर, १६२१ और जनवरी, १६२२ मे लगभग तीस हजार लोगो को जेलो मे ठूस दिया गया। सभी तरह के स्वयसेवक सगठन गैर-कानूनी कर दिये गए, सभाओ और जलूसो को बल-प्रयोग करके तोडा जाने लगा। आधी रात मे काग्रेस और खिलाफत कमेटियो के दफ्तरो के ताले तोडकर तलाशिया लेना तो आम बात हो गई थी। उधर राजनैतिक बदियो के साथ जेलो मे सख्तिया की जाने लगी। इन्ही परिस्थितियो मे दिसबर, १६२१ मे काग्रेस का अहमदाबाद मे अधिवेशन हुआ और काग्रेस-सगठन तथा आदोलन को चलाने का सारा अधिकार गाधीजी को सौप दिया गया। काग्रेस के भीतर कार्यकर्ता इस बात पर बहुत जोर दे रहे थे कि सघर्ष को और तेज किया जाय और सविनय अवज्ञा को अधिक व्यापक पैमाने पर शुरू किया जाय। गाधीजी के सत्याग्रह के हरबे मे जन-सघर्ष निश्चय ही बहुत प्रभावशाली पर साथ ही खतरनाक हथि-

याग भी था। उन्होने भूकप से इसकी तुलना करते हुए कहा था—"राजनैतिक पैमाने पर एक भारी उथल-पुथल—सरकार बिलकुल ठप हो जाती है—पुलिस थाने, अदालतें और सरकारी दफ्तर सरकार की सपत्ति नही रहते, जनता के अधिकार मे चले जाते है।"

गाधीजी सविनय अवज्ञा को पहले एक जिले मे शुरू करना चाहते थे, वहा सफल हो जाने पर दूसरे जिले मे, फिर तीसरे जिले मे और इसी तरह सारे देश मे उसे फैलाने की उनकी योजना थी। उन्होने बहुत स्पष्ट शब्दो मे यह चेतावनी दे दी थी कि यदि देश के किसी भी भाग मे हिसा का जरा-सा भी प्रदर्शन हुआ तो आदोलन शातिपूर्ण न रह सकेगा "एक तार के टूट जाने से भी वीणा का स्वर विसवादी हो जाता है।"

नवबर, १९२१ मे, प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर बबई मे जो दगा और खून-खच्चर हुआ था, उससे गाधीजी सविनय अवज्ञा को स्थगित करने के लिए विवश हो गये थे। उस समय उन्हे वातावरण इस तरह के आदोलन के उपयुक्त नही लग रहा था। लेकिन अगले दो महीनो मे सरकार ने जैसा धुआधार दमन किया उससे उन्हे अपने विचारो को बदलना पडा। सभाओ पर प्रतिबन्ध तो लगाये ही जा रहे थे, अखबारो का गला भी घोटा जाने लगा। जैसाकि गाधीजी ने स्वय कहा था, "अब उन्हे सविनय अवज्ञा को जनसघर्ष का रूप देकर उसके सारे खतरो को मोल लेने अथवा जनता की वैध कार्रवाइयो के गैर-कानूनी दमन" मे से किसी एक का 'चुनाव' करना था। उन्होने खतरे को ही मोल लेने का फैसला किया। स्वय अपने नेतृत्व मे गुजरात के बारडोली तालुके मे जन-सत्याग्रह शुरू करने की तैयारियो मे वे जुट गये। बारडोली का चुनाव करते समय उन्होने वहा के निवासियो को साफ शब्दो मे बता दिया था कि कर देने से इनकार करने की सूरत मे उनकी खडी फसले कुर्क की जा सकती है, जमीनें जप्त की जा सकती है जानवर नीलाम किये जा सकते है और नक्शे पर से बारडोली तालुके का नाम निशान भी मिट सकता है।

गाधीजी ने वाइसराय के नाम एक खुला पत्र लिखकर बारडोली मे जन-सत्याग्रह शुरू करने के अपने इरादे की सूचना सरकार को दे दी। भारत सरकार ने भी तुरत एक वक्तव्य निकालकर उसका यह जवाब दिया

कि "इस समय देश के सामने सवाल इस या उस राजनैतिक कार्यक्रम को आगे बढाने का नही, कानून-भग से होनेवाले नतीजो और जिन सिद्धातो पर तमाम सभ्य सरकारे टिकी हुई है, उनके निर्वाह और रक्षा का है।" सरकार का मतलब साफ था—आदोलन करोगे तो कठोर दमन से उसको कुचल दिया जायगा।

और यो काग्रेस और सरकार दोनो ही सीधी भिडत के लिए आमने-सामने आ खडे हुए थे।

: २२
अपकर्ष

जिस 'खुले पत्र' को वाइसराय ने अल्टीमेटम समझ लिया था, मगर जो गाधीजी की दृष्टि मे सत्याग्रही का केवल परम पुनीत कर्त्तव्य ही था, वह १ फरवरी, १९२२ को लिखा गया था। उसके तीन ही दिन बाद सयुक्त-प्रात (अब उत्तर प्रदेश) के गोरखपुर जिले के एक छोटे-से गाव चौरी चौरा मे पुलिस और काग्रेस का जलूस निकालनेवालो के बीच भीषण रक्तकाड हो गया। जलूस का मुख्य हिस्सा थाने के सामने से आगे निकल गया था। जो पीछे रह गये थे पुलिस के सिपाहियो ने उनकी खिल्ली उडाई तो उन्होने भी वैसा ही जवाब दिया। इसपर पुलिस ने गोली चला दी और जब गोली-बारूद खत्म हो गया तो थाने मे घुसकर अदर से किवाड वद कर लिये। इतने मे पूरा जलूस लौट आया और क्रोधोन्मत्त भीड ने थाने मे आग लगा दी, सिपाहियो ने भागकर जान बचाने की कोशिश की तो सभीके टुकडे-टुकडे कर दिये गए। उस रक्तकाड की बाईस वलियो मे थानेदार और सिपाहियो के साथ थानेदार का नन्हा बेटा भी था।

गाधीजी के लिए तो यह हत्याकाड अनभ्र आकाश से होनेवाले वज्र-पात की ही तरह था। वह इस नतीजे पर पहुचे कि देश का वातावरण अभी जन-सत्याग्रह के उपयुक्त नही है और इसलिए उन्होने बारडोली के सत्याग्रह को, जिसे केवल एक सप्ताह पहले ही शुरू किया गया था, वापस लेने का

फैसला कर लिया। काग्रेस की कार्यकारिणी के जो सदस्य जेल से बाहर थे उनसे उन्होंने इस सबध मे सलाह-मशविरा भी किया। २४ फरवरी, १९२२ को दिल्ली मे महासमिति की बैठक हुई और गाधीजी की प्रेरणा से चौरी चौरा-काड पर खेद प्रकाश करते हुए सत्याग्रह के स्थगन का प्रस्ताव मजूर कर लिया गया, और काग्रेसियो से अनुरोध किया गया कि गिरफ्तार होने और सजा पाने के लिए कोई काम न करे। आदोलन के 'उग्र रूप' के बदले अब सारा जोर रचनात्मक कार्यक्रम[1] पर था, क्योकि "यह मान ली गई थी कि यदि कार्यकर्त्ता रचनात्मक कार्य मे अपनी सारी शक्ति लगा दे तो जिस अहिंसात्मक वातावरण की आवश्यकता थी, वह जरूर उत्पन्न हो जायगा।"

सत्याग्रह को स्थगित करने के इस निश्चय की सारे देश मे जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई है। यहातक कि गाधीजी के घनिष्ठ सहयोगी भी किंकर्तव्य विमूढ-से रह गये। सुभाषचन्द्र बोस उस समय जेल मे सी० आर० दास के साथ थे और उनकी उस समय की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए वह लिखते है—"गाधीजी को फिर इस तरह बपला करते हुए देख देशबधु को बड़ा दुःख हुआ और गुस्सा भी खूब आया।"[2] मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल के भीतर से लबे-लबे पत्र लिखे और किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को सजा देने के लिए उन्हे खूब आडे हाथो लिया। गाधीजी को अब पता चला कि कार्य-समिति और महासमिति मे अधिकाश सदस्यो ने सैद्धान्तिक आधार पर नहीं केवल उनके प्रति भक्ति के ही कारण उन प्रस्तावो का समर्थन किया था। यहातक कि उनके कुछ कट्टर समर्थकों के मन भी बारडोली प्रस्ताव के औचित्य के सबध मे सदेहो से डावाडोल होने लगे थे। चौरी चौरा की घटना के कारण बारडोली के सत्याग्रह को स्थगित कर देना किसी भी तर्क से उनकी समझ मे नहीं आ रहा था। अहिंसा-

[1] बारडोली में कार्यसमिति के आगे गाधीजी ने रचनात्मक कार्य। का जो रूप पेश किया था और जिसपर दिल्ली मे महासमिति ने अपनी मुहर लगाई वह इस प्रकार था—काग्रेस के लिए एक करोड सदस्य भरती करना, चरखे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयो को खोलना, मादक-द्रव्य-निषेध और पचायतों का सगठन आदि। —अनुवादक

[2] बोस, सुभाषचन्द्र—'दि इडियन स्ट्रगल', कलकत्ता, १९४८, पृष्ठ ९०८

त्मक विद्रोह को दबाने के लिए क्या सरकार अपने ओहदो के द्वारा ऐसे काड नही करवा सकती ? काग्रेस राजनैतिक सस्था है या महात्माजी के अन्त -सवर्ष का परीक्षण और प्रयोग करने का मच ? क्या राष्ट्र के बलिदानो को इसी तरह व्यर्थ हो जाने देना उचित है ? और हजारो राजनैतिक कार्यकर्त्ता आखिर कबतक योंही जेल मे सडते रहेगे ? आदोलन के सबसे 'उग्र' और क्रातिकारी कदम को यो वापस ले लेना क्या सरकार को कार्यकर्त्ताओ पर अत्याचार और दमन करने का न्योता देना ही नही है ?

गाधीजी पर चारो ओर से ऐसी ही बौछारे पडने लगी। उस समय का शायद ही कोई आलोचक इस बात को समझ सका था कि चौरी चौरा सत्याग्रह-आदोलन को वापस लेने का मूल कारण नही, केवल निमित्त था। जबसे गाधीजी ने रोलट बिलो का विरोध किया और देश के सामने राजनैतिक और सामाजिक अन्याय को मिटाने के लिए सत्याग्रह को एक कारगर हथियार के रूप मे पेश किया था तभीसे वह अहिंसा के महत्व पर बराबर जोर देते आ रहे थे, उनके भाषणो और लेखो का मूल विषय भी यही रहा था। लेकिन फिर भी अहमदाबाद, वीरमगाम और अमृतसर मे, १९१९ मे हिंसात्मक कार्रवाइया हो ही गई। जब स्थानीय अधिकारी जी-जान से लोगो को उकसाने मे लगे हो तो भीड की हिंसात्मक कार्रवाइयो को रोकना आसान भी नही होता। १८ अप्रैल, १९१९ को बबई मे गाधीजी ने कहा था, "मुझे इस बात का अफसोस है कि जन-आदोलन शुरू करते समय मैने हिंसा की शक्ति को कम करके आका।" देशवासियो मे हिंसा-भाव के प्रबल होने का ज्ञान तो उन्हे पहले से ही था, इसीलिए उन्होने खिलाफत आदोलन का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था, जिससे उस हिंसा-भाव को अहिंसा के रसायन मे परिवर्तित किया जा सके। खतरो की उन्हे जानकारी थी, इसलिए पूरे आदोलन को देश के राजनैतिक स्तर के अनुरूप विभिन्न क्रमागत चरणो मे बडी सावधानी से विभाजित किया गया था। असहयोग का कार्यक्रम शुरू होता था व्यक्तियो द्वारा सरकारी उपाधियो और अवैतनिक पदो को छोडने मे और अत होता था करबदी और सामूहिक रूप से कानून के सविनय-भग मे। आदोलन के इन दोनो छोरो के बीच जनता की राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्त करनेवाले ऐसे और भी कई कार्यक्रम थे, जो लोगो को अनुशासन

बद्ध करने के साथ-ही-साथ उन्हे जन-आदोलन के लिए तैयार भी करते थे। अछूतोद्धार, राष्ट्रीय विद्यापीठो की स्थापना, अदालतो का बहिष्कार और पचायतो मे आपसी झगडो का निपटारा, स्वयसेवको का सगठन, शराब की दुकानो पर धरना, विदेशी कपडो का बहिष्कार और खादी का प्रचार जनता को सगठित करने के ठोस और व्यावहारिक उपाय थे। जनता अहिंसक रहकर सरकारी दमन का जिस सीमा तक मुकाबला कर सके उसी सीमा तक कानून-भग की इजाजत देकर असहयोग के कार्यक्रम को क्रमश बढाते जाने का गाधीजी का विचार था। विदेशी शासन के विरुद्ध देश के जनबल को सगठित करते समय गाधीजी ने इस बात की पूरी सावधानी बरती थी कि कही सामाजिक और आर्थिक विद्रोह की ज्वालाए न भडक उठे। इसीलिए करबदी मे सरकार को कर देने की मनाही के बावजूद किसानो को यह सलाह दी गई थी कि वे अपने जमीदारो को बराबर कर देते रहे। मजदूरो को सलाह दी गई थी कि वे अपने मालिको से छुट्टी लेकर ही हडतालो मे शरीक हो। इस सबध मे गाधीजी ने लिखा भी था कि "जब-तक मजदूरो को देश की राजनैतिक परिस्थिति का ज्ञान नही हो जाता, राजनीति के लिए उनका उपयोग करना बहुत ही खतरनाक होता है।" काग्रेस स्वयसेवक दल के सगठन पर भी उन्होने काफी चितन-मनन किया था और 'यग इडिया' मे आम सभाए करने और भीड को नियन्त्रित करने के तरीको पर कई लेख लिखे थे। सरकार की हिंसात्मक कार्रवाइयो मे उन्हे जरा भी डर नही लगता था, उससे तो आदोलनकारियो का जोश और सख्या-बल बढता ही था। असली डर उन्हे जनता की हिंसात्मक कार्रवाइयो मे था, क्योकि उससे आदोलन कमजोर होता, अराजकता फैलती और सरकार को खून-खच्चर करने का मौका मिल जाता था।

देश के किसी भी भाग मे जरा-सी भी हिंसा या उपद्रव होता तो गाधीजी का सारा ध्यान फौरन वहा केंद्रित हो जाता था। माले गाव मे भीड द्वारा पुलिस के सिपाहियो के मारे जाने और मलाबार के मोपला विद्रोह मे हिंदुओ के सताये जाने की उन्होने तुरत और कडी निदा की थी। प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर जब बबई मे नवबर १९२१ मे दगा हुआ तो गाधीजी वही थे। उसमे ५८ मारे गए और ३८१ घायल हुए थे। उस समय

जनता के नाम अपने सदेश मे गाधीजी ने कहा था कि असहयाग करने-वालो की अहिसा ने तो सहयोग करनेवालो की हिंसा को भी मात कर दिया, "जो हमसे सहमत न हुए, अहिसा के हम मौखिक पुजारियो ने उन्हे बुरी तरह आतकित कर डाला पिछले दो दिनो स्वराज्य का जो रूप देखने को मिला है उसकी मुझे सडाद आ रही है।"

सी० एफ० एडरूज दक्षिण अफ्रीका से हाल ही मे लौटकर आये थे और बबई के दगो के तुरत बाद गाधीजी से मिले थे। उनका कहना था कि गाधीजी "इतने दुबले और कमजोर लग रहे थे, मानो अभी-अभी मौत के मुह से लौटकर आये हो।" एडरूज साहब ने यह भी देखा कि जैसे-जैसे सरकार की ओर से हिसा बढती गई, आदोलनकारी जनता भी हिसात्मक कार्रवाइयो को अपनाती गई। भारत की जाग्रत जनता अपनी शक्ति को जान तो गई थी, लेकिन उसे काबू मे रखना अभी नही सीख पाई थी। एडरूज साहब विदेशी कपडो की होली जलाने के पक्ष मे भी नही थे, क्योकि उन्हे डर था कि "वह हिंसा के भाव जाग्रत करेगी" और उसमे उन्हे "कुछ जातीय भेद-भाव की गध" भी आती थी। १९१३-१४ का दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह वह देख चुके थे, अब जो १९२१ मे भारत मे चल रहे सत्याग्रह को देखा तो वह उन्हे "बिलकुल ही नये ढग का और आध्यात्मिकता से विरहित" प्रतीत हुआ।

मतलब यह कि चौरी चौरा की दुर्घटना कोई अकेली एक घटना नही थी। वह तो, जैसाकि गाधीजी ने प० जवाहरलाल नेहरू को लिखा था, घटनाओ की एक पूरी परपरा की 'अतिम कडी' थी। अनेक स्थानो मे आदो-लनकारियो के बेकाबू हो जाने और अनुशासन-भग के मामलो के बराबर बढते जाने की कई रिपोर्टें उन्हे मिल चुकी थी। उसी पत्र मे उन्होने जवाहरलालजी को यह भी लिखा था—"आप विश्वास मानिये कि अगर आदोलन को स्थगित न किया जाता तो हम अहिसात्मक सघर्ष के स्थान पर हिसात्मक सघर्ष ही कर रहे होते।"[1] जवाहरलाल जी को सविनय अवज्ञा के स्थगित किये जाने के समाचार जेल मे ही मिले थे। सुनकर वह विस्मित भी हुए और व्याकुल भी। लेकिन इस प्रस्ताव के लाभ और हानि पर काफी

[1] तेंदुलकर के ग्रथ 'महात्मा' की जिल्द-२, पृष्ठ ११८ पर उद्धृत

चर्चा कर लेने के बाद, 'मेरी कहानी' मे यह लिखते है कि "प्रस्ताव बिलकुल उचित था, जो गदगी फैल रही थी उसे रोककर नये सिरे से कुछ करना गाधीजी के लिए निहायत जरूरी हो गया था।"

गाधीजी यह भी जानते थे कि उनके बहुत-से सहयोगी और अधिकारी कार्यकर्त्ता गुस्से मे फुके जा रहे थे और सरकार पर वार करने को बेताब हो रहे थे—अहिंसात्मक ही सही, पर वार जरूर होना चाहिए। लेकिन गाधीजी के निकट तो सत्याग्रह का यह तरीका भी उचित नही था, क्योकि सत्याग्रह का उद्देश्य तो होता है, आत्मा को जगाना, दिल को पिघलाना और विरोधी की आखे खोलना, यानी उसे सत्य के दर्शन करवाना। अहिंसात्मक युद्ध की तो पूरी शैली ही भिन्न होती है, युद्ध के दूसरे प्रकारो मे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए साधनो की पवित्रता पर कोई ध्यान नही दिया जाता, परतु सत्याग्रह मे तो साध्य और साधन दोनो ही पवित्र होने चाहिए। युद्ध और राजनीति मे सामान्यत यह दृष्टिकोण रखा जाता है कि विरोधी को हटाने के लिए जहा जितने दबाव की आवश्यकता हो जरूर लगाना चाहिए। लेकिन सत्याग्रह मे इसकी पूरी तरह मनाही होती है, वहा तो 'उत्तेजना' के लिए भी कोई गुजाइश नही। गाधीजी ने सविनय अवज्ञा की परिभाषा करते हुए उसे मौन कष्ट-सहन की तैयारी कहा था, "जिसका प्रभाव-चमत्कारिक, पर अप्रत्यक्ष और कोमल होता है।"

सत्याग्रह-आदोलन को स्थगित करने के सबध मे रोम्या रोला ने अपनी पुस्तक 'महात्मा गाधी' मे लिखा है— 'यह बडा ही खतरनाक है कि पहले तो राष्ट्र के सपूर्ण जन बल को सगठित और एकताबद्ध करके एक आदोलन के लिए तैयार किया जाय, और आदेश पाकर जैसे ही आदोलन शुरू हो उसे तुरत स्थगित भी कर दिया गए। इससे राष्ट्र का उत्साह भग हो जाता है, गति शक्ति टूट जाती है, तेजी से भागती हुई मोटर को एकदम रोक दिया जाय तो ब्रेक भी टूट जायगे और इजिन को भी क्षति पहुचेगी।'[१] लेकिन बात ऐसी नही थी। अगर रोम्या रोला के ही रूपक का प्रयोग करके कहे तो कहना होगा कि गाधीजी आदोलन की मोटरगाडी को एकदम रोककर स्थिर नही किये दे रहे थे, वह असमय ही 'टाप गीअर' (गति की अतिम

---

[१] रोम्या रोला 'महात्मा गाधी', लदन, १९४०, पृष्ठ १३०

सीमा) मे दौडने लगी थी सो उन्होने उसे तीसरे गीअर (मद्धिम) मे कर दिया। उस समय 'उग्र कार्यक्रम' को स्थगित कर देने से 'रचनात्मक कार्य-क्रम' ही सत्याग्रह-आदोलन का निश्चयात्मक पक्ष था और वह चलता रहा। आलोचक भले ही सहमत न हो, लेकिन गाधीजी का तो विश्वास था कि सत्याग्रह-आदोलन को सामूहिक सविनय अवज्ञा के बिना भी प्रभावशाली बनाया जा सकता है।[१]

चौरी चौरा के बाद गाधीजी ने जो कुछ किया उसे न तो काग्रेसी ठीक से समझ सके, न खिलाफतवाले और न सरकार ही। लार्ड रीडिंग ने अपने लडके को पत्र मे लिखा था—"गिरफ्तारी के छ सप्ताह पहले गाधी ने जो कुछ किया उससे उनकी राजनैतिक प्रतिष्ठा पर पानी फिर गया।"[२]

और शायद इसीलिए सरकार की उन्हे गिरफ्तार करने की हिम्मत हुई। १० मार्च की शाम को गाधीजी गिरफ्तार कर लिये गए। उन्होने आश्रमवासियो से विदा ली, 'वैष्णव जन' वाला अपना प्रिय भजन सुना और मोटर मे बैठकर जेल पहुच गये। अहमदाबाद के जिला और सेशन जज सी० एन० ब्रूमफील्ड की अदालत मे उनका मुकदमा पेश हुआ। 'यग इडिया' के 'राजभक्ति मे दखल,' 'समस्या और उसका हल' तथा 'गर्जन-तर्जन' इन तीन लेखो के आधार पर गाधीजी और 'यग इडिया' के प्रका-शक शकरलाल बैकर पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया था। सर जी० टी० स्ट्रैंगमैन सरकारी पक्ष के वकील थे। दोनो सत्याग्रही अभि-युक्तो ने अपना बचाव नही किया और स्वीकार कर लिया कि लेख उन्होने लिखे और छापे थे और उनकी पूरी जिम्मेवारी उन्ही दोनो पर थी। जज

१ बारडोली मे कार्यसमिति की बैठक और उसके पश्चात् दिल्ली में महासमिति की बैठक में सामूहिक सत्याग्रह को वापस लिया गया था, लेकिन व्यक्तिगत रूप में किसी खास कानून के खिलाफ सत्याग्रह करने की अनुमति अवश्य दी गई थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह की परिभाषा यह थी कि एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के द्वारा किसी सरकारी आज्ञा या कानून का उल्लघन करना। शराब की दुकानों पर धरना और विदेशी कपडे की पिकेटिंग भी व्यक्तिगत सत्याग्रह में ही शुमार किये गए थे। —अनुवादक

२ रीडिंग, मार्क्वेस आफ 'रूफस इजाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग,' जिल्द २, पृष्ठ २४६।

अभियुक्तों के साथ बड़ी विनम्रता और सम्मान से पेश आया, कुर्सी पर बैठने से पहले उसने कटघरे में खड़े दोनों अभियुक्तों को सिर झुकाकर नमस्कार भी किया था। अपराध को स्वीकार कर गांधीजी ने जज के काम को बहुत हलका और आसान कर दिया था। गांधीजी ने उत्कृष्ट शैली में लिखे उच्च भावोंवाले अपने लिखित बयान में यह बताया कि वह कट्टर राजभक्त से विद्रोही कैसे हो गये

"मेरे सार्वजनिक जीवन का आरम्भ १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में विषम परिस्थिति में हुआ। उस देश के ब्रिटिश अधिकारियों से मेरा पहला सम्पर्क कुछ अच्छा न रहा। मुझे पता चला कि एक मनुष्य और एक भारतीय के नाते वहा मेरा कोई अधिकार नहीं है। इसके कारण का जब मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि मेरा कोई अधिकार इसलिए नहीं है, क्योंकि मैं भारतीय हू। लेकिन मैंने हिम्मत न हारी। मैंने सोचा कि भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करने का दोष एक अच्छी-भली शासन-व्यवस्था में यों ही घुस गया है। यह सोचकर मैंने अपनी मरजी से सरकार को पूरे दिल से सहयोग दिया, जहा खामिया दिखाई दी उनकी आलोचना भी की, लेकिन सरकार के विनाश की इच्छा कभी नहीं की ..."

हिंसात्मक उपद्रवों की पूरी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हुए उन्होंने कड़े-से-कड़े दंड की माग की थी

"जनाब जजसाहब, आपके सामने सिर्फ दो ही मार्ग है अथवा आपको विश्वास हो कि जिस कानून का प्रयोग करने में आप सहायता दे रहे है, वह वास्तव में इस देश की जनता के मगल के लिए है और मेरा आचरण लोगों के अहित के लिए हो तो मुझे कड़े-से-कड़ा दंड दे।"

गांधीजी को छ साल की कैद की सजा दी गई। एक दर्शक का कहना है कि मुकदमा कोई पौने दो घंटे चला और गांधीजी सारे समय निश्चिन्त और प्रसन्न रहे। सजा सुनाये जाने के बाद जज से उन्होंने कहा था, "यह कम से-कम सजा है, जो कोई जज मुझे दे सकता था, और जहांतक मुकदमे की कार्रवाई का सवाल है, जितनी विनम्रता और सम्मान आपने प्रदर्शित किया उससे अधिक की तो मैं आशा भी नहीं कर सकता।"

जेल-यात्राए तो असहयोग का एक अंग ही थी। अपने लेखों और

भापणो मे गाधीजी उसके महत्व पर वरावर जोर देते रहे थे। उन्होने कई वार लिखा भी था कि "जेल की चहारदीवारियो मे और फासी के तख्तो पर ही हमे आजादी का वर्णन करना होगा।" पिछले अठारह महीनो मे हजारो आदोलनकारी पकडे जाकर जेल भेजे गए थे। गाधीजी की राय मे आदर्श सत्याग्रही वह था, जो सरकार को परेशान करने के उद्देश्य से नही, परतु न्याय के लिए कष्ट सहकर सरकार का हृदय-परिवर्तन करने के उद्देश्य से जेल जाता है। गिरफ्तारी के समय "अशिष्टता, उच्छृखलता, झेप और हिसात्मक आचरण कदापि उचित नही, शाति, शिष्टता, विनम्रता, तत्परता और वहादुरी के साथ गिरफ्तार होना चाहिए।" सत्याग्रही से जेल के अनुशासन का पालन करने की अपेक्षा भी की जाती थी। वह न तो विशेप सुविधाओ की माग कर सकता था और न उन्हे स्वीकार ही। जेल-जीवन के सारे कष्टो को उसे हँसते-हँसते सह लेना होता था, क्योकि "अपनी शक्ति के भान और ज्ञान से उत्पन्न विनम्रता अत मे आततायी के अत्याचार को मिटाकर ही रहती है—अपनी इच्छा से कष्ट-सहन करना अन्याय और अत्याचार को मिटाने का श्रेष्ठ और त्वरित उपाय है।"

यरवदा-जेल मे गाधीजी को न तो चरखा दिया गया और न वाहर सोने की इजाजत। वाद मे अधिकारियो ने दोनो ही प्रतिवध उठा लिये थे। लेकिन पुस्तको के मामले मे 'उच्च अधिकारी' वडी मुश्किल से राजी हुए और शुरु-शुरु मे कुछ धार्मिक पुस्तको, एक पुराने शब्द-कोश और उर्दू के कायदे के अतिरिक्त उन्हे अपने पास और कोई किताब रखने की इजाजत नही दी गई। तकिया भी नही दिया गया, वह पुराने कपडो मे किताबो को लपेटकर उसीसे काम चलाते रहे। और गाधीजी-जैसे राजद्रोही को रोटी काटने के लिए चाकू-जैसी खतरनाक चीज सरकार दे ही कैसे सकती थी! वाद मे चाकू के उपयोग की इजाजत इस शर्त पर दी गई कि हर वार इस्तेमाल के वाद उसे जेल-अधिकारी के पास जमा करवा दिया जाय। शकरलाल वकर को उनके साथ नही, अलग दूसरी कोठरी मे रखा गया ओर कडी ताकीद कर दी गई कि कोई भी कैदी गाधीजी से मिलने न पाये। उनकी सेवा-टहल के लिए एक अफ्रीकी कैदी को नियुक्त किया गया, जो गाधीजी की भापा नही समझता था और न गाधीजी उसकी भाषा जानते

थ। बातचीत के अभाव मे दोनो को इशारो से काम चलाना पडता था। लेकिन गाधीजी तो सब भाषाओ मे श्रेष्ठ दिल की भाषा के जानकार थे। एक बार अफ्रीकी कैदी को बिच्छू ने काट खाया तो गाधीजी ने अपने मुह से जहर चूसकर उसे भला-चगा कर दिया। गाधीजी के इस दयालु व्यवहार का उसपर इतना असर हुआ कि वह उनका पट्ट शिष्य बन गया और उसने चरखा चलाना सीख लिया।

जेल का वह एकात और शाति गाधीजी को पसद आये। भारत आने के बाद लगातार सात वर्षो तक वह बराबर काम मे लगे रहे थे। जिस शाति और आराम की उन्हे जरूरत थी वह जेल मे अनायास ही मिल गये। साय-प्रात प्रार्थनाओ और चरखा चलाने के अपने नियम का वह बराबर पालन करते रहे। दूसरे-दूसरे कामो मे लग जाने से धार्मिक और साहित्यिक अध्ययन का जो क्रम खडित हो गया था, उसे भी उन्होने पुन शुरू किया। जेल मे उन्होने कम-से-कम डेढ सौ पुस्तके तो पढी ही होगी। उनमे हेनरी जेम्स की 'दि वेराइटीज आफ रिलीजियस एक्स्पिरिअस' बकल की 'हिस्ट्री आफ सिविलिजेशन', वेल्स की 'आउट लाइन आफ हिस्ट्री', बर्नार्ड शा की 'मेन एड सुपरमैन', गेते का 'फाउस्त' और किपलिंग का 'बैरक रूम बलाड्स' आदि भी थी।[1] इसमे तो कोई सदेह ही नही कि छोटी-मोटी परेशानियो के बावजूद यह जेल-यात्रा गाधीजी के लिए, महाकवि ठाकुर के शब्दो मे, 'बडी चिकित्सा' साबित हुई।

: २३ :

कौसिले और सांप्रदायिकता

असहयोग आदोलन के 'उग्र कार्यक्रम' को वापस लेने का परिणाम यह हुआ कि काग्रेस के साधारण सदस्यो मे गडबडी फैल गई और नेताओ मे मतभेद पैदा हो गया। सी० आर० दास, प० मोतीलाल नेहरू और

[1] विभिन्न धार्मिक अनुभव सभ्यता का इतिहास, इतिहास की रूप रेखा, मानव और महामानव, फाउस्त, बैरक का गाति-कथाए।

विट्ठलभाई पटेल आदि कई चोटी के नेता मन से तो कभी भी कौसिलो के वहिप्कार के पक्ष मे नही थे। वकील और अच्छे वक्ता होने के कारण वे ऊपर के मन मे कौमिलो के वहिप्कार के लिए राजी हो गये थे। लेकिन जव सामूहिक सविनय अवज्ञा को वापस ले लिया गया तो उनकी राय मे सरकार का विरोध करने का सिर्फ एक ही रास्ता वचा रह गया और वह था कौसिलो मे जाना—१९१९ के सुधार कानूनवाले नये विधान को कार्यान्वित करने के लिए नही, वल्कि दुनिया को यह दिखलाने के लिए कि वह कितना सकुचित और अनुत्तरदायित्वपूर्ण था।

भारत सरकार नये विधान के द्वारा निर्मित केद्रीय विधान-मडल के प्रति नाम-मात्र को भी जवावदेह न थी। इसके उच्च सदन का नाम रखा गया था राज्य कौसिल (कौसिल आफ स्टेट), जिसमे अधिकाश अधिकारी वर्ग के और नामजद सदस्य थे। निम्न सदन, केद्रीय विधि परिपद् (सेट्रल लेजिस्लेटिव असेवली) के एक-तिहाई सदस्य या तो अग्रेज अफसर या उनके द्वारा नामजद भारतीय थे। केद्रीय विधि-परिपद् को सारे वजट के मुश्किल से सातवे हिस्से पर विचार करने और स्वीकृति देने का अधिकार दिया गया था। विधि-परिपद् द्वारा अस्वीकृत तजवीजो को वाइसराय अपने विशेपाधिकार से कानून का रूप देकर जारी कर सकता था।

प्रातीय शासन की हालत तो और भी विचित्र थी। वहा एक तरह की द्वैध शासन की प्रणाली लागू की गई थी। कुछ विभाग तो मत्रियो को सौपे गये थे, जो अपने प्रातो की विधि-परिपदो के प्रति जिम्मेवार थे, लेकिन वित्त, न्याय आदि कई विभाग अधिकारियो के जिम्मे कर दिये गए थे, और वे अधिकारी प्रातीय विधि-परिपदो के प्रति नही, सीधे गवर्नर के प्रति जिम्मेवार थे, और गवर्नरो को 'वीटो' का अधिकार दे दिया गया था। कौसिल-प्रवेश के समर्थक काग्रेस नेताओ ने कौसिलो की सीमित उपयोगिता को अस्वीकार किया हो सो वात नही। उनका कहना था कि ये कासिले ब्रिटिश नौकरशाही ने दुनिया को धोखा देने के लिए वनाई है और इसलिए काग्रेसियो को इनका भडाफोड करना ही चाहिए। यह सच था कि कौसिलो के द्वारा वास्तविक सत्ता जनता के हाथ मे नही आई थी, लेकिन राजनैतिक युद्ध के एक मच के रूप मे तो उनका उपयोग किया ही जा

सकता था। यदि कांग्रेस जन-कौंसिलों में सरकारी प्रस्तावों और मांगों को अस्वीकार करने लायक शक्ति बन सके तो या तो सरकार को विशेषाधिकारों का प्रयोग करना होगा या कौंसिलों के निर्णय के आगे झुकना होगा। दोनों ही सूरतों में दुनिया को मालूम हो जायगा कि नये विधान में अंतिम सत्ता जनता के हाथों में नहीं विदेशी शासन-सत्ता के ही हाथों में रख दी गई है।[1] असल में आयरलैंड के होमरूल आंदोलन के सिलसिले में पारनेल और उसके दल के लोगों ने ब्रिटिश पार्लामेंट के हाउस आफ कामन्स की कार्रवाइयों में बाधा पहुंचाने की नीति को जिस सफलता से कार्यान्वित किया था उससे कौंसिल-प्रवेश के समर्थक कुछ कांग्रेसी नेता बहुत ही प्रभावित जान पड़ते थे।[2] उनका कहना था कि 'निरंतर और स्थायी अड़ंगेबाजियों' से कौंसिलें सरकार के हाथों का हथियार न रहकर उसकी बगल का कांटा बन जायगी।

मार्च १९२२ में गांधीजी की गिरफ्तारी के तत्काल बाद ही उनके अनुयायियों में गहरे मतभेद के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

सी० आर० दास तो अलीपुर-जेल में ही कौंसिल-प्रवेश की योजनाएं बनाने में तल्लीन थे, जैसे ही रिहा हुए वह जी-जान से इस काम में जुट गये। दिसंबर १९२२ में कांग्रेस के गया-अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि या तो कौंसिलों का इस तरह सुधार करना चाहिए कि उनके द्वारा भारत को स्वतंत्र किया जा सके, अथवा उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। कौंसिल-प्रवेश को वह असहयोग-आंदोलन की भावना के विपरीत नहीं मानते थे। उनका कहना था कि हम कौंसिलों में जाकर, अंदर से बहिष्कार और असहयोग करेंगे। लेकिन गांधीजी के निष्ठावान सहयोगियों को उनके ये तर्क स्वीकार न हुए। उनका कहना था कि कौंसिल-प्रवेश रणनीति का परिवर्तित रूप नहीं अहिंसात्मक असहयोग की मूल भावना और सिद्धांतों पर प्रहार ही है। गांधीजी के दृढ़ समर्थकों में से किसीने ठीक ही कहा था "हमारा तो शुद्ध, पवित्र और निष्कलंक आंदोलन है, इसमें कूटनीति के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं। और कौंसिलों को असफल करने की दृष्टि से उनमें जाना कूटनीति ही नहीं छल और

[1] पटेल, जी० आइ० 'विट्ठलभाई पटेल' खंड—२ पृष्ठ ५४०

कपट भी है, जिसका कोई सत्याग्रही कभी भी समर्थन नही कर सकता।"[1]

विट्ठलभाई पटेल की राय मे कौसिल-प्रवेश शत्रु के गढ को जीतने के उद्देश्य से उसके अदर घुसना था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपने बडे भाई को बडा ही माकूल जवाब दिया था। उन्होने कहा, "कौसिले ही दुश्मन का किला नही है, किला तो उसके बाहर भी है और जबतक बाहर का वह किला बरकरार है सरकार सैकडो बरसो तक बिना कौसिलो के भी शासन करती रहेगी।"

इस तरह काग्रेस के नेता दो दलो मे बट गये। जो असहयोग के कार्यक्रम मे परिवर्तन चाहते थे वे 'परिवर्ननवादी' कहलाये और सरदार वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्रबाबू और राजाजी आदि, जो परिवर्तन नही चाहते थे 'अपरिवर्तनवादी'। ये लोग जेल मे बद गाधीजी के प्रति अपनी निष्ठा को बराबर बनाये रहे। काग्रेस के गया-अधिवेशन मे प० मोतीलाल नेहरू, श्रीनिवास आयगार और विट्ठलभाई पटेल के दृढ समर्थन के बावजूद सी० आर० दास को कौसिल-प्रवेश के अपने प्रस्ताव पर बहुमत प्राप्त न हो सका। कौसिलो के बहिष्कार की नीति यथावत ही बनी रही। इसके फलस्वरूप सी० आर० दास ने गया-काग्रेस के तत्काल बाद काग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया और स्वराज्य पार्टी के नाम से एक नया दल बनाया। वह स्वय उसके अध्यक्ष बने और प० मोतीलाल नेहरू को मत्री नियुक्त किया गया। काग्रेस जनो मे जो मतभेद अदर-ही-अदर घुमड रहा था वह अब पूरी तरह से ऊपर आ गया।

इसके बाद स्वराजिओ और अपरिवर्तनवादियो मे समझौते के प्रयत्न होने लगे। नये सवैधानिक सुधारो के अतर्गत नवबर १९२३ मे कौसिलो के चुनाव होने जा रहे थे। चुनावो के बारे मे काग्रेस का क्या रुख हो, इस पर अतिम रूप से निर्णय करने के लिए सितबर १९२३ मे दिल्ली मे काग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया गया। इस बीच खिलाफत के नेता मौलाना मुहम्मद अली जेल से छूट आये थे, उन्होने अपना पूरा जोर स्वराजियो के पक्ष मे लगा दिया। जब उन्होने जेल मे गाधीजी से इस आशय का सदेश (मौलाना साहब को यह कथित सदेश शायद मानसिक अथवा आध्यात्मिक

---

[1] वही, पृष्ठ ५३७

सचार-प्रणाली मे मिला था !) पाने की वात कही कि देश की वदली हुई हालतो मे मौजूँ हो सके इस तरह का रद्दोवदल असहयोग के प्रोग्राम मे करने के लिए काग्रेस आज़ाद है, तो अधिवेशन मे सनसनी फैल गई। यहा अपरिवर्तनवादी तटस्थ रहे जिसका फल यह हुआ कि स्वराजियो की जीत हुई और वे कौंसिल-प्रवेश एव चुनाव मे हिस्सा लेने की वात काग्रेस मे मजूर करवा सके। तैयारियो के लिए मुश्किल से दो महीने का समय मिला था, फिर भी स्वराज्य पार्टी को केन्द्रीय विधि-परिषद मे काफी अच्छी सीटें मिल गईं और मध्य प्रात की कौंसिल मे तो उनका बहुमत ही हो गया, दूसरे प्रातो की कौंसिलो मे भी वे काफी अच्छी तादाद मे चुन लिये गए। प० मोतीलाल नेहरू ने केंद्रीय कौंसिल का और सी० आर० दास ने वगाल की प्रातीय कौंसिल का नेतृत्व-पद सभाला।

इसी बीच ११ जनवरी, १९२४ को गाधीजी का पूना के सेसून अस्पताल मे एपेंडिसाइटिस का आपरेशन हुआ और वह डाक्टरी सलाह पर जेल से रिहा कर दिये गए। गाधीजी को अपना इस तरह रिहा किया जाना तनिक भी पसद न आया। उन्होने कहा भी कि कैदी की वीमारी उसकी रिहाई का कोई ठोस कारण नही हो सकती। वधाई के सैकडो तार पाकर वह घवरा उठे, क्योकि उनसे वडी-वडी उम्मीदे की जा रही थी ! स्वय उन्होने तो यह आशा वाध रखी थी कि 'स्वराज्य की पार्लामेंट' उन्हे रिहा करेगी, जो निराशा मे ही परिणत हुई थी।

लार्ड रीडिंग का यह खयाल कि काग्रेसजनो मे असतोष और आपसी फूट के कारण गाधीजी की शक्ति वहुत-कुछ वैठ जायगी, सर्वथा गलत तो नही ही था। स्वराज्य पार्टी ने चुनाव लडे, जीते और कई कौंसिलो मे उसने खासा तगडा स्थान वना लिया था। अव वह गाधीजी के आशीर्वाद चाहती थी, इसलिए सी० आर० दास और प० मोतीलाल नेहरू उनसे मिलने के लिए जुहू गये, जहा वह आपरेशन के वाद स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। दोनो नेताओ ने मिलकर अपने दृष्टिकोण के समर्थन मे ढेरो तर्क दिये, लेकिन गाधीजी किसी भी तरह सहमत न हो सके। "अदर से विरोध करने" का स्वराजियो का तर्क तो उन्हे सिरे से ही गलत लगता था। उनका कहना था कि या तो सरकार से सहयोग किया जा सकता है या असहयोग,

अदर जाकर असहयोग और विरोध करने का तो कोई अर्थ ही नही होता, खुद भ्रम मे रहने और दूसरो को भ्रम मे रखने से कोई लाभ नही। उन्होने यह चेतावनी भी दी कि कौसिले केवल चटपटा मसाला दे सकती है, रोटी नही। यद्यपि कौसिल-प्रवेश के किसी तर्क से वह सहमत नही हो सके थे, फिर भी स्वराजियो के मार्ग मे बाधक बनना उन्होने उचित नही समझा और 'अपरिवर्तनवादियो' को इस मामले मे तटस्थ रहने की सलाह दी।

प० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास को गाधीजी का समर्थन तो नही मिला, लेकिन आनेवाले महीनो ने यह अवश्य सिद्ध कर दिया कि देश के राजनैतिक मच पर अब कुछ समय के लिए स्वराज्य पार्टी का ही अधिकार रहेगा। गाधीजी की अनुपस्थिति मे देश का राजनैतिक वातावरण काफी हद तक बदल गया था, जिसे वह स्वय भी अनुभव करने लगे थे। सत्याग्रही "सरकार से उतना असहयोग नही कर रहे थे जितना आपस मे एक-दूसरे से।" हिंदू-मुस्लिम एकता भी छिन्न-विच्छिन्न हो गई थी। रचनात्मक कार्यक्रम मे बुद्धिजीवियो की कोई रुचि ही नही थी। अब गाधीजी को काग्रेस को आपसी फूट से बचाने की चिता हुई, क्योकि १९०७ की सूरत की फूट के विनाशकारी परिणामो को वह देख चुके। उन्होने स्वराजियो की थोडी-सी दिलजोई की तो उनके अनुयायियो को उसमे शरणागति की गध आने लग गई। लेकिन गाधीजी एकता के अपने प्रयत्नो मे लगे रहे। वह बगाल भी गये, जहा की प्रातीय सरकार दमन पर उतर आई थी और स्वराज्य पार्टी के कई सदस्यो को हिसा का अभियोग लगाकर जेल मे ठूस दिया था। वहा की हालत को देखने के बाद उन्होने प० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास के साथ मिलकर एक सयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमे कहा गया था कि विदेशी कपडो की पिकेटिग को छोडकर असहयोग के शेष सभी कार्यक्रमो को स्थगित कर देना चाहिए और स्वराज्य पार्टी को काग्रेस का अभिन्न अग मानकर अपने लिए अलग से चदा जमा करने और उसको खर्च करने का अधिकार दे देना चाहिए। गाधीजी की यह नई नीति स्वराज्य पार्टी की निश्चित जीत थी, इसमे तो किसीको सदेह हो ही नही सकता।

दिसबर १९२४ मे बेलगाम के अधिवेशन मे काग्रेस ने गाधी-नेहरू-दास

समझौते पर स्वीकृति की मुहर लगा दी। अधिवेशन में पहले उसके मनोनीत अध्यक्ष की हैसियत से गांधीजी ने फूट को रोकने की दृष्टि से दोनों गुटों के नेताओं से बातचीत की। अपनी कार्यसमिति में राजाजी और सरदार पटेल जैसे कट्टर 'अपरिवर्तनवादियों' को सम्मिलित न करके उन्होंने एक बार फिर स्वराज्यों की दिलजोई की। अब उनकी नीति स्वराजियों को केवल बर्दाश्त करने की ही नहीं, उनकी ताकत बढ़ाने की भी थी। इसपर कई लोगों की, जिनमें स्वयं उनके कट्टर अनुयायी और 'अपरिवर्तनवादी' भी थे, यह प्रतिक्रिया हुई कि गांधीजी स्वराजियों के आगे बहुत अधिक झुक गये हैं। वाइसराय ने भी इंग्लैंड अपने पुत्र को लिखा था, "गांधी अब दास और नेहरू का पुछल्ला बन गये हैं, हालांकि वे लोग गांधी और उनके साथियों को यह अहसास कराने की हरचंद कोशिश करते रहते हैं कि वे उनके सरगना नहीं तो सरगनाओं में से एक तो जरूर ही हैं।"[१]

कौंसिल-प्रवेश के सवाल पर कांग्रेसजनों की आपसी फूट से गांधीजी को जितनी निराशा हुई थी उससे कहीं अधिक सांप्रदायिक फूट के कारण हुई।

असहयोग-आंदोलन के उभार के दिनों की हिंदू-मुस्लिम एकता की तो अब केवल याद-भर रह गई थी। पारस्परिक विश्वास का स्थान गहरे अविश्वासों ने ले लिया था। सांप्रदायिक दंगे तो हो ही रहे थे, अखबारों और राजनीति में एक नई तरह की कटुता भी घर करती जाती थी। लाला लाजपतराय, पं० मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे कई हिंदू नेता यह अनुभव करने लगे थे कि खिलाफत और असहयोग-आंदोलनों के जुड़ जाने से मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के नाम पर हानिप्रद सांप्रदायिकता ही पनपी, जो ब्रिटिश सरकार का सहारा पाकर और भी भयानक रूप धारण करती जा रही थी। उनकी दृष्टि में इस मुस्लिम सांप्रदायिकता से आत्मरक्षा के उपाय करना हिंदुओं के लिए नितांत आवश्यक हो गया था। उधर खिलाफत आंदोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लेनेवाले बहुत-से मुस्लिम नेता यह तो सोचने लगे थे कि कांग्रेस से हाथ मिलाने में इतनी जल्दबाजी करना ठीक न

१ रीडिंग, मार्क्वेस आफ 'रूफस इजाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग,' जिल्द-२, पृष्ठ ३०८

हुआ, क्योंकि काग्रेस जिन नये राजनैतिक सुधारो के लिए लड रही थी, उनमे मुसलमानो की स्थिति उन्हे कुछ बहुत सुरक्षित नजर नही आती थी।

पारस्परिक सदेह और भय इतने हावी हो गये थे कि एक की हर बात और हर चाल मे दूसरे को फरेब और बेईमानी की गध आने लगती थी। १९२१ मे मलाबार के मोपलो ने धर्मोन्माद मे अपने हिंदू पडोसियो के साथ जो-कुछ किया उसकी याद हिंदुओ के दिलो मे काटे-सी खटकती रहती थी। हिंदुओ की शुद्धि और सगठन की कार्रवाइयो का जवाब मुसलमानो ने फौरन तबलिग और तजिम से दिया। मुस्लिम बुद्धिजीवियो को गैर-मुस्लिमो के इस्लाम मे दीक्षित किये जाने पर कोई एतराज नही था, लेकिन गैर-हिंदुओ की शुद्धि करके उनका हिंदू धर्म मे दाखिल किया जाना उनकी बर्दाश्त के बाहर हो जाता और वे इस तरह के धर्मपरिवर्तन की जोरो से मुखालफत करने लग जाते थे। सब पिछली अच्छी बाते भुला दी गई थी। हिंदुओ की भावनाओ का खयाल करके मुसलमानो ने १९२०-२२ मे खुद गाय की कुर्बानी बद कर दी थी, अब वही मुसलमान इस पाक मजहबी फर्ज को हर सूरत पर बजा लाने के लिए आमादा थे। उधर हिंदू भी इस ज़िद पर अडने लगे थे कि नमाज के वक्त मस्जिद के आगे से बाजा बजाते हुए निकलेगे और जरूर निकलेगे। फिर नौकरियो और व्यापार आदि मे सरकारी सरक्षण के सवाल पर तो एक अनत झगडे और शिकवे-शिकायते थी।

इस सबके लिए गाधीजी को जिम्मेवार ठहराकर उनपर खिलाफत के साथ असहयोग-आदोलन को नत्थी कर समय से पहले जन-जागरण के खिलवाड का दोषारोपण करनेवालो की भी कोई कमी नही थी। गाधीजी ने इसका यह कहकर जवाब दिया था कि "जन-जागरण तो राजनैतिक शिक्षा का एक आवश्यक अग होता है और जागी हुई जनता को फिर से सुलाने का पाप मै कभी नही करूगा।" लेकिन साथ ही वह यह भी चाहते थे कि जनता की जागृति का उपयोग रचनात्मक कार्यो मे हो।" दोनो सप्रदायो की मानसिक जडता को दूर करके बौद्धिक विकास और विचारो को उदार बनानेवाली शिक्षा की आवश्यकता भी वह महसूस करते थे। 'नवजीवन' और 'यग इडिया' मे वह इस बीमारी का अपने ढग से निदान किया करते थे,

और एक बार तो 'यग इडिया' के पूरे अक मे उन्होने साप्रदायिकता के कारण और निवारण के उपायो पर ही लिखा था। उनका कहना था कि यदि मुल्क सत्याग्रह के तरीको को ठीक से समझकर उसपर पूरा-पूरा अमल करता तो हिंदू-मुस्लिम तनाव ही पैदा न होता। उनके मतानुसार अहिंसा देश की आजादी की चाबी ही नही साप्रदायिक शांति की कुजी भी थी। सभ्य समाज मे अहिंसात्मक तरीको से यदि वैयक्तिक झगडे निपटाये जा सकते है तो उसी समाज मे सप्रदायगत झगडो और मतभेदो को अहिंसात्मक ढग से क्यो नही निपटाया जा सकता ? पारस्परिक सहिष्णुता और आपसी समझौते से, पच-फैसलो से और अत मे अदालतो के द्वारा आपसी झगडो को निपटाया जा सकता है। सामनेवाले का माथा फोडकर तो कोई उसके दिल मे अपनी बात बिठा नही सकता। मस्जिद के आगे बाजा बजाने और गाय की कुरबानी के सवाल को लेकर हिंदू-मुसलमानो के आपसी झगडो को गाधीजी सच्चे धर्म की खिल्ली उडाना ही कहते थे। मुसलमानो के नमाज पढने वक्त मस्जिद के आगे जोर-जोर से बाजा बजाते हुए हिंदू धर्मावल-बियो का जुलूस निकालना न हिंदू धर्म के अनुकूल था और न हिंदू पडो-सियो की भावनाओ को चोट पहुचाने के लिए इस्लाम मतावलबियो का गाय की कुरबानी करना इस्लाम के अनुकूल और जिस धर्म-परिवर्तन से आत्मा की उन्नति न हो, जो महज एक चौखटे से दूसरे चौखटे मे चले जाने की तरह हो और जिसके मुह पर कुछ और मन मे कुछ और रहता हो वैसे धर्म-परिवर्तन से लाभ ही क्या ? सरकारी नौकरियो की होडा-होडी और गिले-शिकवे के बारे मे गाधीजी का कहना था कि उम्मीदवार तो बहुत-से और नौकरिया केवल गिनी-चुनी है, पिछडे हुए सप्रदाय ऊची नौकरियो की काबलियत के लिए पढाई-लिखाई की खास सुविधाए मागे तब तो समझ मे आता है। मगर योग्यता के बदले धर्म को नौकरी पाने की कसौटी बनाना किसी भी तरह उचित नही कहा जा सकता। इस तरह तो हुकूमत का सारा ढाचा ही कमजोर और बेकार हो जायगा।

गाधीजी को आशा थी कि साप्रदायिक विद्वेष के मूल कारणो का पता लगाकर उन्हे जनता के सामने रख देने और दोनो सप्रदायो के सद्विवेक को जाग्रत करने से सारा धर्मोन्माद समाप्त हो जायगा। लेकिन साप्रदायिकता

का विप उनके सारे प्रयत्नो के बावजूद निरतर फैलता ही गया। साभर, अमेठी और गुलवर्गा मे हिंदू-मुस्लिम दगे हुए। सितबर, १६२४ मे कोहाट मे जो दगा हुआ वह सबसे भीषण था, १५५ हिंदू जान से मारे गए और वहा की सारी हिंदू आवादी को शहर से वाहर खदेड दिया गया। इस नर-मेध ने गाधीजी को गहरा आघात पहुचाया। उन्हे इस विचार से अपने-आप पर ग्लानि होने लगी कि असहयोग-आदोलन के द्वारा उन्होने जनता मे जो जागृति पैदा की थी वह विध्वसात्मक कार्यो मे लग गई।

"क्या मैंने ही जनता की अपार शक्ति को नही जगाया था ? यदि वह शक्ति अपने ही विनाश मे लग जाय तो उसे रोकने का उपाय भी मुझीको करना होगा क्या मैने गलती की, उतावलेपन से काम लिया, बुराई से समझौता किया ? हो सकता है कि यह सब किया या शायद ऐसा कुछ भी नही किया जो आखो के सामने दिखाई दे रहा है, मै तो सिर्फ उसीको जानता हू। अगर जनता ने सच्ची अहिसा और सत्य का आचरण किया होता तो आज की यह खून-खरावी और दगे-फसाद गैर-मुमकिन थे।"

अपने इस दारुण दुख से शाति पाने के लिए गाधीजी ने इक्कीस दिन का उपवास किया। उपवास की प्रतिक्रिया भी तुरन्त हुई। एक सप्ताह के अन्दर दिल्ली मे एक विशाल 'एकता सम्मेलन' हुआ। देश के कोने-कोने से भाग लेनेवाले उसके तीनसौ प्रतिनिधियो मे भारत के लाट पादरी डॉ० वेस्ट कॉट, श्रीमती एनी बेसेंट, अलीबन्धु, स्वामी श्रद्धानन्द और प० मदनमोहन मालवीय जैसे महापुरुप भी थे। इस सम्मेलन मे धर्म और मत की स्वतन्त्रता को तो स्वीकार किया गया, परन्तु धार्मिक मामलो मे हिसा तथा जोर जवर्दस्ती की घोर निदा की गई और उन्हे अनावश्यक बताया गया। सम्मेलन मे और भी कई प्रस्ताव पास किये गए, जिनका आशय दोनो कौमो मे सद्भावना पैदा करना और पारस्परिक सन्देहो को मिटाना था। उपवास आरम्भ करने के ठीक इक्कीस दिन बाद, ८ अक्तूबर १६२४ को, गाधीजी ने सभी सम्प्रदायो के नेताओ की उपस्थिति मे अपने इस ऐतिहासिक उपवास को तोडा। कुरान की आयतो, उपनिपद के मन्त्रो और ईसा मसीह के भजनो की समवेत ध्वनि के बीच सी० एफ० एडरूज ने इस सम्पेलन की सफलता पर टिप्पणी करते हुए कहा था, "दिल एक-दूसरे

के नजदीक आ गये थे।"

लेकिन नजदीक खिचकर आये हुए दिल ज्यादा समय तक पास-पास न रह सके। उपवास के कुछ ही महीनो बाद गाधीजी को बडे दुख के साथ यह स्वीकार करना पडा कि दिलो को जोडने की बात कहनेवालो का असली मन्शा दिलो को तोडना ही था, और दोनो सम्प्रदायो के नेतागण वास्तव मे गोश्त-रोटी के लिए नही लड रहे थे, उनकी हालत "कहानी के उस कुत्ते की तरह थी, जो हड्डी के लिए नही, बल्कि छाया के लिए लडता था।" उनकी निराशा का पता १९२७ के जनवरी महीने मे बगाल के कोमिल्ला नामक स्थान पर दिए गये उनके भाषण के इन शब्दो मे चलता है—"हिन्दू-मुस्लिम सवाल आदमी के हाथ मे निकलकर भगवान के हाथ मे पहुच गया है।"

वैसे तो १९२५ के बाद भी गाधीजी 'यग इडिया' मे साप्रदायिक एकता के बारे मे लिखते रहे थे, लेकिन इसके निकट भविष्य मे हल होने की कोई आशा उन्हे नही रह गई थी। शहर का बुद्धिजीवी वर्ग साफ तौर पर दो विरोधी और लडाकू साप्रदायिक गुटो मे बट गया था और वह गाधीजी की एक भी बात इस मामले मे मानने को राजी न था। स्वय उन्हीके शब्दो मे—"मेरा तरीका उनका तरीका नही है, मैं नीचे से शुरू करके ऊपर की ओर जाने की कोशिश कर रहा हू।"

२४

नीचे से शुरुआत

अगले तीन वर्षो तक गाधीजी ने अपने-आपको राजनैतिक विवादो मे बिलकुल अलग रखा और अपना पूरा समय 'नीचे की ओर से' राष्ट्र का निर्माण करने के महत्वपूर्ण काम मे लगाया।

उन्होने रेल, मोटर, बैलगाडी जो भी सवारी मिली उससे सारे देश का एक छोर से दूसरे छोर तक दौरा किया। वह नदी-नाले, कीचड-काटो, झाड-झखाड को पार करके देश के हृदय गावो तक पहुचे। सब कही लोगो

ने अपार उत्साह और परम श्रद्धा भावना से अपने इस महात्मा का स्वागत किया। भारत के भोले ग्रामीणो को न आधुनिक सभ्यता की जानकारी थी न अपने देश की वर्तमान राजनीति का कोई ज्ञान ही। वे तो बस महात्माजी की वाणी सुनने के लिए आतुर थे, जो उनके मन मे भगवान का साक्षात् अवतार थे। गाधीजी को अपना ऐसा महात्मापन जरा भी पसद नही था। वह अपने प्रति लोगो की भक्ति को रचनात्मक दिशा मे मोडने का सतत प्रयत्न करते रहते थे। वह जहा भी जाते लोगो को बाल-विवाह और छूत-छात की युगो पुरानी सामाजिक कुरीतियो को छोडने और चरखा चलाने की सलाह देते थे।

उन दिनो गाधीजी के बारे मे प्राय हर अग्रेज यही कहता सुना जाता था कि गाधी थक गया है, खत्म हो गया है, और भारतीय नेता ऐसा मानने लगे थे कि साबरमती के सत ने राजनीति से सन्यास ले लिया है। उस समय की राजनीति मे—प्रातीय और केंद्रीय कौसिलो की कार्रवाइयो और समाचार-पत्रो के साप्रदायिक विवादो मे अवश्य गाधीजी की कोई दिलचस्पी नही थी। राजनैतिक स्वतत्रता को वह देश के आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान की अनुवर्ती मानते थे और उनका कहना था कि स्वय जनता के अपने प्रयत्नो से ही यह पुनरुत्थान होगा। इस सबध मे उन्होने लिखा था—"राजनैतिक आजादी का मतलब ही है जन-चेतना मे वृद्धि, और जनता की चेतना मे वृद्धि तभी सभव है जब राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रो मे काम हो।"

उन दिनो के उनके भाषणो और लेखो के मुख्य विषय भी केवल दो ही थे—चरखा और अस्पृश्यता। यो तो चरखा और खादी का असहयोग के कार्यक्रम मे भी स्थान था, लेकिन राजनैतिक शिथिलता के उन तीन वर्षो मे तो गाधीजी ने दोनो को नित्य की नियमित पूजा के ही स्थान पर बिठा दिया था। हाथकते सूत को वह देश के 'प्रारब्ध की डोर' कहने लगे थे। काग्रेस-सगठन के लिए उन्होने 'खादी मताधिकार' का सुझाव दिया और 'सूत का मुद्रा की तरह उपयोग' करने की बात भी सोचने लगे थे।[1]

---

[1] १९२४ में गाधीजी की सलाह पर यह तय किया गया था कि काग्रेस सदस्यों द्वारा साल में दिये जानेवाले चार आना शुल्क के स्थान पर दो हजार गज हाथ का कता

पश्चिमी शिक्षा पाये हुए भारतीयों और बहुत-से कट्टर काग्रेसियों का भी उस समय यही खयाल था कि गाधीजी ने चरखे और खादी को जरूरत से ज्यादा महत्व दे डाला है। और जब सविनय अवज्ञा का सकट टल गया तो सरकार ने भी खादी को गाधीजी की महज एक सनक ही समझा। १६३० मे खादी फिर सक्रिय राजनीति का अग बन गई तो सरकार चौकी जरूर, लेकिन तब भी वह उसे राजनैतिक सघर्ष का आर्थिक हथियार ही समझती रही।

चरखे मे गाधीजी के इतने अधिक लगाव को न तो अग्रेज ठीक से समझ पाते थे और न शहरो मे रहनेवाले आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय ही। गाधीजी के चरखा-प्रेम को समझने के लिए भारतीय ग्रामीणो की भयकर गरीबी का सही ज्ञान होना नितात आवश्यक था। अग्रेजो की इस ओर न रुचि थी न इच्छा, और पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त भारतीय नागरिको का गावो के सबध मे घोर अज्ञान स्थिति को ठीक से समझने मे बाधक था। अपने धार्मिक दृष्टिकोण से गाधीजी ने ग्रामीण जनता और उसकी गरीबी का जो चित्रण किया वह उन्हीके शब्दो मे इस प्रकार है—"भूख से बिल-बिलानेवाले इन स्त्री-पुरुषो के लिए स्वतत्रता और ईश्वर मे न कोई भेद है और न इन शब्दो का उनके निकट कोई अर्थ ही, जो इन्हे रोटी का एक टुकडा देगा वही इन दुखियारो का ईश्वर और त्राता होगा।" बेजमीन मज-दूर ही गरीबी से त्रस्त नही थे, लाखो किसानो को साल मे छ महीने बेकार रहना पडता था। गाधीजी का कहना था कि गृहोद्योगो से उनकी बिलकुल ही नगण्य आय मे काफी वृद्धि की जा सकती है, और चरखा चलाकर सूत कातने से बढिया और सीधा-सादा गृहोद्योग भारतीय गावो के लिए दूसरा कोई हो ही नही सकता, लोग अपने घरो मे कातने और बुनने का काम उतनी ही आसानी से कर सकते है जितनी आसानी से वे

सूत प्रतिमास दिया जाय। आगे चलकर महासमिति के सदस्यों के लिए खादी पहनना अनिवार्य कर दिया गया। जो नियमित खादी नहीं पहनता था वह कांग्रेस सगठन के किसी भी निर्वाचन मे भाग नहीं ले सकता था। कुछ समय बाद सूत की मुद्रा का चलन भी 'सूत की गुंडी के रूप में शुरू हो गया, इन सूती गुंडियों के बदले खादी-भंडार से तैयार खादी दी जाने लगा। —अनुवादक

खाना पकाते है। माना कि चरखे से बहुत थोडी आमदनी होगी, लेकिन जैसा कि गाधीजी ने अगस्त, १९२८ मे कलकत्ता के राटेरी क्लब मे भाषण करते हुए बताया कि जिस मुल्क की आबादी का दसवा भाग सिर्फ एक जून भोजन पाता हो और जिनकी औसत माहवारी आमदनी तीन रुपये से कुछ ही ज्यादा हो उनके लिए चरखे से पाच-छ रुपया कमा लेना कितनी बडी बात होगी!

गाधीजी को चरखे पर इतना अधिक जोर देते देख महाकवि रवीद्र-नाथ ठाकुर को यह आशका होने लगी थी कि तब तो देश मे विविधता रह ही नही जायगी, "सर्वत्र मृत्यु-जैसी तद्रूपता ही दिखाई देने लगेगी।" गाधीजी ने यह कहकर कवि की आशका को निर्मूल कर दिया—"मै यह नही चाहता कि कवि अपना सगीत छोड दे, किसान अपना हल, वकील अपने मुकदमे और डाक्टर अपना शल्य-शालाक्य। मै तो उनमे सिर्फ तीस मिनट रोज कातने का त्याग चाहता हू। मैने भूखो मर रहे बेकार स्त्री-पुरुषो को गुजारे के लिए और अधपेट रहनेवाले किसानो को अपनी आमदनी बढाने के लिए चरखा कातने की सलाह जरूर दी है।"

इस तरह गाव के किसान, मजदूर और निराधार विधवा के लिए चरखे का जहा आर्थिक महत्व था, शहर मे रहनेवालो के लिए उसका नैतिक, या गाधीजी के शब्दो मे तो आध्यात्मिक महत्व था। भारत के नगर गावो की गरीबी पर फलते-फूलते रहे थे, अब अवसर आ गया था कि वे गाव का कता-बुना कपडा खरीदकर अपने पुराने पापो का प्रायश्चित्त करे और इस तरह शहर और गाव के बीच आर्थिक एव भावनात्मक सबध स्थापित किये जाय।

गाधीवादी अर्थशास्त्र के अनुसार मलेरिया-निवारण, सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, आपसी झगडो के निपटारे के लिए पचायतो की स्थापना, पशु-धन की रक्षा और उनकी नस्ल मे सुधार आदि ग्रामोद्धार के जितने भी कार्य-क्रम थे, चरखा धीरे-धीरे उन सभीका केद्रस्थल बन गया। कहा जा सकता है कि चरखे का अर्थशास्त्र नये गाव की सपन्नता का अर्थशास्त्र था। आरभ मे तो गाधीजी ने इसकी सिफारिश गावो की सपूर्ण अथवा आशिक बेकारी को मिटाने के ही लिए की थी, लेकिन शीघ्र ही वह ग्रामोद्योग के एक सरल

रूप से ऊचा उठकर गाव की महत्वपूर्ण संस्था बन गया। गाधीजी चरखे को निरतर कई गुणो से विभूषित करते गये। चरखा आर्थिक बीमारियो का रामबाण इलाज ही नही राष्ट्रीय एकता और आजादी का मूलमत्र भी था। चरखा विदेशी राज्य के विरोध का प्रतीक और जैसा कि प० जवाहर-लाल नेहरू ने कहा था, "स्वतन्त्रता का भूषण" हो गया।

गाधीजी के लिए चरखा जहा एक ओर आधुनिक यत्रवाद, औद्योगिकता और भौतिकवाद के विरोध का मूर्तरूप था वही उन्हे गाव के सबसे हीन और गरीब लोगो के साथ जोडनेवाली कडी भी। चरखे के ही माध्यम से वह गावो के लाखो-करोडो गरीबो मे से एक और ठीक उन्हीके जैसे बन सकते थे और उनके दु ख-दर्दो को समझ सके थे। वह लिखते हैं—"गाववालो की सूनी निगाहे मेरे कलेजे को टूक-टूक कर देती ह। अपने बैलो के साथ कडी-कठोर मजूरी करते-करते वे बेचारे भी उन्हीके जैसे बन गये हे।" बैलो के साथ चलती हुई ये जिदा ठठरिया उनकी आखो मे बस गई थी ओर दिन रात मे कभी भी उन्हे चैन न लेने देती थी। जब किसीने उनसे कहा कि शराबबदी के लिए अभी देश इतजार कर सकता हे तो वह नाराज हो उठे और बोले—"किसी शराबी की औरत से जाकर इतजार करने के लिए कहो, फिर देखना वह तुम्हारी क्या गत बनाती हे। मै तो हजारो शराबियो की औरत बनकर देख चुका हू और इसलिए एक मिनट का भी इतजार करने का धीरज अब मुझमे नही रहा।" वे हजारो शराबियो ओर उनकी घर-वालियो के दु ख को ही नही देश के लाखो-करोडो अधभूखे ग्रामीणो के अपार दु ख को भी जानते और समझते थे, वह इतने अधिक सवेदनशील थे कि दूसरो की अनुभूतियो को आत्मसात् करने मे उन्हे जरा भी समय नही लगता था। भारतीय गावो की गरीबी ओर बेचारगी का ज्ञान उनके मन-प्राण को हर घडी लोहे की तेज अनी-सा सालता रहता था। "जब भी कोई मुझसे चरखे के बारे मे पूछता है," उन्होने एक बार कहा था, "तो मेरे अदर एक पूरा ज्वालामुखी ही धधक उठता है।" उनकी यह मनोव्यथा अकसर उनके शब्दो मे फूट पडती थी। जलपाईगुडी की एक सभा मे भाषण करते हुए उन्होने कहा था—"भारत मर रहा है अगर तुम भारत को बचाना चाहते हो तो जो छोटा-सा काम मै करने के लिए कहता हू उसे

करके इसे बचा लो। मै तो कहता हू कि अभी भी समय है और चरखा चला-
कर तुम अपनेको बचा सकते हो, वरना तबाह हो जाओगे।" और चटगाव
के नकचढे विद्यार्थियो से उन्होने कहा था, "चटगाव की खादी खुरदुरी है
और चुभती है, मगर भारत की गरीबी तो उससे भी खुरदुरी और ज्यादा
चुभनेवाली है।"

अपने देशवासियो को युगो से चली आती जडता, निष्क्रियता, भय
और अधविश्वास से मुक्त करने के लिए उन्होने सारे देश के दौरे किये।
जब उन्हे चादी और सोने से मढे हुए मानपत्र भेट किये जाते तो वह तिल-
मिला उठते और स्थानीय कारीगरो के हाथ की बनी किसी सस्ती और
सुन्दर कलाकृति की माग करते थे। वह उन स्वर्ण-रजत-खचित मानपत्रो को
वही नीलाम कर देते और नीलामी मे मिला धन खादी फड मे जमा करा
देते थे। एक गाववाले जब उन्हे पहनाने के लिए हार ले आये तो वह बुरी
तरह बिगड उठे—'हारो पर पैसा क्यो खर्च किया? एक रुपये मे तो सोलह
औरतो को एक बार खाना खिलाया जा सकता है। कितना रुपया बर्बाद
कर डाला।" दक्षिण भारत गये तो वहा देवदासी-प्रथा की निदा की और
इस कलक को जल्दी-से-जल्दी मिटाने पर जोर दिया। मैसूर राज्य की एक
नगरपालिका ने अपने यहा तीन लाख रुपये मूल्य का जलप्रदाय होने और
छ महीनो मे विद्युत्-प्रदाय के आरम्भ किये जाने की बात कही तो गाधी-
जी ने बधाई जरूर दी, पर साथ ही यह भी पूछा, "क्या आप लोग शहर के
सब बच्चो को शुद्ध और सस्ता दूध दे सकते है? जबतक आप लोग खुद
अपने हाथ मे झाडू और टोकरी नही लेगे शहर और कस्बो की सफाई नही
हो सकती।"

: २५ :

बढ़ती हुई सरगर्मियां

प० जवाहरलाल नेहरू बाइस महीने यूरोप मे बिताकर जब दिसबर-
१९२७ मे भारत लौटे तो उन्हे देश का राजनैतिक वातावरण काफी बदला

हुआ दिखाई दिया। वह लिखते है—"'१९२६ की शुरुआत मे भारत सुन्न और खामोश पडा था, मानो १९१९-२२ के धक्के से पूरी तरह सभल न पाया हो, लेकिन १९२८ मे चारो ओर ताजगी, हलचल और बेताबी नजर आती थी।" बात सच थी। समाज के कुछ खास-खास हिस्सो मे और खास तौर पर कारखाने के मजदूरो, किसानो और मध्यवर्गीय युवको मे बेचैनी के आसार दिखाई देने लगे थे। अखिल भारत ट्रेड यूनियन काग्रेस मजदूरो की लडाकू और वर्ग-चेतन सस्था का रूप ले चुकी थी, प० जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस जैसे तरुण क्रान्तिकारी नेता उसकी कार्रवाइयो मे दिलचस्पी ले रहे थे। १९२८-२९ मे देशव्यापी हडतालो का एक दौर आया, सबसे ज्यादा हडताले बबई की सूती मिलो मे, बगाल की जूट मिल मे और जमशेदपुर के लोहे और इस्पात के कारखानो मे हुई थी। मजदूर-आदोलन देश के आम राजनैतिक आदोलन से सीधी तरह जुडा हुआ तो नही था, लेकिन मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ तो था ही।

छुटपुट आतकवादी घटनाओ के अलावा, जो असगठित होते हुए भी सरकार के लिए अच्छा-खासा सिरदर्द हो गई थी, देश मे हर जगह यूथ लीग के नाम से युवको के सगठन भी बन रहे थे। कई युवक-सम्मेलन भी हुए, जिनमे राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओ के काफी उग्र समाधान पेश किये गए थे।

किसानो मे असतोष की आग यो तो कई प्रातो मे अदर-ही-अदर सुलग रही थी, लेकिन भडककर ऊपर आई बबई अहाते के गुजरात के किसानो मे ही। जिस बारडोली ताल्लुके को गाधीजी ने १९२२ के असहयोग आदोलन मे करबदी के लिए चुना था, किसानो के असतोष का शखनाद वही से गूजना शुरू हुआ। बबई सरकार के माल-विभाग की राय मे यहा का बदोबस्त करवाना जरूरी हो गया था। जयकर नामक एक डिप्टी कलक्टर को यह काम सौपा गया और उसने सर्वेक्षण के बाद लगान मे पेतीस प्रतिशत बढोतरी की सिफारिश की। बदोबस्त कमिश्नर ने जयकर की रिपोर्ट को ठीक नही माना, लेकिन बबई सरकार ने फिर भी लगान मे बाईस प्रतिशत वृद्धि करने की मजूरी दे दी। बारडोली के किसानो ने बबई की कौसिल मे अपने प्रतिनिधियो की मार्फत इस बढती का विरोध किया। जब दरख्वास्तो से

कोई वात नही बनी तो उन्होने वल्लभभाई पटेल से इस लडाई का नेतृत्व करने के लिए कहा। वल्लभभाई अच्छी-खासी वकालत छोडकर असहयोग आदोलन मे शरीक हुए थे। अहमदाबाद की नगरपालिका के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होने काफी नाम भी कमाया था। लेकिन देश को उनकी सग-ठन करने की शक्ति और योग्यता का परिचय वारडोली के सग्राम मे ही मिला। उन्होने स्थिति की जाच-पडताल करके गाधीजी को यह रिपोर्ट दी कि किसानो की शिकायत सही है। "तो आगे बढो !" गाधीजी ने आशीर्वाद दिये, "गुजरात की जय हो !"

सरकार ने इस आदोलन को तोडने मे अपनी पूरी ताकत लगा दी। लगान चुकानेवालो को रियायते देने की घोषणा की गई। धनी और डर-पोक किसानो को फुसलाया जाने लगा। खडी फसले कौडियो के मोल वेच दी गई। लगान की वसूली मे जमीने, घर-गृहस्थी का सामान और जानवर कुर्क किये जाने लगे। गाव मे न कोई नीलामी की वोली वोलने को तैयार होता था न जब्तशुदा जायदादो और जानवरो को खरीदने के लिए राजी। तब इस काम के लिए वाहर से पठानो को लाया गया। किसानो के पास सिर्फ एक ही हथियार था—वहिष्कार, और उन्होने अत्याचारी अफसरो और सरकार का साथ देनेवाले अपने डरपोक भाइयो के खिलाफ भी इस हथियार को खूब इस्तेमाल किया।

सत्याग्रह के इस व्यापक प्रयोग मे गाधीजी की गहरी दिलचस्पी थी। वह इसका पूरा समर्थन कर रहे थे, लेकिन वल्लभभाई पटेल ने उन्हे वार-डोली आने की सलाह नही दी, क्योकि हर क्षण ऐसा लग रहा था कि यह लडाई अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर लेगी। विट्ठलभाई पटेल ने लार्ड इर्विन से हस्तक्षेप करने का अनुरोध किया। काग्रेस की कार्यसमिति ने वारडोली-सघर्ष के सभावित परिणामो पर विस्तार से विचार किया और तटस्थ पर्यवेक्षको का एक दल, जिसमे प० हृदयनाथ कुजरू भी थे, मौके की जाच-पडताल के लिए बारडोली भेजा गया। ववई कौसिल के कुछ सदस्यो ने इस सवाल पर अपने त्यागपत्र भी दे दिये। सभी भारतीय अखवारो और अग्रजो के 'स्टेट्समैन' और 'पायोनियर' ने भी जाच-समिति वैठाने की माग का समर्थन किया। बडे हीले-हवालो के वाद सरकार राजी हुई और दो

ब्रिटिश अधिकारियो की एक जाच-समिति नियुक्त की गई। इस जाच-समिति ने बाईस प्रतिशत वृद्धि को अनुचित बतलाते हुए केवल पाच प्रतिशत वृद्धि की सिफारिश की। बारडोली के किसानो की जीत हुई। उन्होने अपने नेता वल्लभभाई पटेल को सरदार की पदवी से विभूषित किया। कई वर्षो की निष्क्रियता और जडता के बाद बारडोली के सफल सग्राम ने देशभक्तो के दिलो मे एक नया जोश पैदा कर दिया। बारडोली की लडाई इस बात का सकेत थी कि देश की जनता आजादी के लिए लडने को तैयार खडी थी।

उधर देश के राजनैतिक क्षितिज पर से अन्यमनस्कता का कुहासा भी धीरे-धीरे छटता जा रहा था। स्वराज्य पार्टी १९२३ मे देश के राजनैतिक मच पर आसीन थी। वह नये विधान को विफल करने और नौकरशाही के खिलाफ वातावरण बनाने पर तुली हुई थी। उसके सस्थापक प० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास के अतिरिक्त लाला लाजपत राय और माननीय जयकर का सक्रिय सहयोग भी उसे प्राप्त था। उसने अपने काम का आरभ काफी अच्छी तरह किया। १९२३ और १९२४ ने दो प्रातो मे द्वैध शासन-प्रणाली को चलने ही नही दिया। केंद्र मे साम्प्रदायिक मताधिकार और अफसरो एव मनोनीत सदस्यो का बाहुल्य होते हुए भी सरकारी प्रतिष्ठा को हानि पहुचानेवाले कई काम किये, बजट मजूर नही होने दिये और नये विधान के लिए गोलमेज परिषद् बुलाने की माग बुलद की। शुरू के दिनो मे सरकार पर स्वराज्य पार्टी का कितना दबदबा था, यह बात तत्कालीन वाइसराय द्वारा उपनिवेश-मत्री के नाम लिखे एक पत्र से मालूम होती है 'इस समय तो बस स्वराजी का बोलबाला है, न कोई उसकी बराबरी करने वाला है और न कोई उसपर वार करनेवाला स्वराजियो के मुकाबले नरमदली (माडरेट) तो बडा ही सुस्त और घोघा बसत मालूम पडता है।''[1]

लेकिन स्वराज्य पार्टी का यह ऊचा अनुशासन ज्यादा दिन चल न पाया। कौसिलो मे अपना बहुमत न होने से दूसरे दलो का सहयोग लेना

---

[1] रीडिंग, मार्क्वेस आफ 'रूफस इजाक, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग,' जिल्द-२ पृष्ठ २८३।

आवश्यक हो जाता था, और कई वार सिद्धातो की वलि देकर भी सहयोग लेना पडता था। सरकार स्वराज्य पार्टी के कमजोर सदस्यो को फुसलाकर तोडने मे कामयाव भी हो जाती थी—किसीके आगे प्रात के मत्री-पद का टुकडा फेका जाता, तो किसीको जिनेवा की सैर का लालच दिया जाता था। जो लोग साप्रदायिक मताधिकार से चुनकर आये थे वे अत तक देश-व्यापी साप्रदायिकता के जहर से अछूते न रह सके। मुस्लिम सदस्य पार्टी से किनारा करते चले गए और महाराष्ट्र के स्वराजियो ने 'सापेक्ष सहयोग'[१] का नारा वुलद कर दिया। पार्टी को करारी चोट तो उस समय लगी जव दल के उपनेता लाला लाजपतराय ने त्यागपत्र दे दिया। १९२६ के आम चुनाव मे स्वराजियो की सख्या केद्रीय और प्रातीय दोनो ही तरह की कौसिलो मे काफी कम हो गई। केवल मदरास को छोडकर सव जगह उन्हे अपनी 'सीटो' से हाथ धोना पडा। सयुक्तप्रात से अकेले प० मोतीलाल नेहरू ही केद्रीय कौसिल के लिए चुने जा सके। उन्हीके शब्दो मे, "राष्ट्रीयता और हीन कोटि की साप्रदायिकता के वीच लडाई थी, और उसमे साप्रदायिकता की जीत हुई।"

अव सरकार को कौसिलो मे अपने मन की करने का मौका मिल गया। १९२६ के आम चुनाव से कुछ ही दिन पहले फरवरी मे प० मोती लाल नेहरू को कहना पडा था कि "ये दिखावटी सस्थाए अव हमारे किसी काम की नही रह गई है।" कौसिलो की उपयोगिता के वारे मे उनके विचारो ने कैसे पलटा खाया और वह क्योकर इस नतीजे पर पहुचे कि मौजूदा हालतो मे भारत के लिए वैध उपाय विलकुल ही अनुपयुक्त थे, इसका वहुत अच्छा वर्णन उनके सुपुत्र प० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी" मे किया है। और अधिकाश स्वराजी, जो फिर गाधीजी के साथ आ गये, उसका सवसे वडा कारण पार्लमेंटरी तरीको मे उन लोगो के भ्रमो का निवारण ही था।

१९२७ मे असतोष की आग अदर-ही-अदर तो अवश्य घुमड रही थी, लेकिन ऊपर से राजनैतिक वातावरण विलकुल शात था। लार्ड रीडिंग की भविष्यवाणी सही थी कि उनके उत्तराधिकारी के अठारह महीने शाति

[१] रेसपासिव कोआपरेशन

से वीतेंगे, लेकिन वह शाति तूफान के पहले का सन्नाटा होगा। आखिर तूफान आया, लेकिन उसे लाने की जिम्मेवारी ब्रिटिश सरकार पर ही थी। २ नववर, १९२७ को वाइसराय ने गाधीजी, प० मोतीलाल नेहरू, डा० अन्सारी और जिन्नासाहव को दिल्ली वुलाकर शाही कमीशन की नियुक्ति की घोषणा का एक पर्चा थमा दिया। इन लोगो को दिल्ली सिर्फ इसीलिए वुलाया गया था। गाधीजी उस समय दक्षिण मे थे और करीव हजार मील की यात्रा करके दिल्ली पहुचे थे। वडे ही क्षोभ के साथ उन्होने कहा था कि क्या एक पोस्टकार्ड से इसकी सूचना नही दी जा सकती थी[1] और भारतीय नेताओ को जो पर्चा दिया गया था, उसका विषय विलकुल नया हो सो वात भी नही थी। समाचार-पत्र उसकी पूर्व-सूचना अपने पाठको पहले ही दे चुके थे। वाइसराय के जीवनी-लेखक का कहना है कि भारतीय नेता इतने अपमानित पहले कभी नही हुए थे।[1]

१९१९ के इडियन रिफार्म्स एक्ट मे दस वर्ष के वाद भारत की सवैधानिक स्थिति पर विचार करने का प्रावधान रखा गया था। अनुदार दली (कजरवेटिव) अग्रेज उस प्रावधान को अपनी सुरक्षा और भारतीय देशभक्त आगे वढने का अवसर मानते थे। निर्धारित अवधि से दो वर्ष पूर्व, १९२७ मे, शाही कमीशन की नियुक्ति होते देख लोग-वाग तरह-तरह की अटकले लगाने लगे। आम राय यह थी कि इग्लैड की कजरवेटिव सरकार अपनी उत्तराधिकारी मजदूर सरकार को, इग्लैड के आम चुनाव के वाद जिसके वन जाने की पूरी सभावना थी, भारतीय समस्या को हल करने का मौका नही देना चाहती, उसे स्वय ही हल करना चाहती है। लार्ड वरकनहेड ने अपनी पुस्तक 'अतिम दौर' (दि लास्ट फेज) मे लिखा भी है कि "हम इस वात का जरा भी खतरा मोल लेना नही चाहते कि १९२८ के कमीशन की नियुक्तिया हमारे उत्तराधिकारी करे।" लार्ड वरकनहेड का उद्देश्य जो भी रहा हो उनका नियुक्त किया हुआ कमीशन भारत मे सफल न हो सका।

कमीशन के अध्यक्ष सर जान साइमन[2] को छोडकर उसके शेष सभी

---

[1] जान्सन, एलन कैंपवेल 'वाइकाउट हैली पेपर्स', पृ० १९०

[2] अध्यक्ष के ही नाम पर उस कमीशन का नामकरण 'साइमन कमीशन' किया गया था।

सदस्य 'द्वितीय श्रेणी' के लोग थे। अग्रेज लेखक वाइकाउट साइमन के शब्दो मे 'कमीशन के कनिष्ठ सदस्य' क्लीमेंट इटली, जो आगे चलकर इग्लैड के प्रधानमत्री बने, उस समय पार्लमेंट की कामन्स सभा की पिछली बेचो पर बैठनेवाले अप्रसिद्ध व्यक्ति थे। लेकिन जिस बात से भारतीयो को सबसे अधिक आघात पहुचा था वह यह थी कि उस कमीशन मे एक भी भारतीय को नही रखा गया था, सब-के-सब गोरे थे। यह तर्क कि ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी शाही कमीशन मे किसी बाहरी आदमी को नही रखा जा सकता था, वैधानिक दृष्टि से तो ठीक था, लेकिन राजनैतिक दृष्टि से वह एक बहुत बडी भूल थी। भारत मे उस कमीशन को स्वतत्र होने की भारतीयो की योग्यता का विदेशी परीक्षक समझा गया। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने 'हर जगह और हर तरह'[1] से उसके बहिष्कार का फैसला किया। यहातक कि जिन माडरेट और मुस्लिम नेताओ के सहयोग की बरकनहेड को पूरी आशा थी, उन्होने भी कमीशन का विरोध करने मे राष्ट्र का साथ दिया।

साइमन कमीशन जहा भी गया सर्वत्र काले झडो से[1] उसका स्वागत किया गया और उसके विरोध मे आम हडताले हुई। पुलिस ने सभी शहरो मे प्रदर्शनकारियो पर डडे बरसाए और पजाब केसरी लाला लाजपतराय पर तो एक युवक अग्रेज अफसर के हाथो इतनी मार पडी कि अदरूनी चोटो के फलस्वरूप थोडे ही दिनो के बाद उनकी मृत्यु भी हो गई। इस दुर्घटना से जनता का गुस्सा और भी भडका और बहिष्कार मे ज्यादा तेजी आ गई। सरकार भी और ज्यादा कठोरता से काम लेने लगी और प्रदर्शनकारियो पर डडे बरसाना आम बात हो गई।

साइमन कमीशन के बहिष्कार से देश की सोई हुई राजनीति मे एक उफान-सा आ गया और इधर-उधर बिखरे हुए सारे राजनैतिक दल एक मच पर आ जमा हुए। बरकनहेड की इस चुनौती का कि "भारतीय अपने लिए जिस तरह का विधान चाहते है उसकी रूप-रेखा प्रस्तुत क्यो नही करते, जबकि अपने तीन वर्ष के उपनिवेश-मत्रीत्व काल मे मै दो बार उनसे

[1] और 'साइमन कमीशन गो बैक' (साइमन कमीशन लौट जाओ) के नारो से।
—अनु०

यह कह चुका हू और आज फिर कह रहा हू।" जवाब देने के लिए एक सर्वदल-सम्मेलन का आयोजन किया गया और उसने विधान की जो रूप-रेखा तैयार की वह इतिहास मे 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस रिपोर्ट मे पार्लामेंटरी ढग की सरकार, सयुक्त चुनाव-पद्धति और अल्प-सख्यको के सरक्षण की कुछ जटिल-सी प्रणाली की बात कही गई थी। अगस्त १९२८ मे सर्वदल, सम्मेलन की अतिम बैठक मे जब इस मसविदे को स्वीकृति के लिए पेश किया गया तो 'औपनिवेशिक स्वराज्य' और 'पूर्ण स्वाधीनता' के प्रश्न को लेकर विवाद छिड गया। नेहरू-रिपोर्ट मे 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की बात काग्रेस के नरम और गरम सभी विचार के नेताओ मे एकता बनाये रखने के उद्देश्य से कही गई थी। लेकिन उग्र विचारो के तरुण नेताओ को यह स्वीकार न हुआ, वे देश की स्वतत्रता को सीमित करने के जरा भी पक्ष मे नही थे। लेकिन प० मोतीलाल नेहरू, जिनके नाम पर रिपोर्ट का नामकरण हुआ था, उसको उसी रूप मे, बिना किसी परिवर्तन के, स्वीकृति चाहते थे। इसपर प० जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचद्र बोस इतने नाराज हुए कि उन्होने काग्रेस से इस्तीफे ही दे दिये। लेकिन उनके इस्तीफे मजूर नही किये गए। तब उन लोगो ने काग्रेस जनो मे पूर्ण स्वाधीनता के विचारो का प्रचार करने के लिए एक स्वाधीनता (इडिपेंडेन्स) लीग बना डाली। दिसबर १९२८ मे कलकत्ते मे काग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था और अभी से ऐसा लग रहा था कि वहा नये और पुराने खून मे टकरा कर ही रहेगी।

सर्वदल-सम्मेलन और नेहरू-रिपोर्ट को तैयार करने मे गाधीजी ने कोई भाग नही लिया था। लेकिन उन्होने रिपोर्ट को "समस्त उचित आका-क्षाओ" को सतुष्ट करनेवाली अवश्य माना था। काग्रेस के गौहाटी (१९२६) और मदरास (१९२७) अधिवेशनो मे भी उन्होने सक्रिय रूप से हिस्सा नही लिया था। अगर कलकत्ता-अधिवेशन के अध्यक्ष प० मोतीलाल नेहरू ने उन्हे जल्दी-से बुलाने न भेजा होता तो सभवत १९२८ के अधिवेशन मे भी वह कोई दिलचस्पी न लेते। उन्होने यह कहकर गाधीजी को सकट मे सहायता करने के लिए बुला लिया था—"आपने मुझे अध्यक्ष की कुर्सी पर काटो का ताज पहनाकर बिठा तो दिया है, अब मेरी मुसी-

वातो का तमाशा दूर से तो न देखिये ।'

कलकत्ता-अधिवेशन मे गाधीजी के समझौता-प्रयत्नो से कांग्रेस की फूट टल गई। अधिवेशन ने एक प्रस्ताव करके नेहरु-रिपोर्ट को इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि यदि ३१ दिसवर, १९२९ तक सरकार ने इसे स्वीकार नही किया तो काग्रेस पूर्ण स्वाधीनता की माग करेगी और आवश्यक हुआ तो उसके लिए अहिंसात्मक असहयोग भी करेगी। गाधीजी सरकार को दो वर्ष का समय देना चाहते थे, जिससे काग्रेस भी इतने समय मे अपने सगठन को मजवूत वना सके। आज़ादी के वारे मे वकवास करनेवालो से उन्होने खुले अधिवेशन मे कहा था "आप लोग चाहे स्वतन्त्रता का राग अलापा करे, जैसे कि मुसलमान अल्ला का राग अलापता है और हिंदू राम या कृष्ण का, लेकिन यदि इस अलाप के पीछे सचाई नहीं है तो आपका यह अलाप कोई मतलव नही रखता।" उन्होने यह चेतावनी भी दी कि जवतक राष्ट्र अपने अधिकारो का दावा करने की तैयारी नही कर लेता, "अपनी वात को मनवाने के लिए इतनी ताकत नही जमा कर लेता," व्रिटिश सरकार न तो औपनिवेशिक स्वराज्य देने को राजी होगी और न पूर्ण स्वाधीनता ही। अगर काग्रेस सरकार से अहिंसात्मक लडाई लडना चाहती है तो पहले उसे अपना सगठन मजवूत वनाना होगा। काग्रेस की सदस्य-सख्या को उन्होने 'नकली' वताया और काग्रेस को सच्चे, प्राणवान, सक्रिय सदस्यो की सस्था वनाने पर जोर दिया। अत मे उन्होने यह भी कहा कि प्रस्ताव का महत्व और उसकी उपयोगिता तभी होगी जव आगे डटकर काम किया जाय।

कलकत्ता-काग्रेस ने गाधीजी के राजनीति मे लौट आने का मार्ग साफ कर दिया। अगर व्रिटिश सरकार ने काग्रेस की माग को मजूर नही किया—और मजूर किये जाने की कोई सभावना दिखाई नही देती थी—तो काग्रेस असहयोग आदोलन छेडने के लिए वचनवद्ध हो चुकी थी और सभी जानते थे कि केवल गाधीजी ही ऐसे आदोलन का सचालन कर सकते थे। मार्च, १९२२ मे उन्हे छ साल की कैद की सजा दी गई थी, वीमारी के कारण १९२४ मे मियाद से पहले रिहा किया जाना उन्हे ज़रा भी अच्छा नही लगा था। मार्च, १९२८ तक वह 'नैतिक दृष्टि से' अपनेको वदी ही मानते थे।

लेकिन अब मियाद पूरी हो चली थी और सक्रिय राजनीति से लिये हुए सन्यास को राजनैतिक एव वैयक्तिक दोनो ही कारणो ने समाप्त करने का समय आ गया था।

: २६ :
रियायत का एक साल

काग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन ने ब्रिटिश सरकार को, प० जवाहरलाल नेहरू के शब्दो मे, "एक साल की रियायत और विनम्र चेतावनी (अल्टीमेटम)" दे दी थी। अगर सरकार ने १६२६ के अत तक औपनिवेशक स्वराज्य की माग को पूरा न किया तो काग्रेस आदोलन छेड देगी। गाधीजी को १६२६ मे यूरोप जाने का निमत्रण मिला था, लेकिन कलकत्ता-काग्रेस मे मुख्य प्रस्ताव पास करवा चुकने के बाद यूरोप जाना उन्हे "काम छोडकर भागने" जैसा लग रहा था। काग्रेस ने अपनी ओर से एक साल का अवसर दे दिया था, अब कुछ करने की बारी सरकार की थी। परतु गाधीजी जानते थे कि आजादी अग्रेजो से सेत मे नही मिलेगी।

सत्याग्रह के पैतरे और मोर्चेबदिया महीनो या बरसो पहले से तय नही की जाती। लेकिन देश की जनता को राजनैतिक शिक्षा देना और अनुशासित करना तो आवश्यक था ही। इसके लिए गाधीजी ने देशव्यापी दौरा शुरू किया। सब जगह उन्होने लोगो से चरखा चलाने, खादी पहनने और विदेशी वस्त्रो का बहिष्कार करने के लिए कहा। काग्रेस की ओर से स्वयसेवको के द्वारा खादी-बिक्री की एक योजना भी उन्होने तैयार की। घर-घर जाकर विदेशी कपडे जमा करने, सार्वजनिक रूप से उनकी होली जलाने और विदेशी कपडा बेचनेवाली दुकानो की पिकेटिंग करने का कार्यक्रम भी इस योजना मे सम्मिलित था। मार्च १६२६ मे जब गाधीजी कलकत्ता मे थे, उनकी उपस्थिति मे वहा के श्रद्धानद पार्क मे विदेशी कपडो की बहुत बडी होली जलाई गई। सरकार ने पहले ही बगाल प्रातीय काग्रेस कमेटी पर नोटिस तामील कर दिया था कि सार्वजनिक स्थानो मे या उनके

आस-पास विदेशी कपडो की होली जलाना जुर्म है। गाधीजी का इरादा इस समय किसी भी कानून को तोडने का नही था। उन्होने कहा था, "वैसे तो जितने भी कानून नैतिक दृष्टि से अनुचित है उन सभीको मै तोड सकता हू, लेकिन अभी मेरे लिए वह समय नही आया है।" फिर लोगो ने उन्हे यह भी बता दिया था कि श्रद्धानद पार्क, जहा सभा करके होली जलाई जाने-वाली थी, सार्वजनिक स्थान नही था। खैर, होली जलाई गई और सरकार ने वही मौके पर गाधीजी को गिरफ्तार कर लिया। चीफ प्रेसीडेसी मैजि-स्ट्रेट की अदालत मे ५ मार्च को हाजिर रहने के मुचलके पर उन्होने दस्त-खत करने से इनकार कर दिया। वह उस समय बर्मा जा रहे थे, जो चौदह-वर्षो के बाद उस देश मे उनकी दूसरी यात्रा थी, इसलिए मुकदमा उनके लौट आने तक स्थगित कर दिया गया। तीन सप्ताह बाद, बर्मा से लौट आकर, वह स्वय अदालत मे हाजिर हो गये, मुकदमा चला और उनपर एक रुपया जुर्माना किया गया। उनके अनजान मे ही किसीने जुर्माना अदा भी कर दिया। इस मुकदमे से विदेशी कपडो के बहिष्कार ने और तेजी पकड ली। जिस दिन गाधीजी के मुकदमे की सुनवाई हुई उस दिन सारे देश मे विदेशी कपडो की होलिया जलाई गई।

देशव्यापी असतोष की जानकारी सरकार को भी थी। काग्रेस ने अल्टीमेटम दे ही दिया था, १९३० के आरभ मे आदोलन शुरू होने की हवा गरम थी, इसके सिवा अशाति के कुछ और चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। औद्योगिक मजदूरो मे असतोष फैलता जा रहा था। बबई और जमशेदपुर मे तो हडताले भी हो गई थी। १९२९ के अप्रैल महीने मे केन्द्रीय असेबली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल जब असेबली-भवन मे पब्लिक सेफ्टी बिल पर अपना निर्णय देने के लिए खडे हुए तो दर्शक गैलेरी से असे-बली भवन मे बम फेके गए। भगतसिह और बटुकेश्वरदत्त ने ये बम फेके थे, दोनो वही गिरफ्तार कर लिये गए। बाद मे जब मुकदमा चला तो उन्होने बताया था कि उनका इरादा किसीकी जान लेने का नही, सरकार के बहरे कानो तक भारतवासियो की उमगो का सदेश पहुचाना था। देश के कई हिस्सो मे आतकवादी कार्रवाइया होने लगी, सरकार ने नौजवानो और क्रातिकारियो की अधाधुध गिरफ्तारिया कर सबपर षड्यत्र केस चला

दिये। देश के बच्चे-बच्चे की जबान पर क्रांतिकारियो का नाम हो गया। जो आतकवाद के समर्थक नही थे वे भी आतकवादियो के उद्देश्य की सराहना करने लगे। जब क्रांतिकारियो ने जेल के दुर्व्यवहार के खिलाफ भूख हडताल कर दी तो सारे देश मे गुस्से और बेचैनी की लहर दौड गई। इस भूख-हडताल मे यतीद्रनाथ दास जेल मे ही शहीद हो गये। उनके बलिदान के उपलक्ष्य मे देशव्यापी हडताल करके जनता ने ब्रिटिश राज्य के प्रति अपने गुस्से और नफरत को जाहिर किया।

देश के बढते हुए असतोष और रोष को कुचलने के ही लिए सरकार ने पब्लिक सेफ्टी बिल पेश किया था। उसमे कार्यपालिका को और भी अनियत्रित अधिकार दिये गए थे। असेंबली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने उस दमनकारी बिल को अस्वीकार कर दिया था, लेकिन वाइसराय ने अपने विशेषाधिकारो का प्रयोग करके उसे कानून का रूप दे दिया। मार्च, १९२९ मे कई प्रमुख ट्रेड यूनियन नेताओ को, जिनमे 'कुछ कम्यूनिस्ट, कुछ कम्यूनिस्ट-समर्थक और कुछ निरे ट्रेड यूनियनिस्ट थे,' पकडकर जेल मे डाल दिया और उनपर सुप्रसिद्ध 'मेरठ षड्यत्र केस' के नाम से मुकदमा चलाया गया। गाधीजी ने इस मुकदमे पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि "मुझे तो इस मुकदमे का उद्देश्य साम्यवाद को खत्म करना नही, लोगो के दिलो मे आतक पैदा करना ही लगता है।" और उन्होने यह भी कहा था कि "सरकार अपने खूनी पजे दिखा रही थी।"

लेकिन इतना सब होते हुए भी तत्कालीन वाइसराय लार्ड इर्विन का इरादा बहुत ज्यादा सख्ती करने का नही था। १९२९ की गर्मियो मे वह इग्लैंड गये और वहा के राजनीतिज्ञो मे भारत की स्थिति पर विचार-विमर्श किया। जब वह वहा पहुचे तो सरकार बदल गई थी और मजदूर दल के मत्रिमडल ने शासन-सूत्र सभाल लिया था। मजदूर-दल की सरकार के उपनिवेश-मत्री वेजवुडबेन भारतीयो के निरतर बढते हुए असतोष को रोकने के लिए कुछ करने की लार्ड इर्विन की सलाह से सहमत थे। सवैधानिक प्रश्न पर विचार करने के लिए भारतीया और अग्रेजो की मिली-जुली गोलमेज परिषद् बुलाने के लार्ड इर्विन के सुझाव का उन्होने समर्थन किया। लार्ड इर्विन भारत लौटकर आकर गोलमेज परिषद् की सूचना देते समय इस

बात पर जोर देना चाहते थे कि भारत मे ब्रिटिश नीति का लक्ष्य अब भी औपनिवेशिक स्वराज्य ही है, वेजवुड साहब ने उनके इस विचार का भी समर्थन किया। लेकिन लिबरल पार्टी के दो प्रमुख स्तभ लायर्ड जार्ज और लार्ड रीडिग ने लार्ड इर्विन के प्रयत्नो को कोई बढावा नही दिया। लेबर सरकार का हाउस आफ कामन्स मे बहुमत नही था, उसे लिबरलो के समर्थन पर निर्भर करना पडता था, लेकिन उपनिवेश-मत्री वेजवुड खतरा मोल लेने को तैयार हो गये।

भारत लौटकर लार्ड इर्विन ने ३१ अक्तूबर, १९२९ के दिन एक 'असाधारण राजपत्र' के द्वारा गोलमेज परिषद् की सूचना भारतवासियो को दे दी। वाइसराय ने बात इतनी चतुराई से कही थी कि उससे ज्यादा पाने और कम देने के, दोनो ही अर्थ निकाले जा सकते थे। लेकिन कुल मिलाकर उस घोषणा का देश मे अच्छा ही स्वागत हुआ। माडरेट नेताओ ने तो, वाइसराय के जीवनी-लेखक के शब्दो मे, "परिषद् को अपनी बुद्धि-कौशल दिखलाने का मनचाहा अवसर माना और वह लार्ड इर्विन के विश्वस्त मित्र बन गये"। काग्रेस के नेता तो किसी ऐसे सकेत की प्रतीक्षा ही कर रहे थे, जो औपनिवेशिक स्वराज्य की आशा को बढाने और सरकार से सघर्ष को टालनेवाला हो, इसलिए उन्होने इस घोषणा को सरकार का 'हृदय-परिवर्तन' माना। एक 'सयुक्त वक्तव्य' के द्वारा गाधीजी, प० मोतीलाल नेहरू, पटेल, तेजबहादुर सप्रू, श्रीमती एनी बेसेट और जवाहरलाल नेहरू आदि प्रमुख नेताओ ने इस घोषणा पर सतोष प्रकट किया और उसमे निहित सदिच्छाओ की सराहना की।

लेकिन उधर इग्लेड के कजरवेटिव अखबारो और पार्लमेट की लार्ड सभा मे इसीपर तूफान खडा हो गया। अनुदार दल के लार्डो ने लेबर सरकार पर यह आरोप लगाया कि वाइसराय की घोषणा इग्लैड की भारत के प्रति अबतक की नीति के खिलाफ थी। लेबर सरकार का कामन्स सभा मे बहुमत तो था नही, केवल लीपापोती करके जान बचाई जा सकती थी। वेजवुड साहब ने यह साबित करने की कोशिश करके किसी तरह मामले को ठडा किया कि भेद केवल घोषणा के शब्दो मे है, नीति तो वही पुरानी है। अगस्त, १९१७ की माटेगू-घोषणा की सिर्फ नये सिरे से व्याख्या कर दी

गई है।

पार्लमेंट की बहस का भारतीय नेताओ पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। सरकार की सदिच्छा मे उनके विश्वास को एक बार फिर ठोकर लगी। वाइसराय ने भारत मे जो कुछ करना चाहा था, इग्लैंड मे परिस्थितियो के शिकार उपनिवेश-मत्री ने उसपर पानी फेर दिया। वाइसराय की घोषणा ने सरकार और भारतीय नेताओ के दिलो को जोडने के लिए जो अस्थायी कडी प्रस्तुत कर दी थी, वह फिर टूट गई।

विट्ठलभाई पटेल और सर तेजबहादुर सप्रू ने काग्रेस और सरकार मे समझौता कराने का एक अतिम प्रयत्न और किया। वाइसराय ने काग्रेसी नेताओ को २३ दिसबर के दिन दिल्ली मिलने के लिए बुलाया। उसी दिन सवेरे दक्षिण के दौरे से लौटते हुए नई दिल्ली के निकट लार्ड इर्विन की रेलगाडी के पहिए के नीचे बम फटा, पर वह बाल-बाल बच गये। इस दुर्घटना मे बच जाने पर गाधीजी ने वाइसराय को बधाई दी। लेकिन नेताओ और वाइसराय की भेट का इच्छित परिणाम नही हुआ। वह नेताओ को यह आश्वासन नही दे सके कि गोलमेज परिषद् की कार्रवाई पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य को आधार मानकर होगी।

दिल्ली मे वाइसराय और भारतीय नेताओ के असफल सम्मेलन के तुरत बाद ही लाहौर मे काग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा था। दिसबर १९२८ मे काग्रेस ने सरकार को जो एक साल की अवधि दी थी उसके भी पूरा होने का समय करीब आ गया था। काग्रेस तो प्रस्ताव कर ही चुकी थी कि अगर सरकार ने एक साल की अवधि मे औपनिवेशिक स्वराज्य की माग को मजूर नही किया तो पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी जायगी। भारतीय नेता वाइसराय से ब्रिटिश नीति के लक्ष्य के बारे मे गोलमोल बातें नही स्वशासन की ओर कदम बढानेवाला कोई ठोस और स्पष्ट आश्वासन चाहते थे। लार्ड इर्विन की इस बात से कि "लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लक्ष्य के दावे पर जोर देना ज्यादा जरूरी होता है" गाधीजी और प० मोतीलाल नेहरू काग्रेस के आगामी अधिवेशन मे आम सदस्यो का समर्थन प्राप्त नही कर सकते थे। इस तर्क को भी लोगो के गले नही उतारा जा सकता था कि जो पार्लमेंट का सवैधानिक दायित्व है, उसमे

हस्तक्षेप नही किया जा सकता, क्योकि ब्रिटिश मन्त्रि-मडल अनेक अवसरो पर पार्लामेट की पूर्ण अनुमति अथवा स्वीकृति के विना नीति-सबधी ऐसी घोषणाए कर चुका था, जिनका बाद मे पार्लामेट ने अनुमोदन कर दिया। देश की जनता का यह विचार ठीक ही प्रतीत होता था कि भारत मे साम्राज्यवादी शासन-प्रणाली के बदले औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने की मजदूर-दल की सरकार मे न हिम्मत थी और न तैयारी ही।

भारतीयो की उस समय की मन स्थिति का प० मोतीलाल नेहरू ने विट्ठलभाई पटेल के नाम लिखे अपने एक पत्र मे बिलकुल यथार्थ वर्णन किया है, उन्होने लिखा था—"सबकी आखे लाहौर पर टिकी है।" लाहौर का अधिवेशन सभी दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण लग रहा था। एक ऐसे सघर्ष के छेडे जाने की पूरी आशा थी, जिसका नेतृत्व गाधीजी ही कर सकते थे। गाधीजी को लाहौर-काग्रेस का सभापति बनाने की बात लगभग निश्चित ही समझी जा रही थी। लेकिन उन्होने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि अध्यक्ष के लिए आवश्यक दैनदिन कार्यो को करने का समय उनके पास नही है, और जहातक काग्रेस की सेवा करने का प्रश्न है, उसे तो वह बिना कोई पद ग्रहण किये भी बराबर करते ही रहेगे। उनकी प्रेरणा से काग्रेस की महा-समिति ने प० जवाहरलाल नेहरू को लाहौर-अधिवेशन का अध्यक्ष निर्वाचित किया, स्वय नेहरूजी के शब्दो मे—"मुख्य द्वार से, यहातक कि बगल के दरवाजे से भी नही, बल्कि चोर दरवाजे से" पहुचकर वे इस उच्च पद पर आसीन हुए थे।

प० जवाहरलाल नेहरू का अध्यक्ष-पद पर चुनाव महात्मा गाधी का सर्वोत्कृष्ट राजनैतिक कृतित्व था। पिछले ही साल कलकत्ता-काग्रेस मे नये और पुराने नेतृत्व मे जमकर लडाई हुई थी। नई पीढी पुराने नेतृत्व की रीति-नीति मे अपना सदेह और अविश्वास प्रकट कर चुकी थी। गाधीजी की कुशलता के कारण फूट किसी तरह टल गई थी। लेकिन नई आशा और उत्साह से भरे देश की प्रतिनिधि सस्था काग्रेस नया खून और नूतन नेतृत्व चाहती थी। इसलिए गाधीजी ने काग्रेस की बागडोर बयालीस वर्षीय जवाहरलाल नेहरू के हाथो मे सौप दी, जो समय पाकर गाधीजी के सच्चे राजनैतिक उत्तराधिकारी बने और जिनके बारे मे गाधी-

जी ने उस समय कहा था—'सौ टंच का सोना, एकदम सच्चा और विश्वसनीय, निडर और साहसी शूरमा।"

पं० जवाहरलाल नेहरू गांधीजी से उम्र मे बीस वर्ष छोटे थे, दोनो के विचारो मे भी काफी अतर था, लेकिन फिर भी दोनो का पारस्परिक स्नेह अद्भुत और अगाध था। १९२७ मे यूरोप से लौटकर पडितजी ने कई ऐसे काम किये थे, जो गांधीजी को पसद नही आए। उन्होंने १९२८ के आरभ मे नेहरूजी को लिखा भी था—"तुम बहुत तेज चल रहे हो, सोचने और अपने-आपको हमारे यहा की हालतो के माफिक ढालने मे तुम्हे थोडा समय लगाना चाहिए।' थोडे दिनो बाद गांधीजी ने अपने दूसरे पत्र मे यह स्वीकार किया कि 'तुममे और मुझमे विचारो का अतर इतना अधिक और उग्र है कि हम कहीं एकराय हो ही नही सकते।" विचारो का यह अतर कभी बढ जाता था और कभी कम हो जाता था। मिटा तो कभी नही, लेकिन इससे उनके पारस्परिक स्नेह और श्रद्धा मे कभी बाधा नही आई।

दिसबर १९२९ मे घटना-चक्र बहुत तेजी से चल रहा था, सरकार ने सघर्ष का वातावरण निर्मित हो चुका था और जवाहरलाल नेहरू देश के सेनानायक थे।

: २७ :

सविनय अवज्ञा

पजाब मे काग्रेस का अधिवेशन पूरे दस वर्षो के बाद हो रहा था। दिसबर १९१९ मे अमृतसर मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ था। उसके एक वर्ष बाद १९२० मे सत्याग्रह-आदोलन शुरू किया गया था। ३१ दिसबर, १९२९ को रावी के तट पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ, काग्रेस ने अपने सदस्यो को कौसिलो मे इस्तीफा देने का आदेश दिया और महासमिति को सविनय अवज्ञा शुरू करने के अधिकार दे दिये गए।

सरकार भी सतर्क हो गई। काग्रेस के लाहौर-अधिवेशन का वास्तविक महत्व वह पहले ही जान चुकी थी। लार्ड इर्विन के जीवनी-लेखक एलन

कैंपवेल जान्सन का कहना है कि वाइसराय तो इस अधिवेशन पर पावदी लगाने की वात भी सोच रहे थे। जनवरी के आरभ मे पजाव सरकार ने भारत सरकार से यह सिफारिश की कि उसके कानूनी सलाहकार की राय मे अध्यक्ष डा० सैफुद्दीन किचलू को उनके भाषणो के लिए गिरफ्तार कर लेना चाहिए। भारत सरकार ने पजाव सरकार के इस सुझाव को मानने से इनकार कर दिया, क्योकि घटनाए एक के वाद एक बहुत तेजी से घट रही थी।

लाहौर-अधिवेशन के वाद काग्रेस की स्थिति और शक्ति के वारे मे वाइसराय ने लदन के उपनिवेश-मत्री को लिखा था—"उसने देश की राजनैतिक स्थिति पर वहुत गहरा प्रभाव डाला है।" उन्होने यह भी लिखा कि यहा नये और पुराने नेतृत्व मे झगडा होने की उम्मीद थी, लेकिन गाधीजी और मोतीलाल नेहरू ने क्रातिकारी वामपक्ष के आगे हथियार डाल दिये इसलिए काग्रेस मे फूट नही पडी। अब काग्रेस का नेतृत्व पूरी तरह लडाकू और उग्र क्रातिकारियो के हाथ मे आ गया, कौसिलो के बहिष्कार के प्रश्न पर शायद अब भी फूट पड जाय, लेकिन सब मिलाकर काग्रेस "गैर-कानूनी और अवैधानिक उपायो से अवैध लक्ष्य" को प्राप्त करनेवाली आपत्तिजनक सस्था बन गई थी।

यह तो मानी हुई वात थी कि लाहौर-अधिवेशन के निर्णयो को गाधीजी के ही नेतृत्व मे कार्यान्वित किया जाता। इस समय के उनके भाषणो और लेखो मे उतनी ही स्पष्टता और सच्चाई थी जितनी दस वर्ष पहले असहयोग-आदोलन के समय थी। उन्होने साफ शब्दो मे लिखा था कि अन्यायी सरकार को बदलने या मिटाने का जनता को अधिकार है। अगर वातावरण अहिसात्मक रहा तो सविनय अवज्ञा आदोलन को शुरू करने की अपनी रजामदी भी उन्होने जाहिर की। जन-आदोलन के खतरो से वह परिचित थे। लेकिन चोरीचौरा का सवक भी काग्रेस-जन भूले नही थे। इस वार-तो गाधीजी ने यह भी साफ कह दिया था कि एक वार आदोलन शुरू करने के वाद उसे वापस लेना आसान नही होगा, आदोलन को हिसात्मक रूप धारण करने से बचाने की पूरी कोशिश की जायगी, फिर भी, "जवतक एक भी सत्याग्रही जिंदा या जेल से बाहर रहेगा" आदोलन बद न होगा, चलता

रहेगा । १६२०-२२ मे गाधीजी ने बडी तैयारिया की थी, सारे आदोलन को कई खडो मे विभाजित किया था और सविनय अवज्ञा शुरू करने के लिए एकदम तैयार नही हुए थे । इस बार उन्होने एकदम बिगुल बजा दिया । पिछले दस वर्षो से वह जन जागरण की दिशा मे जो परिश्रम करते रहे थे वह अब काम आया । १६२२ मे उन्होने आदोलन को जहा और जिस स्थिति मे छोडा था, इस बार वही से तुरत शुरू कर दिया । स्वय उन्हीके शब्दो मे, "१६२० का सघर्ष देश की तैयारियो के लिए था, १६३० का सघर्ष अतिम मुठभेड के लिए ।"

सरकार और काग्रेस के बीच सघर्ष अनिवार्य हो गया था। जनवरी १६३० मे गाधीजी ने कवीन्द्र रवीन्द्र को लिखा था कि "मै रात-दिन आदोलन के ही विषय मे सोचता रहता हू ।" २६ जनवरी को देशव्यापी पैमाने पर 'स्वाधीनता दिवस' मनाने का आदेश देकर उन्होने आदोलन की दिशा मे पहला कदम उठाया। उस दिन देश के नगर-नगर और गाव-गाव मे लाखो लोगो ने झडा फहराया और स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ली कि "ब्रिटिश शासन मे रहना मनुष्य और भगवान दोनो के प्रति अपराध है" और काग्रेस द्वारा शुरू किये जानेवाले सविनय अवज्ञा और करबदी आदोलनो मे सम्मिलित होने के प्रण किये । स्वाधीनता-दिवस के समारोहो मे जनता का जोश और उत्साह उभरकर ऊपर आ गया । गाधीजी को विश्वास हो गया कि देश जन-आदोलन के लिए तैयार है। गाधीजी नमक-कानून[1] तोडकर (नमक-सत्याग्रह के द्वारा) सविनय अवज्ञा शुरू करना चाहते थे । नमक-कर वैसे अधिक तो नही था, परतु उसका सारा बोझ देश के गरीबो पर ही पडता था । लेकिन नमक राष्ट्र-व्यापी सघर्ष का रूप ले सकेगा या नही, इसमे गाधीजी के निकटतम साथियो को भी गहरा सदेह था । उन्हे नमक-सत्याग्रह का भविष्य बहुत उज्ज्वल नही दिखाई देता था, क्योकि एक तो समुद्री किनारो पर बनाये और खानो से निकाले जाने के कारण इसके उत्पादन का

---

[1] १८३६ में भारत सरकार ने एक नमक कमीशन बैठाकर भारत में अंग्रेजी नमक की बिक्री के खातिर भारतीय नमक पर कर लगाने का सुझाव दिया था । तभी से भारत मे नमक कर लगा और वसूल किया जाता रहा । अंग्रेजी नमक इंग्लैंड के चेशायर नामक स्थान से आता था । —अनुवादक

क्षेत्र सीमित था और दूसरे नमक बनानेवाले मजदूर इतने थोडे और राजनैतिक दृष्टि से इतने पिछडे हुए थे कि उनकी हडताल देशव्यापी आदोलन का रूप नही धारण कर सकती थी।[१]

गाधीजी ने घोषणा की कि अपने नेतृत्व मे सत्याग्रहियो का एक जत्था समुद्र-तट पर ले जाकर और नमक-कानून तोडकर सबसे पहले वह स्वय सविनय अवज्ञा करेगे। उन्होने वाइसराय को एक पत्र लिखकर अपनी पूरी योजना उन्हे बता दी। पत्र क्या, ब्रिटिश राज्य पर आरोपो का कच्चा चिट्ठा ही था और उसमे भारत को उसका हक देने का अनुरोध भी वाइसराय से किया गया था। गाधीजी ने लिखा था

"प्रिय मित्र, सविनय अवज्ञा शुरू करने से और जिस जोखिम को उठाने के लिए मै इतने सालो से सदा हिचकिचाता रहा हू उसे उठाने से पहले मुझे आपतक पहुचकर कोई रास्ता निकालने की कोशिश करने मे प्रसन्नता है। अहिसा पर मेरा व्यक्तिगत विश्वास एकदम स्पष्ट है। जान-बूझकर मै किसी भी प्राणी को दु ख नही पहुचा सकता, मनुष्यो को दु ख पहुचाने की तो बात ही नही—भले ही वे मेरा और मेरे स्वजनो का कितना ही अहित कर दे। इसलिए जहा मै ब्रिटिश राज्य को अभिशाप समझता हू, वहा एक भी अग्रेज-या भारत मे उसके किसी भी उचित हित को हानि नही पहुचाना चाहता।

"लेकिन मेरी बात का अर्थ गलत न समझा जाय। मै ब्रिटिश शासन को भारत के लिए अभिशाप जरूर समझता हू, लेकिन केवल इसी कारण अग्रेज मात्र को ससार की अन्य जाति से बुरा भी नही मानता। सौभाग्य से बहुत-से अग्रेज मेरे घनिष्ठ मित्र है। असल बात तो यह है कि अग्रेजी राज्य की ज्यादातर बुराइयो की जानकारी मुझे स्पष्टवादी और साहसी अग्रेजो की कलम से ही हुई है, जिन्होने सच्चाई को उसके वास्तविक रूप मे निडरतापूर्वक प्रकट किया है।

'अपने अनेक देशबधुओ की तरह मुझे भी यह आशा थी कि प्रस्तावित गोलमेज परिषद शायद समस्या को हल कर सके . लेकिन जब आपने स्पष्ट

१ कुछ इसीसे मिलते-जुलते सन्देह सरकारी कर्मचारियों के मन में भी थे, परन्तु कोई इस बात को न समझ सका कि गाधीजी का नमक-आदोलन भौतिक नही, नैतिक था।—अनुवादक

कह दिया कि आप या ब्रिटिश मंत्रि-मंडल पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना का समर्थन करने का आश्वासन नहीं दे सकते तो गोलमेज परिषद वह चीज नहीं दे सकती जिसके लिए शिक्षित भारतवासी सचेतन रूप से और आम जनता अचेतन भाव से छटपटा रही है।

"यदि भारतीय राष्ट्र को जीवित रहना है और यदि भारतवासियों को भूख से तड़प-तड़पकर शनैः-शनैः मिट नहीं जाना है तो कष्ट मिटाने का कोई-न-कोई उपाय तुरंत ढूंढना होगा। प्रस्तावित परिषद् इस संबंध में कुछ कर सकेगी, यह तो किसी तर्क से माना नहीं जा सकता। तर्क-वर्क से नहीं, बराबर की ताकत खड़ी करने से ही मामला हल हो सकेगा। ब्रिटेन अपनी पूरी ताकत लगाकर अपने व्यापार एवं हितों की रक्षा करेगा। इसलिए भारत को अगर मौत के चंगुल से छूटना है तो उतनी ही ताकत हासिल कर लेनी होगी।

"मैं जानता हूं कि अहिंसात्मक आंदोलन शुरू करने में जोखिम है। इसे ठीक ही पागलपन कहा जायगा। लेकिन सत्य की विजय बहुधा बड़ी-से-बड़ी जोखिमों को उठाये बिना नहीं हुई है। जिस राष्ट्र ने जान या अनजान में अपने से अधिक जनसंख्यावाले, अधिक प्राचीन और अपने समान सभ्य दूसरे राष्ट्र को शिकार बनाया है, उसको रास्ते पर लाने के लिए कोई भी जोखिम बड़ी नहीं।

"मैंने 'रास्ते पर लाने' के शब्दों का जान-बूझकर प्रयोग किया है। मेरी यह महत्वाकांक्षा है कि मैं अहिंसा के द्वारा ब्रिटिश जाति का हृदय पलट दूं और उसे भारत के प्रति किये गए उसके अन्याय का अनुभव करा दूं। मैं अंग्रेज-जाति को हानि नहीं पहुंचाना चाहता। मैं उनकी भी वैसी ही सेवा करना चाहता हूं जैसी अपने देशवासियों की। मेरा विश्वास है कि मैंने सदैव ऐसी सेवा की है। १९१९ तक मैं आंखें बंद करके उनकी सेवा करता रहा। अब मेरी आंखें खुलीं और मैंने असहयोग की आवाज बुलंद की। तब भी मेरा उद्देश्य उनकी सेवा ही था। जिस हथियार का उपयोग मैंने अपने प्रिय-से-प्रिय रिश्तेदार पर सफलता से किया वही मैंने सरकार के खिलाफ भी उठाया है। अगर यह सच है कि मैं भारतीयों के ही समान अंग्रेजों को भी चाहता हूं तो वह बात ज्यादा देर तक छिपी नहीं रहेगी। बरसों तक

मेरी परीक्षा लेने के बाद जिस तरह परिवारवालो ने मेरे प्रेम के दावे को स्वीकार कर लिया, उसी तरह अग्रेज-जाति भी उसे किसी दिन स्वीकार करेगी। मेरी आशाओ के अनुकूल अगर जनता ने मेरा साथ दिया तो या तो ब्रिटिश जाति पहले ही अपना कदम पीछे हटा लेगी, या जनता ऐसे-ऐसे कष्ट सहन करेगी, जिन्हे देखकर पत्थर का दिल भी पिघल जायगा।"[१]

वाइसराय ने इस पत्र का सक्षिप्त-सा उत्तर दिया। उन्होने इस बात पर खेद प्रकट किया कि "मि० गाधी जो कदम उठाने जा रहे है, उससे निश्चित रूप से कानून और सार्वजनिक शाति भग होगी।"

गाधीजी अपने नेतृत्व मे सत्याग्रहियो के एक जत्थे को अहमदाबाद से डाडी ले गये, जो पश्चिमी समुद्र-तट पर है। सत्याग्रहियो का चुनाव साबरमती के आश्रमवासियो मे से किया गया था। इन सत्याग्रहियो का "उत्साह और मनोबल चरम सीमा पर था।"[२] साबरमती का अब वही दर्जा था, जो दक्षिण अफ्रीका मे फिनिक्स-बस्ती और टाल्स्टाय-फार्म का रह चुका था। यह आश्रम स्वाधीनता-सग्राम के सैनिको के प्रशिक्षण और राजनैतिक हलचलो का केंद्र बन गया था। यहा राजनीति और आदोलन-सबधी कोई बात गुप्त नही रखी जाती थी। रिचार्ड ग्रेग ने अग्रेजो की मालिकी के एक अखबार के सवाददाता का किस्सा बयान किया है, जिसे 'दुश्मन की छावनी' के अदर की कार्रवाइयो के समाचार लाने के लिए अहमदाबाद भेजा था। गाधीजी ने उसे निकाल बाहर नही किया, आश्रम मे अतिथि की तरह रखा और वहा का राई-रत्ती हाल जानने की अनुमति दे दी।

११ मार्च की शाम को जो प्रार्थना-सभा हुई, उसमे लोगो की भीड उमड पडी थी। गाधीजी ने उसमे कहा था, "हमारे उद्देश्य मे न्याय का बल है, हमारे साधन पवित्र है और भगवान हमारे साथ है। सत्य पर अटल रहे तो सत्याग्रहियो की कभी हार नही हो सकती। कल जो सग्राम शुरू हो रहा है, मै उसके लिए प्रार्थना करता हू।" उस रात आश्रम मे अकेले

---

१ अग्रेजी जाति के प्रति अपने प्रेम और विश्वास को प्रकट करने के लिए गाधीजी ने यह पत्र रेजिनाल्ड रेनाल्ड नामक एक अग्रेज युवक के द्वारा वाइसराय को भेजा था।—अनुवादक

२ मीराबहन 'बापू के पत्र मीराबहन के नाम' (अग्रेजी), पृष्ठ १०१

गाधीजी को छोड और कोई नही सोया। सब जोश-खरोश से तैयारियो मे लगे रहे।

दूसरे दिन सवेरे साढे छ बजे २४१ मील लबा दाडी कूच शुरू हुआ। ७९ सत्याग्रहियो मे विद्वान और पडित, सपादक और लेखक, जुलाहे और अछूत सभी तरह के लोग थे। जत्थे के सबसे वयस्क सदस्य, उनके नेता गाधीजी, इकसठ वर्ष के थे और सबसे अल्पवयस्क सोलह बरस का एक लडका था। इस अवसर पर अहमदाबाद मे जितना बडा जलूस निकला, उतना पहले कभी नही निकला था। सारा शहर सडको पर उमड आया था और हर रास्ता तोरण और वदनवारो से सजाया गया था। इकसठ वर्ष के बूढे नेता जत्थे के आगे-आगे हाथ मे लबी लकडी लिये जवानो से भी तेज चाल से चल रहे थे। इतना चलने के बाद भी थकावट का कोई चिह्न नही था। हमेशा की तरह रोज चार बजे उठते, सवेरे की प्रार्थना करते, रास्ते के गावो मे भाषण देते, चरखा चलाते, अपने अखबारो के लिए लेख लिखते और विश्वव्यापी पत्र-व्यवहार के क्रम को भी उसी तरह बनाये हुए थे। प्रस्थान के समय गाधीजी ने यह ऐतिहासिक घोषणा की थी—"यदि स्वराज्य न मिला तो या तो रास्ते मे मर जाऊगा, या आश्रम के बाहर रहूगा। नमक-कर न उठा सका तो आश्रम लौटने का भी इरादा नही है।"

अपना भारतीय साम्राज्य छोडने को अग्रेज जरा भी तैयार न थे। भारत उपमत्री अर्ल रसल ने काग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता की माग पर यह टिप्पणी की थी—"भारतीय खुद भी इस बात को बहुत अच्छी तरह से जानते है कि पूर्ण स्वाधीनता की माग कितनी मूर्खतापूर्ण है। अभी तो औपनिवेशिक स्वराज्य ही सभव नही है और काफी समय तक सभव न होगा।"

काग्रेस के बुद्धि-जीवी वर्ग की भाति सरकार ने भी शुरू मे तो इस 'बचकाना राजनैतिक क्राति' की खिल्ली ही उडाई—कडाही मे समुद्र के पानी को उबालकर ये बादशाह सलामत से मुल्क और हुकूमत छीन लेगे! भारत-सरकार के अर्थ-विशेषज्ञो ने भी नमक-कानून के भग को कोई खास आर्थिक महत्व नही दिया। केद्रीय रेवेन्यू बोर्ड के सदस्य टाटेनहेम ने (नमक-कर की वसूली का काम माल-विभाग के ही जिम्मे ही था) नमक-सत्याग्रह को "मि० गाधी का शेखचिल्लीपन" बताया था। दो उच्च अधि-

कारियो की एक समिति ने फरवरी की शुरू तारीखो मे यह प्रतिवेदन किया कि नमक-करवदी आदोलन के लिए कोई वहुत उपयुक्त विषय नही है। ज्यादा-से-ज्यादा यही हो सकता है कि वहुत-सी जगह घटिया किस्म का नमक वनाया जाय और स्थानीय लोग उसका इस्तेमाल करे। इस तरह नमक वनाने मे नमक-कर से तिगुना खर्च वैठ जायगा। मतलव यह कि इस आदोलन से न तो सरकार की आय पर और न नमक के मूल्य पर ही कोई प्रभाव पडेगा।

मार्च के अतिम सप्ताह मे केद्रीय सरकार ने "पिछले अनुभवो के आधार पर" इस आदोलन का मुकावला करने के आदेश प्रातीय सरकारो को दिये और यह सलाह खासतौर पर दी कि सामूहिक गिरफ्तारिया की जाय, सत्याग्रहियों के साथ जोर आजमाई न हो, केवल नेताओ को गिरफ्तार किया जाय, जिससे आदोलन विशृखलित हो सके। अगर एक साथ वहुत-से सत्याग्रहियो को गिरफ्तार करना जरूरी ही हो जाय तो कम-से-कम वल-प्रयोग करना उचित होगा, क्योकि शात और अहिंसात्मक रहनेवालो पर वल-प्रयोग से सरकार जनता का सहयोग और सहानुभूति खो देगी। प्रातीय सरकारो को यह हिदायत भी दी गई थी कि जेलो मे भीड-भाड न होने दे और वच्चो एव महिलाओ का विशेष खयाल रखे। सरकार की हिदायते तो वहुत अच्छी थी, लेकिन इनपर अमल नही हुआ। आदोलन की तेजी के साथ-साथ सरकार का दमन भी तीव्र होता गया। वल्लभभाई पटेल को स्थानीय अधिकारियो ने, प्रातीय सरकार से सलाह-मशविरा किये विना ही, ७ अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया था। अप्रैल का महीना शुरू होते ही प० जवाहरलाल नेहरू इलाहावाद मे गिरफ्तार हो गये। गाधी-जी ने दाडी पहुचकर और नमक-कानून तोडकर राष्ट्र को जो सदेश दिया, उसमे उन्होने कहा था, "इस समय राष्ट्र की भारी प्रतिष्ठा सत्याग्रही के हाथ के मुट्ठी-भर नमक मे आ सिमटी है। मुट्ठी भले ही टूट जाय, पर नमक को वचाना होगा—वह सरकार के हाथ मे न पडने पाये।" कोई साठ हजार सत्याग्रही पकडकर जेलो मे वद कर दिये गए। नमक-कानून का भग करने के अपराध मे जिनको सजाए दी गई, उनमे राजाजी, प० मदन-मोहन मालवीय, जे० एम० सेन गुप्त, वी० जी० खेर, के० एम० मुनशी,

देवदास गाधी, महादेव देसाई और विट्ठलभाई पटेल आदि प्रमुख नेता भी थे। सपन्न और मध्यम-वर्ग की महिलाए शराब की दुकानो और विदेशी कपडे की दुकानो पर धरना दे रही थी।

कुछ हिंसात्मक कार्रवाइया भी हुई। उदाहरण के लिए चटगाव के शस्त्रागार पर आतकवादियो ने हमला कर दिया। लेकिन कुल मिलाकर आदोलन का स्वरूप अहिंसात्मक ही रहा। नमक और स्वराज्य के पारस्परिक सबधो का ठीक से न समझ पाने के कारण जिन लोगो ने नमक-सत्याग्रह का उपहास किया था, उन्हे अमल मे जनता के सुसगठित और व्यवस्थित आदोलन को चलाने की गाधीजी की सामर्थ्य का सही ज्ञान नही था। अत मे सरकार ने वही किया जिसे वह करना चाहती थी, परतु करते हुए डरती भी थी। उसने गाधीजी को गिरफ्तार करने का फैसला कर ही लिया।

१८२७ का पुराना-धुराना बम्बई रेगूलेशन रद्दी की टोकरी मे से खोज निकाला गया और उसके अतर्गत ५ मई, १९३० को, दाडी के पास के एक गाव कराडी मे, गाधीजी को गिरफ्तार कर बिना मुकदमा चलाये जेल मे बद कर दिया गया। दाडी के बाद 'अहिंसात्मक क्राति' का उनका दूसरा और पहले से कुछ अधिक उग्र मोर्चा धारासना के सरकारी नमक-डिपो पर कब्जा करने का था। लेकिन उसपर 'हमला' करने से पहले ही वह गिरफ्तार कर लिये गए। तब २१ मई को साबरमती-आश्रम के वयोवृद्ध इमाम साहब के नेतृत्व मे धारासना पर सत्याग्रह हुआ। नेता गिरफ्तार कर लिये गए और स्वयसेवको पर लाठी चार्ज किया गया। अमरीकी सवाददाता वेब मिलर ने 'न्यू फ्रीमैन' पत्र मे उस नृशस लाठी-चार्ज का आखोदेखा वर्णन इस तरह किया है—"अठारह वर्षो से मै दुनिया के बाईस देशो मे सवाददाता का कार्य कर रहा हू, लेकिन जैसा दहलानेवाला दृश्य मैंने धारासना मे देखा वैसा और कही देखने को नही मिला। कुछ दृश्य तो इतने लोमहर्षक और दर्दनाक थे कि मुझसे देखे तक न गये। स्वयसेवको का अनुशासन कमाल का था। गाधीजी की अहिसा को उन्होने अपने रोम-रोम मे बसा लिया था।"

इस बीच काग्रेस की महासमिति ने सविनय अवज्ञा के क्षेत्र को थोडा और विस्तारित कर दिया। नमक-सत्याग्रह के साथ-साथ उसमे जगल

सत्याग्रह, रैयतबाडी इलाको मे लगानबदी एव विदेशी कपडो, बैको, जहाजी और बीमा कपनियो के बहिष्कार को भी समाविष्ट कर लिया गया। वाइसराय ने कई 'आर्डिनेन्स' निकालकर अधिकारियो को दमन का खुला परवाना दे दिया, जिसका एकमात्र उद्देश्य काग्रेस को कुचलना या सरकारी भाषा मे कहे तो 'आपत्कालीन स्थिति का सामना' करना था।

गाधीजी की गिरफ्तारी से आदोलन धीमा नही पडा, उल्टे उसमे और तेजी आ गई। सरकारी प्रचार मे जरूर झुठलाया जाता रहा, लेकिन काग्रेस का जनता पर जो प्रभाव था, उससे भारत सरकार इनकार न कर सकी। ब्रेल्सफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'रिबेल इडिया' (विद्रोही भारत) मे, देश के विभिन्न भागो की और विशेपकर बबई की जनता पर काग्रेस का जो असर था उसके कई प्रमाण दिये है। सरकारी दस्तावेजो मे भी इसके कई प्रमाण मिलते है। गुप्तचर विभाग के निदेशक ने अगस्त १६३० मे अपनी बबई-यात्रा के सबध मे तत्कालीन गृह सदस्य (होम मेबर) को लिखा कि "काग्रेस को नगर का पूरा समर्थन प्राप्त है। इसके स्वयसेवको और धरना देनेवालो को नगर की जनता मुफ्त खाना खिलाती है। सारे व्यवसाय और व्यापारी इसके 'शिकजे' मे है। अपनी तबाही की परवा किये बिना बहुत-से व्यापारी आदोलन के साथ है और बराबर साथ देते रहेगे। सक्षेप मे यह कि नगर पूरी तरह काग्रेस के कब्जे मे है और वह जो चाहे कर सकती है।"

: २८

समझौता

पूना की यरवदा-जेल मे, जिसे वह यरवदा-मदिर कहते थे, गाधीजी एक तरह से आराम ही करते रहे। आश्रम के अपने भजन-प्रार्थना, चर्खा और स्वाध्याय के कार्यक्रम का वह यहा भी उसी तत्परता से पालन करते थे। देश की राजनैतिक स्थिति और अपने शुरू किये हुए सविनय अवज्ञा

आंदोलन की चिंता उन्होंने जेल में आते ही छोड़ दी थी। उन्होंने अपने जिम्मे का काम कर दिया था, अब जनता को अपनी जिम्मेदारी निभानी थी।

गांधीजी की गिरफ्तारी के एक सप्ताह बाद लार्ड इर्विन ने अपने और ब्रिटेन के प्रधान मंत्री के बीच हुए पत्र-व्यवहार को प्रकाशित कर दिया। उस पत्र-व्यवहार का आशय यह था कि सविनय अवज्ञा के बावजूद बादशाह सलामत की सरकार संवैधानिक सुधारों की अपनी नीति पर और लंदन में गोलमेज परिषद का अधिवेशन करने के अपने निर्णय पर दृढ़ है। वाइसराय ने आंदोलन को सख्ती से दबाने के आदेश दे दिये थे और जितनी सख्ती इस बार की जा रही थी उसने दमन के सारे पुराने रेकार्डों को तोड़ दिया था। लेकिन वास्तव में तो वाइसराय को इतनी सख्ती पसंद नहीं थी। उन्होंने विट्ठलभाई पटेल को एक पत्र में लिखा था—"आप तो मेरी इस उत्कट अभिलाषा से परिचित ही हैं कि भारत में फिर से शांति और सद्भावना का वातावरण पैदा हो सके।" इसलिए जब 'डेली हेरल्ड' के संवाददाता जार्ज स्लोकोंब और दोनों माडरेट नेता सप्रू और जयकर ने समझौते के प्रयत्न शुरू किये तो वाइसराय ने उन्हें बढ़ावा ही दिया।

सरकारी दमन के कारण उस समय भारत की जो स्थिति थी उसने जार्ज स्लोकोंब को इतनी पीड़ा पहुंचाई कि वह समझौते के प्रयत्नों में लग गये। सबसे पहले उन्होंने प० मोतीलाल नेहरू से भेंट की तो उनकी बातचीत में ऐसा आभास मिला कि कुछ शर्तों पर कांग्रेस सविनय अवज्ञा को वापस लेने पर राजी हो सकती है। लेकिन मोतीलालजी शीघ्र ही गिरफ्तार[1] कर लिये गए और उन्हें नैनी-जेल में प० जवाहरलाल नेहरू के पास भेज दिया गया, तब सप्रू और जयकर ने जेल में नेहरू पिता-पुत्र से समझाने की संभावना

---

[1] प० मोतीलाल नेहरू ३० जून, १९३० को गिरफ्तार किये गए। महासमिति उनके पहले गैर-कानूनी कर दी गई। दमन के ये हाल थे कि १ अप्रैल से ३१ मई, १९३० के बीच १८ शहरों में २१ बार गोलाबारी हुई, जिनमें १०३ मारे गए, ४२० घायल हुए और १० घायल बाद में मर गये। लाठी-चार्ज, सभाओं पर हमले, छापे, तलाशियां, अत्याचार, और प्रेसों पर ताले, गिरफ्तारियां आदि का तो कोई शुमार ही नहीं था। —अनुवादक

पर चर्चा करने के लिए भेट की। गाधीजी से सलाह किये बिना पिता-पुत्र दोनो ने अपनी ओर से कुछ कहने मे असमर्थता प्रकट कर दी तो उन्हे एक स्पैशल ट्रेन के द्वारा पूना ले जाया गया। वहा चर्चा के बाद यह नतीजा निकला कि काग्रेस और सरकार के वीच समभौते का कोई समान आधार है ही नही ।

ममभौते के प्रयत्नो पर काग्रेस की जो प्रतिक्रिया हुई उसमे यह वात सामने आ गई कि काग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच की खाई कितनी चौडी हो गई थी। इगलैंड मे विस्टन चर्चिल ने भारत को "वकीलो, राजनीतिज्ञो, हठधर्मियो और लोभी व्यापारियो के अल्पतत्र" के हवाले किये जाने के खिलाफ एक जिहाद ही शुरू कर दिया था। उनका कहना था कि "हमारा इरादा काफी लबे और अनिश्चित काल तक भारत पर हुकूमत करने का है और वहा के लोगो को यह बात साफ तौर पर मालूम हो जानी चाहिए कि हम राज्यभक्तो के सहयोग का स्वागत करते है, परन्तु अराजकता और राजद्रोह को कतई बर्दाश्त नही किया जायगा।" रैम्जे मैक्डोनल्ड की मजदूर सरकार लिबरलो के समर्थन पर ही टिकी हुई थी। अगर वह तैयार भी हो जाती तो लिबरलो के बहुमत के कारण भारत के बारे मे कोई क्रातिकारी कदम नही उठा सकती थी। भारत मे लार्ड इर्विन के सलाहकारी मडल को पूरा विश्वास था कि गाधी के विद्रोह को कुचल दिया जायगा और माडरेटो एव मुस्लिमो की सहायता से शासन बदस्तूर चलता रहेगा। वाइसराय की कार्यकारिणी कौंसिल के अधिकाश सदस्य और सरकारी अमले के सभी उच्च अधिकारी दमन-चक्र को और भी तेज करने के पक्ष मे थे।

साथ ही सवैधानिक सुधारो का कारवॉ भी चलता रहा। गर्मियो मे साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। बहुत विस्तार से उसमे भारत की वैधानिक समस्या का सर्वेक्षण किया गया था और एक-एक करके छोटी-वडी उन सारी कठिनाइयो को गिना दिया गया, जो कमीशन की राय मे सवैधानिक सुधारो के मार्ग की वाधाए थी। यह रिपोर्ट इतनी निराशाजनक थी कि समान्यत सरकार के समर्थक और उत्साही नरमदली नेता भी इसका स्वागत न कर सके। जले पर नमक छिडकने के लिए १६३० (११ नवबर)

मे लदन मे पहली गोलमेज परिषद्[1] शुरू हुई। इसमे कांग्रेस का एक भी प्रतिनिधि नहीं था। कुछ भारतीय प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के प्रति समझौते का रुख अपनाने का अनुरोध किया। वे देश को बवडर की हालत मे छोडकर गये थे और परिषद् से कुछ व्यवहार्य परिणामो को लेकर लौटना चाहते थे। रेम्जे मेक्डोनल्ड ने १६ जनवरी, १६३१ को अपने विदाई-भाषण मे यह आशा प्रकट की कि कांग्रेस दूसरी गोलमेज परिषद् मे तो अवश्य भाग लेगी। इसके कुछ ही दिन पहले लार्ड इर्विन ने केंद्रीय विधि-परिषद मे भाषण करते हुए कहा था कि "अध्यात्म के पुजारी गाधीजी को अपने प्रिय भारत के लिए किसी भी बलिदान को बड़ा नहीं समझना चाहिए।" लार्ड इर्विन ने इलाहाबाद मे कांग्रेसी नेताओ की जो बैठक हो रही थी उसे रोकने की कोशिश नही की। उन्होने गाधीजी और कांग्रेस की कार्यसमिति के सदस्यो को स्वाधीनता-दिवस के ठीक एक दिन पहले २५ जनवरी, १६३१ को रिहा कर दिया। नेताओ को रिहा करते समय उन्होने जो वक्तव्य दिया, उसमे भी समझौते का सकेत मिलता था।

लेकिन कार्यसमिति के सदस्यो की बिना शर्त रिहाई से ही सरकार और कांग्रेस के बीच की खाई पट नही गई। कार्यसमिति के सदस्यो की बैठक, रिहाई के बाद, इलाहाबाद मे हुई, जहा प० मोतीलाल नेहरू मृत्यु-शैया पर पड़े थे। कांग्रेस अब भी सविनय अवज्ञा को बद करने के पक्ष मे नही थी, लेकिन सप्रू और जयकर से, जो पहली गोलमेज परिषद मे भाग लेकर देश लौट रहे थे और कांग्रेसी नेताओ को परिषद की कार्रवाई से अवगत कराना चाहते थे, एक तार पाकर कार्यसमिति ने अपने इस निर्णय की सार्वजनिक घोषणा नही की। परिषद के निर्णयो से गाधीजी को जरा भी सताप नही हुआ और न उन्हे सरकार से समझौते की कोई सभावना ही दिखाई दी। लेकिन फिर भी उन्होने लार्ड इर्विन को पत्र लिखकर मुलाकात का समय मागा। गाधीजी का कहना था कि वाइसराय ने कार्यसमिति के सदस्यो को छोडकर सदभावना का परिचय दिया है तो एक सत्याग्रही के नाते जाकर उन्हे धन्यवाद देना उनका भी कर्तव्य हो जाता है।

---

[1] ८६ प्रतिनिधियों में १६ रियासतों से गये थे, ५७ ब्रिटिश भारत और १३ इंग्लैंड के भिन्न भिन्न दलों के मुखिया थे।—अनुवादक

१७ फरवरी, १९३१ को तीसरे पहर से गाधी इर्विन वार्ता शुरू हुई। कुल आठ बठके हुई, जिनमे चौबीस घटे का समय लगा। इस बीच समझौते का पलडा आशा और निराशा के बीच झूलता रहा। अत मे ४ मार्च को समझौता हो ही गया। दिल्ली का वह समझौता इतिहास मे गाधी-इर्विन-समझौते (पेक्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। समझौते का मुख्य आधार यह था कि काग्रेस सविनय अवज्ञा बद कर देगी और सरकार तमाम दमनकारी आर्डिनेसो को वापस लेकर सभी सत्याग्रही बदियो को रिहा कर देगी। इस समझौते मे आतकवादी और हिंसात्मक कार्रवाइयो के लिए नजरबद या सजा भुगत रहे बदियो की रिहाई का कोई उल्लेख नही था और न गढवाली सैनिको की रिहाई का ही, जिन्होने पेशावर मे निहत्थे सत्याग्रहियो पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था। आदोलन के सिलसिले मे नीलाम की गई जमीनो को उनके वास्तविक स्वामियो को लौटाने और नौकरी से बर्खास्त किये गए कर्मचारियो को पुन नौकरी पर बहाल करने की बात भी इस समझौते मे नही थी। समुद्र-तट पर रहनेवाले गरीब लोगो को नमक बनाने की रियायत अवश्य दी गई थी और विदेशी कपडो पर धरना देने के अधिकार को भी मान लिया गया था। पुलिस ज्यादतियो की जाच के लिए सरकार किसी भी तरह राजी न हुई, दोनो पक्ष इस मुद्दे पर अड गए थे और लगता था कि समझौता-वार्ता भग ही हो जायगी। लेकिन वाइसराय ने बडी चतुराई से काम लिया। उन्होने गाधीजी से कहा कि जाच की माग करने का आपको पूरा अधिकार है, लेकिन अब गड मुर्दे उखाडने से क्या लाभ होगा? केवल आपसी कटुता ही बढेगी। तो फिर गाधीजी ने इस बात पर ज्यादा जोर नही दिया।

विधान-सबधी विषयो मे "भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्पसख्यको का प्रश्न और वित्त आदि मामलो मे प्रतिबध या सरक्षण" को स्वीकार कर लिया गया था। समझौते की इस धारा से प० जवाहरलाल नेहरू को 'भारी आघात' पहुचा था और यह धारा काग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा के प्रतिकूल भी थी। समझौते मे औपनिवेशिक स्वराज्य का भी कोई आश्वासन नही था। १९३० के अगस्त महीने मे सप्रू और जयकर के समझौता-प्रयत्नो के समय काग्रेस ने जो शर्ते

रखी थी, गांधी-इर्विन-समझौते में उनमें भी बहुत कम को स्वीकार किया गया था।

एलन कैंपबेल जान्सन ने ठीक ही लिखा है कि दिल्ली-समझौते ने सिर्फ गांधीजी के आंसू पोंछ दिये और इर्विन केवल इतना ही झुके कि समझौता-वार्ता के लिए राजी हो गये। भारतीय नेताओं में लार्ड इर्विन का सम्मान घटना-बढ़ना रहा। गांधी-इर्विन-समझौते के समय उनका सम्मान बहुत बढ़ गया था, लेकिन एक ही साल बाद जब समझौता पूरी तरह भंग हो गया, कांग्रेस विरोध करने लगी और जब वह गैर-कानूनी कर दी गई तो उनका सम्मान भी बहुत घट गया। आम कांग्रेस-जनों की यह राय थी कि लार्ड-इर्विन ने गांधीजी को वाइसराय-भवन की भूल-भुलैया में फंसा लिया और समझौते को उन्होंने वाइसराय की निजी कपट-चाल बताया। जुलाई, १९३० में जब गांधीजी को जेल में एक सत्याग्रही बंदी ने लार्ड इर्विन के बारे में बी० जी० हार्नीमैन की यह राय पढ़कर सुनाई कि वह 'कथनी-करनी के अपने अंतर और दोरुखी नीति को सद्भावनाओं के पाखंड एवं ईमानदारी के आडंबर में लपेटे रहनेवाले चुस्त मौकापरस्त" थे तो गांधीजी ने कहा था कि इस वर्णन में वाइसराय के साथ न्याय नहीं किया गया। वह ब्रिटिश साम्राज्य के भक्त थे, परन्तु भारत के शुभचिंतक भी थे। लार्ड इर्विन की ईमानदारी में गांधीजी का यह विश्वास ही था, जिसके कारण समझौता-वार्ता में वह वाइसराय की बहुत-सी बातों को मानने के लिए राजी हो गये थे। वह लार्ड इर्विन को अपने ही जैसा धर्मात्मा समझते थे। जब समझौता-चर्चा चल रही थी तो श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गांधीजी और वाइसराय के लिए मजाक में 'दो महात्मा' शब्दों का प्रयोग किया था, जो एक तरह से ठीक ही था, क्योंकि दोनों ही धार्मिक प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति थे।

जहांतक गांधीजी का प्रश्न है, वह तो इस समझौते को कांग्रेस और सरकार के पारस्परिक संबंधों में एक नये अध्याय का आरंभ ही मानते थे। इसी भावना से प्रेरित उन्होंने दिल्ली में ६ मार्च, १९३१ को अपने मेजबान डॉ० असारी के घर से वाइसराय के निजी सचिव को लिखा था—"कार्य-समिति के द्वारा कांग्रेस के लिए निर्धारित शर्तों का शत-प्रतिशत पालन उसके लिए गौरव की बात होगी, इसलिए हमारी कोई भी अनियमितता

आपके ध्यान मे आये तो तार के द्वारा मेरा ध्यान आकर्षित कर समझौते का पालन करने मे मेरी सहायता करे। मेरी तो परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि समझौते के निमित्त आरभ होनेवाली यह मैत्री चिरस्थायी हो।"

यह भी कुछ कम आश्चर्य की बात नही है कि सरकार के किसी निश्चित आश्वासन के बिना ही (जबकि दिसबर १९२९ मे उन्होने और प०मोतीलाल नेहरू ने उसपर इतना अधिक जोर दिया) गाधीजी ने जिन कारणो से दिल्ली-समझौते को स्वीकार किया था, उन्हे समझौते की विभिन्न धाराओ मे खोजना उचित न होगा। सत्याग्रह की नीति के प्रकाश मे ही उन कारणो को ठीक से समझा जा सकता है। इस सबध मे गाधीजी की मन स्थिति का परिचय कराची-काग्रेस मे दिये गए उनके भाषण से चलता है

"मै अकसर सोचा करता हू कि जब हमारी माग और परिषद् मे हमे जो-कुछ दिया जा रहा है उसमे इतना अधिक अतर है, तो हमारे गोलमेज परिषद् मे जाने से क्या लाभ होगा। लेकिन फिर भी एक सत्याग्रही के नाते मैंने उसमे जाने का फैसला किया। एक वक्त आता है जब सत्याग्रही अपने विरोधी से समझौते की चर्चा करने से इनकार नही कर सकता। उसका उद्देश्य तो अपने विरोधी को प्रेम से जीतना है। हमारे लिए ऐसा वक्त उस समय आ गया जब प्रधान मत्री की घोषणा के बाद काग्रेस की कार्यसमिति को रिहा कर दिया गया। वाइसराय ने भी हमसे अनुरोध किया कि हम लडाई का रास्ता छोडकर उन्हे बतायें कि हम क्या चाहते है।"

इस सुझाव पर कि जब काग्रेस अभी एक साल और सरकार से लड सकती है तो समझौते की क्या जरूरत है, गाधीजी ने जवाब दिया था—
"यो तो हममे बीस बरस तक लडने की ताकत हो सकती है और एक सच्चा सत्याग्रही तो, चाहे और सब हथियार डाल दे, अकेला ही अत तक लडता रहता है, लेकिन हमने समझौता इसलिए नही किया कि हम कमजोर हो गये थे, बल्कि इसलिए किया कि वह जरूरी हो गया था। लडने की ताकत है, इसलिए लडते रहनेवाला सत्याग्रही नही, अहकारी और भगवान का गुनहगार होता है।"[1]

---

[1] तेंदुलकर 'महात्मा', जिल्द ३, पृष्ठ १०९

उनकी नीति के माध्यम से ही समझना होगा। सत्याग्रह-आदोलन के लिए सामान्यत 'सघर्ष', 'विद्रोह' और 'अहिसात्मक युद्ध' आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता है, लेकिन इन प्रचलित शब्दो की सहायता से उनकी सही व्याख्या नही हो पाती। ये शब्द उस आदोलन के नकारात्मक पक्ष— विरोध और द्वद्व के भाव को आवश्यकता से अधिक उभार देते है, जबकि सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी का नैतिक अथवा शारीरिक विनाश नही, उसके हाथो कष्ट-सहन करके उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का प्रवतन करना है, जो उभय पक्ष के मन-प्राणो का सम्मिलन सभव कर दे। इसलिए ऐसी लडाई मे विरोधी से समझौता न तो अधर्म है और अपनो से विश्वासघात ही, उलटे वह एक स्वाभाविक और आवश्यक कदम है, जिसे उपयुक्त समय पर ही उठाना होता है और अगर बाद मे यह पता चले कि समझौता उपयुक्त समय से पहले हुआ एव विरोधी पक्ष को अपने कृत्य पर कोई पश्चात्ताप नही तो सत्याग्रही के सामने अहिसात्मक सघर्ष पुन प्रारभ करने का मार्ग खुला ही हुआ है। यह सच है कि देश की राष्ट्रीय भावना को इच्छानुसार उभारा नही जा सकता, लेकिन गाधीजी स्वतत्रता-प्राप्ति के लिए देश-व्यापी उत्साह की चलायमान लहर पर जरा भी निर्भर नही करते थे। उनका दृढ विश्वास था कि जब देश स्वाधीनता के योग्य हो जायगा तो कोई भी शक्ति उसे पराधीन नही रख सकेगी।

मार्च १९३१ मे काग्रेस के कराची-अधिवेशन ने गाधी-इर्विन-समझौते पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हुए उसकी जो व्याख्या की वह समझौते की धाराओ की अपेक्षा काग्रेस के उद्देश्यो के अधिक निकट और मेल खानेवाली थी।

अप्रैल मे गाधीजी बबई मे ही थे और वही से उन्होने लार्ड इर्विन को (१९ अप्रैल को) विदाई दी। नये वाइसराय लार्ड विलिगडन बबई पहुच चुके थे, लेकिन उन्होने गाधीजी को मिलने के लिए नही बुलाया और प्रातीय राजधानिया दिल्ली के घुटे हुए खुर्राट नौकरशाहो को इससे बडी खुशी हुई। गाधी-इर्विन-समझौते को उन्हे कडवी घूट की तरह निगलना पडा था। अब उनके मन का वाइसराय आया था। अभी समझौते की स्याही भी

नहीं सूखने पाई थी कि रगड़-झगड़ शुरू भी हो गई। गांधीजी को ९ जुलाई, १९३१ के 'यंग इंडिया' में 'चकनाचूर ?' शीर्षक से एक अग्रलेख लिखकर सरकार द्वारा समझौता-भंग की घटनाओं पर उदाहरणसहित प्रकाश डालने को बाध्य होना पड़ा। सरकार ने भी कांग्रेस पर समझौते की मन्शा के प्रतिकूल आचरण करने का आरोप लगाया। इस तरह दोनों ही पक्ष एक-दूसरे पर समझौते को भंग करने का आरोप लगाते रहे।

फिर चर्चाओं का दौर शुरू हुआ और और काफी आरोपों-प्रत्यारोपों के बाद किसी तरह समझौता हो सका। यह तय पाया गया कि कांग्रेस गोल-मेज परिषद् में भाग लेगी और उसके एकमात्र प्रतिनिधि गांधीजी होंगे। गांधीजी एक स्पेशल ट्रेन द्वारा शिमला से कालका उस गाड़ी को पकड़ने के लिए आये, जो उन्हें २९ अगस्त को रवाना होनेवाले राजपूताना नामक जहाज पर सवार करा सके। उन्हें समय पर पहुंचाने के लिए रास्ते में और सब गाड़ियां रोक दी गई थीं।[1]

---

[1] यह उल्लेखनीय है कि ५ मार्च, १९३१ को गांधी-इर्विन-समझौते पर हस्ताक्षर हुए और २३ मार्च, १९३१ को सायंकाल ७॥ बजे अमरशहीद भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को जेल में फांसी दे दी गई। उनके शवों को सरकार ने अन्त्येष्टि के लिए भी नहीं दिया। गांधीजी ने उनकी फांसी की सजा को आजीवन कारावास में बदलवाने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन लार्ड इर्विन टस से-मस न हुए और लार्ड विलिंगटन तो मानने ही क्यों लगे थे। इन फांसियों की देश-भर में गहरी प्रतिक्रिया हुई। हड़तालों और नवयुवकों की बेचैनी को दबाने के लिए सरकार को कई शहरों में सेनाएं घुमानी पड़ीं। २४ मार्च को कानपुर की हड़ताल ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया, जिसमें गणेशशंकर 'विद्यार्थी' कुर्बान हो गए। यह भी उल्लेखनीय है कि कराची कांग्रेस में मौलिक अधिकारों सम्बन्धी प्रस्ताव पहले-पहल स्वीकार किया गया। उस प्रस्ताव में समाजवाद के सिद्धांतों की झलक पाई जाती है और कह सकते हैं कि महात्माजी के गांधीवाद का नेहरूजी के समाजवाद से समझौता उसी अधिवेशन में प्रारंभ हुआ था।

: २९ :

गोलमेज परिषद्

महादेव देसाई ने लिखा है कि "राजपूताना जहाज के सबसे अच्छे यात्री का चुनाव किया जाता तो शायद गाधीजी ही सर्वप्रथम आते।" जहाज के सबसे निचले, यानी तीसरे दर्जे मे यात्रा कर रहे थे। वह सारी रात और दिन का अधिकाश समय डेक पर ही बिताते थे। सोने-जागने एव प्रार्थना, कताई और स्वाध्याय के आश्रम-जीवन के अपने क्रम को उन्होने यहा भी खडित नही होने दिया था। स्वदेश लोटनेवाले अग्रेज परिवारो के बच्चे उनसे बहुत हिल गये थे—वे बडे कुतूहल मे उनका चरखा चलाना देखा करते, सुबह-शाम केबिन मे घुसते तो अगूर और खजूर की प्रसादी पाकर निहाल हो जाते थे। अदन के प्रवासी भारतीयो ने उन्हे एक मानपत्र[1] भेट किया। मिस्र के जगलूलपाशा की पत्नी और वहा की वफ्द पार्टी ने भी उन्हे अपनी शुभ कामनाए भेजी।[2] मार्सेलीज मे महान फ्रासिसी साहित्यकार रोमा रोला की बहन मदलेन रोला उनका स्वागत करने और मिलने आई। फ्रासीसी विद्यार्थियो ने भी 'भारत के आध्यात्मिक राजदूत' की पदवी से विभूषित कर बडे उत्साह से उनका स्वागत किया।

१२ सितबर, १९३१ को गाधीजी लदन पहुचे। कुमारी म्यूरियल लीस्टर के निमत्रण को स्वीकार कर वह लन्दन की मजदूर बस्ती ईस्ट एड के किंग्सले हॉल मे ठहरे, जिससे उन गरीबो की सगति मे रह सके, जिनकी सेवा के लिए उन्होने अपना जीवन समर्पित किया था, जब कुछ मित्रो ने आपत्ति की कि ईस्ट एड मे रहने से परिषद् के दूसरे प्रतिनिधियो, साथियो और सहयोगियो को असुविधा होगी, तो ८८, नाइट्स ब्रिज मे अपना एक कार्यालय खोलने को गाधीजी राजी हो गये। लेकिन रोज रात मे सोने के लिए

---

[1] ३२८ गिनी की एक थैली भी भेट की थी।

[2] मिस्री शिष्टमडल पोर्ट सईद पर मिलने के लिए आया था, पर उसे इजाजत नही दी गई। काहिरा में नहस पाशा के एक प्रतिनिधि को बडी मुश्किलों के बाद भेट की इजाजत मिली। मिस्र के प्रवासी भारतीयों का भी एक शिष्टमडल गाधीजी से काहिरा मे मिला था।—अनुवादक

लौट आया करते थे। कभी-कभी तो परिषद् की बैठकों और समितियों मे इतनी देर हो जाती कि आधी रात के बाद लौट पाते थे। लेकिन सोने मे भले ही देर हो जाय, प्रार्थना के लिए सवेरे ठीक चार बजे जरूर उठ जाते थे। प्रात भ्रमण वह ईस्ट एड की सकरी गलियो मे करते। अक्सर अपने पडोसियो से मिलने उनके घर भी चले जाते और उस इलाके के बच्चे तो सब उनके दोस्त बन गये थे। गाधीजी का कहना था कि "परिषद् का असली काम तो यही है, जो मैं कह रहा हू—इग्लैड की जनता से मिलना और उसे जानना।"

गोलमेज परिषद् मे काग्रेस की ओर से गाधीजी ही एकमात्र प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश समाचार-पत्रो और राजनीतिज्ञो का कहना था कि गाधीजी महान व्यक्ति हो सकते है, लेकिन भारत के एकमात्र प्रतिनिधि नही है और न काग्रेस ही भारत की एकमात्र सस्था, क्योकि उस परिषद् मे भारत की ओर से अनेक दल और सस्थाए एव कई प्रतिनिधि भाग ले रहे थे। वे सब सरकार द्वारा मनोनीत थे। उनमे से कुछ तो बहुत ही कामिल आदमी थे। अधिकाश राजे-रजवाडो, ठाकुरो-जमीदारो, पदवीधारियो, साम्प्रदायिक दलो के नेताओ और निहित स्वार्थवालो मे से छाट-छाटकर ऐसे आदमियो को रखा गया था, जिन्हे राजनैतिक शतरज मे मुहरो की तरह इस्तेमाल किया जा सके, जो सरकार की जी-हुजूरी करे एव नौकरियो और कौसिलो मे स्थान पाने के लिए अपने सही-गलत दावो पर अड जाय।

वास्तव मे ब्रिटिश सरकार चाहती भी यही थी। वह समस्या के सही रूप से प्रतिनिधियो का ध्यान बटाकर उन्हे छोटी-छोटी बातो मे उलझा देना चाहती थी। कुछ तो अपनी हा-मे-हा मिलानेवाले प्रतिनिधियो के बहुमत और कुछ परिषद पर अपने पूरे नियत्रण के कारण ब्रिटिश सरकार इसमे पूर्णत सफल भी हुई। घुमा-फिराकर सारी बहस साप्रदायिक सवाल पर केन्द्रित कर दी जाती थी। गाधीजी सरकार की इस चाल को तुरन्त समझ गये। उन्होने असदिग्ध भाषा मे यह कहते हुए स्थिति को बिल्कुल साफ कर दिया कि विभिन्न जातियो को अपने सारे जोर के साथ अपनी-अपनी माग पर (साप्रदायिक प्रश्न पर) जोर देने के लिए उत्साहित किया गया है और एक तरह से यह शर्त लगा दी गई है कि सवैधानिक प्रगति से

पहले साप्रदायिक समस्या हल हो ही जानी चाहिए। उन्होने पूछा कि "क्या प्रतिनिधियो को अपने घरो से छ हजार मील केवल साम्प्रदायिक प्रश्न को हल करने के ही लिए बुलाया गया है? हमे लदन इसलिए बुलाया गया है कि भारत की स्वतत्रता का सच्चा और सम्मानजनक ढाचा तैयार कर सके। लेकिन यहा तो समस्या को बिलकुल उलटे रूप मे पेश किया जा रहा है। रोटी कितनी बडी है, यह बताये बिना ही उसके टुकडे करने को हमे कहा जा रहा है। जो हमे मिलनेवाला है वह साफ-साफ बता दीजिये तो उसीके आधार पर मैं परिषद के प्रतिनिधियो की एक राय बनाने की कोशिश करू। कम-से-कम मै उन्हे यह तो कह सकू कि आप एक कीमती चीज के टुकड-टुकडे किये दे रहे है।"

गाधीजी इग्लड और भारत के बीच सम्मानजनक और बराबरी की भागीदारी चाहते थे, जो ताकत के जोर पर टिकी हुई न हो, बल्कि प्रेम की रेशमी डोर मे बधी हो। उन्होने कहा कि काग्रेस ने फेडरेशन (सघ) के सिद्धात को स्वीकार कर लिया है और इस सिद्धात को भी कि 'सरक्षण' होना चाहिए, लेकिन सरक्षण का सिद्धात इस तरह लागू किया जाय, जो भारत के हित मे हो, इस तरह नही कि स्वराज्य एक मजाक होकर रह जाय। जितने सरक्षण सुझाये गए थे, यदि उन सबको नये विधान मे शामिल कर दिया जाता तो गाधीजी का कहना था कि भारत को मिलनेवाला उत्तरदायी शासन "जेल की कोठरियो मे बद कैदियो का उत्तरदायी शासन हो जाता। जेल की कोठरी का बाहर से ताला लग जाने के बाद अदर के कैदियो को भी तो पूरी आजादी होती है।" उन्होने यह स्वीकार किया कि अग्रेज-जाति शासन, व्यवस्था और सगठन की कला मे ज्यादा पटु है, परतु भारतीय अपने देश को ज्यादा अच्छी तरह जानते है। यूरोप के व्यावसायिक हितो को विशेष सुविधाए देने का उन्होने विरोध किया, लेकिन साथ ही यह आश्वासन भी दिया कि स्वतन्त्र भारत मे उनके साथ किसी तरह का भेद-भाव नही किया जायगा। उन्होने वयस्क मताधिकार, एक सदनवाली विधि-परिषद् और परोक्ष निर्वाचन का पक्षपोषण किया। उनका तो यहातक खयाल था कि भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भी सभवत कुछ समय तक ब्रिटिश फौजो को वहा रखना पडे, क्योकि

भारतीयो को सुरक्षा के रहस्य अग्रजो से ही सीखने होगे। 'हमारे पख आप लोगो ने काट दिये हे, इसलिए हमे उडने के लिए पख देना भी आपका ही कर्त्तव्य हो जाता है।"

लेकिन गाधीजी की कोई भी दलील वहा काम नही आई। उस समय इग्लैंड आर्थिक सकट के दौर से गुजर रहा था और वहा की सरकार मे भी हाल ही मे परिवर्तन हुआ था। नई सरकार मे कजरवेटिव दल का बहुमत था। इग्लैंड की जनता अपनी ही समस्याओ मे उलझी हुई थी। उनके लिए अपने आर्थिक सकट का मसला भारत के सविधान से ज्यादा महत्वपूर्ण और जरूरी था। फिर ब्रिटिश सरकार की नीति मे भी कुछ परिवर्तन तो हो ही गया था। नये उपनिवेश-मत्री सर सेम्युअल होर ने गाधीजी से साफ शब्दो मे कह दिया कि वह भारतीयो को स्वशासन के जरा भी योग्य नही समझते। इधर गोलमेज परिषद मे भेदनीति से काम लिया ही जा रहा था। अपने-अपने सप्रदायो की मागो को लेकर भारतीय प्रतिनिधि सौदेबाजिया कर रहे थे। उनकी इन सौदेबाजियो को एक ओर तो भारतीय निहित स्वार्थ बढावा दे रहे थे और दूसरी ओर अग्रेज कूटनीतिज्ञ दुनिया को अगुली उठा-उठाकर यह दिखला रहे थे कि भारतीयो मे ही एकता नही हे तो हम उन्हे स्वराज्य कैसे दे दे ! गाधीजी मुसलमानो और अन्य अल्पसख्यको के उचित सदेहो को निर्मूल करने के लिए इस शर्त पर कि यदि वे भारतीय स्वाधीनता की माग पर एक हो जाय तो 'ब्लैंक चेक' तक देने को तैयार थे। भारतीय प्रतिनिधियो ने गाधीजी की इस उदारता को ठुकरा दिया और मुस्लिम नेता तो उस परिषद मे बुलाये ही नही गये थे। अत मे गाधीजी को यह स्वीकार करना पडा कि ब्रिटिश सरकार ने उनका (गाधीजी) और काग्रेस का विरोध करने के लिए जितने तत्त्व गोलमेज परिषद मे इकट्ठा कर दिये थे उनकी सही ताकत को आकने मे उनसे भूल हुई थी। इसलिए जब ब्रिटिश प्रधान मत्री रैम्जे मैक्डोनल्ड ने यह कहकर गोलमेज परिषद को समाप्त कर दिया कि साप्रदायिक समस्या के हल के लिए एक समिति नियुक्त की जायगी, जो भारत जाकर इस प्रश्न का सर्वसम्मत हल खोज निकालेगी तो गाधीजी ने छुटकारे की सास ली।

लदन के ईस्ट एण्ड के गरीबो मे और खासतौर पर उनके बच्चो मे

'गाधी चाचा' बडे ही लोकप्रिय हो गये थे। बच्चे उनसे तरह-तरह के और कई बार तो बडे बेढब सवाल पूछ बैठते थे। गाधीजी सभी का सतोषजनक उत्तर देने का प्रयत्न करते। वह उन्हे अपने बचपन की कहानिया सुनाते और अपने ईस्ट एड मे ठहरने और सिर्फ लुगी-चादर मे रहने का कारण भी समझाते थे। वह उन्हे हमेशा यही उपदेश देते कि बुराई का जवाब भलाई मे देना चाहिए। गाधीजी के इस उपदेश के कारण एक चार बरस की लडकी का बाप खासी मुसीबत मे पड गया और उसे गाधीजी के पास अपनी शिकायत लेकर आना पडा था। गाधीजी द्वारा पूछे जाने पर उसने बताया, "मेरी नन्ही जेन रोज मुझे मुह पर मारकर जगाती है और कहती है, 'अब तुम मत मारना, क्योकि गाधीजी कहते हैं कि हमे बदले मे मारना नही चाहिए।'" २ अक्तूबर को उनकी वर्षगाठ के दिन बच्चो ने उन्हे ऊन के बने हुए दो कुत्ते, जन्मदिवस के समारोह पर जलाई जानेवाली तीन गुलाबी मोमबत्तिया, टीन की एक तश्तरी, एक नीली पेन्सिल और मुरब्बा भेट किया। गाधीजी ने भेट मे मिली इन वस्तुओ को बहुत सभालकर रखा और अपने साथ भारत ले आये। महादेव देसाई ने गाधीजी के प्रति ब्रिटिश बच्चो के प्रेम का वर्णन करते हुए लिखा है—"इग्लैड मे हजारो बच्चो ने गाधीजी को देखा होगा और हजारो उनसे मिलने आये होगे। क्या पता, शायद अग्रेजो की इसी पीढी से निपटना पडे ?"

गाधीजी की इस इग्लेड-यात्रा की सबसे सुखद घटना थी लकाशायर के सूती मिल-मजदूरो से उनकी भेट। काग्रेस के विदेशी वस्त्र-बहिष्कार आदोलन की सीधी चोट इन लोगो पर ही पडी थी और कई लाख बेकार हो गये थे, लेकिन किसीने भी गाधीजी के प्रति क्रोध, उत्तेजना या घृणा का प्रदर्शन नही किया। सभी मजदूर उनसे बडे प्रेम और विनम्रता से मिले। गाधीजी ने भी बडे ध्यान से उनकी बाते सुनी और बेकार हो जानेवालो के कष्टो के प्रति अपनी गहन सहानुभूति व्यक्त की। जब गाधीजी ने उनसे कहा कि "आपके यहा तीस लाख बेकार है, लेकिन हमारे यहा साल मे छ महीने तीस करोड लोग बेकार रहते है, आप लोगो को औसत सत्तर शिलिंग बेकारी-भत्ता मिलता है, हमारी औसत मासिक आमदनी सिर्फ साढे सात शिलिंग है" तो भारत मे विदेशी वस्त्रो के बहिष्कार की पृष्ठ-

भूमि और आवश्यकता उन मजदूरो की समझ मे बहुत अच्छी तरह से आ गई।

कुछ अग्रेज मित्रो का ऐसा खयाल था कि ईस्ट एड मे ठहरने के कारण इग्लड के उच्च और मध्यमवर्ग की गाधीजी ने उपेक्षा करदी थी, उनमे मिलना इसलिए भी जरूरी था, क्योकि भारत के राजनैतिक भविष्य का निर्णय करनेवाली वास्तविक शक्ति भी वे ही लोग थे। इसलिए उन्होने ब्रिटेन के राजनैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक क्षेत्र के श्रेष्ठी समुदाय से गाधीजी को मिलाने की एक योजना बनाई। वह जार्ज बर्नार्ड शा से मिले, जिन्होने गाधीजी को 'समानशील व्यक्ति' पाया। गाधीजी ने पार्लमिट के सदस्यो के समक्ष भाषण भी दिया। वह ईसाई सप्रदाय के धर्माध्यक्षो और बिशपो से भी मिले। उन्होने ईटन के छात्रो और लदन स्कूल आफ इकानामिक्स के विद्यार्थियो को सबोधित किया। डा० लिड्से के निमत्रण पर वह आक्सफोर्ड गये और वहा डा० गिल्बर्ट मरे, गिल्बर्ट माल्टर, प्रोफेसर कूपलैड, एडवर्ड टाम्सन आदि धुरधरो से मिले और चर्चाए की और ऑक्सफोर्ड मे ही उन्होने वहा के भारतीय छात्रो की एक सभा मे भाषण भी दिया। वह लायड जार्ज से भी मिलने के लिए गये। सुप्रसिद्ध अभिनेता चार्ली चैप्लिन स्वय उनसे मिलने के लिए आये। उनका नाम भी गाधीजी ने पहले नही सुना था।

इन गैर-रस्मी मुलाकातो के असर को नापना आसान नही है। अग्रेज जाति स्वभाव से ही विनयशील है, इसलिए गाधीजी के व्यक्तित्व की उस-पर जो छाप पडी, उसका सही अदाज लगा पाना मुश्किल ही है। लेकिन इतना तो साफ मालूम हो गया कि काग्रेस के उद्देश्यो और अग्रेज जाति के दृष्टिकोण मे पूरब-पश्चिम का अतर था और उस अतर को मिटाया नही जा सका था। इग्लैड और भारत के बीच बराबरी की भागीदारी के गाधीजी के दावे का पूरा समर्थन करनेवाले अग्रेज सिर्फ गिने-चुने ही निकले। ब्रिटेन के अधिकाश विचारको और राजनीतिज्ञो की यह धारणा थी कि गाधीजी भारत को स्वराज्य के कठिन मार्ग पर एकदम बहुत दूर और बहुत तेजी से ले जाना चाहते थे। लेकिन जिससे भी वह मिले, उसपर उनकी ईमानदारी, सहज व्यवहार और स्पष्टवादिता का स्थायी प्रभाव पडे बिना न रहा।

जिस आदमी की लुंगी और बकरी के दूध के किस्से उछालने में सारे इंग्लैंड के अखबार होड बद रहे थे, कम-से-कम उसकी एक सही तसवीर तो उन लोगों के सामने इन मुलाकातों से अवश्य आ गई थी। गांधीजी के विचार मिलनेवालों को स्वप्नदर्शी या क्रांतिकारी लग सकते थे, लेकिन भेंट कर चुकने के बाद, जैसाकि 'ट्रुथ' अखबार ने उनके इंग्लैंड पहुचने पर लिखा था, 'मक्कार' कहकर उनको टाला नही जा सकता था।

इसी बीच गांधीजी को भारत से जो समाचार मिले, वे बहुत ही चिंता-जनक थे। उनकी इंग्लैंड-यात्रा से पहले सरकार और काग्रेस मे जो अस्थायी समझौता हुआ था वह टूट चुका था। ऐसी स्थिति मे गांधीजी का स्वदेश लौटने के लिए व्यग्र होना स्वाभाविक ही था। वापसी मे यूरोप-भ्रमण और अमरीका-यात्रा के निमत्रण उन्होने अस्वीकार कर दिये। लेकिन लौटते हुए कुछ समय स्विट्जरलैंड मे रोमा रोला का आतिथ्य उन्होने अवश्य ग्रहण किया।

६ दिसबर को गांधीजी महादेव देसाई, प्यारेलाल, मीराबहन (मिस स्लेड) और देवदास गांधी के साथ विलेनेव पहुचे। प्रथम असहयोग-आदोलन के तत्काल बाद प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी' मे रोमा रोला ने गांधीजी के जीवन और सदेश की व्याख्या मे विलक्षण अतर्दृष्टि का परिचय देते हुए यह आशा प्रकट की थी कि हिंसा-ग्रस्त यूरोप अब भी गांधीजी के अहिंसा और आत्मत्याग के मार्ग पर चल-कर आत्म-विनाश से अपनी रक्षा कर सकता है—"इतना तो निर्विवाद है कि या तो गांधीजी की आत्मा अपने ही युग मे विजयी होगी या ईसा और बुद्ध की भांति उसका पुनरागमन होता रहेगा, जबतक कि जीवन की पूर्णता का प्रतीक कोई महापुरुष अवतीर्ण होकर नई मानवता को नूतन मार्ग का पथिक नही बना देते।"

गांधीजी और रोमा रोला आपस मे बडे प्रेम से मिले और रोज घटो साथ बैठे विचार-विनिमय करते रहे। उन्होने अनेक विषयो पर चर्चाए की। रोला की बहन मदलेन लिखती है

"मेरे भाई ने गांधीजी को पीडाग्रस्त यूरोप की दु खद स्थिति का परि-चय दिया। उन्होने तानाशाहो के अत्याचारो से पीडित जनता के कष्टो का

वर्णन करते हुए सर्वहारा वर्ग के आदोलनो और प्रयत्नो की वात वताई और समझाया कि निर्मम पृजीवाद के शिकजे को तोड फेकने के लिए आतुरता से प्रयत्नशील और न्याय एव स्वतत्रता की उचित आकाक्षा से प्रेरित यह वर्ग किस प्रकार केवल विद्रोह और हिंसा का ही अवलवन करता है। उन्होने गाधीजी को यह भी वताया कि पश्चिम का आदमी अपनी शिक्षा परपरा और स्वभाव से ही अहिंसा के धर्म को अपनाने को प्रस्तुत नही है।

" .गाधीजी विचारमग्न सुनते रहे। वह वार-वार अहिंसा मे अपनी दृढ आस्था व्यक्त करते जाते थे। लेकिन साथ ही वह जानते थे कि सदेह-प्रताडित यूरोप को प्रतीति कराने के लिए अहिंसा के सफल प्रयोग का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। यह पूछे जाने पर कि क्या भारत कर सकेगा, उन्होने जवाव दिया था कि हाँ, आशा तो है ."[१]

जव स्विट्जरलैंड की जनता को गाधीजी के अपने देश मे आने का पता चला तो सारे देश मे उत्साह की लहर दौड गई। लेमेन नगर के दूधियो की सिडीकेट ने रोमा रोला को टेलीफोन से यह सूचना दी कि वह 'भारत के राजेश्वर" के लिए जवतक वह स्विट्जरलैंड मे रहे, दूध भेजना चाहते है।

एक जापानी कलाकार उनके चित्र वनाने के लिए पेरिस से दौडे आये। एक युवक वादक रोज उनकी खिडकी के नीचे खडे होकर दिलरुवा वजाया करते। इटली के लोगो ने भारतीय सत से आगामी राष्ट्रीय लाटरी के लिए दस विजेता नवर वताने की प्रार्थना की। पाठशाला मे पढनेवाले वच्चे रोज उनके लिए फल लेकर आते थे।

गाधीजी रास्ते मे एक दिन के लिए रोम मे भी ठहरना चाहते थे। रोमा रोला ने उन्हे वहा फासिस्टो से सभलकर रहने की सलाह दी और एक वहुत ही विश्वसनीय मित्र के यहा उनके रहने-ठहरने का प्रवध कर दिया। रोम मे गाधीजी ने ईसा मसीह और उनके अनुयायियो से सवधित चित्र-प्रदर्शनी (वेटिकान गैलेरी) देखी। सिस्टिन चैपल (गिरजाघर) मे तो वह ठगे-से रह गये—"मैंने ईसा का चित्र देखा। वडा ही अद्भुत! वहा से हटने का मन ही नही होता था। देखता रहा, आखो मे आसू उमड आये,

---

१ शुक्ल द्वारा सपादित 'इमोर्टेल्स आव गाधीजीज लाइफ', पृष्ठ २६४

पर मन नहीं अघाया।"

पोप ने तो उनकी मिलने की मांग को स्वीकार नहीं किया, परन्तु मुसोलिनी ने उनसे भेंट की। पांच महीने बाद यरवदा-जेल में वहां के एक जेल-अधिकारी ने मुसोलिनी का उल्लेख करते हुए गांधीजी से कहा था कि उसका (मुसोलिनी का) व्यक्तित्व तो बड़ा ही आकर्षक है। "हां", गांधीजी ने जवाब दिया था—"लेकिन वह जल्लाद मालूम पड़ता है। संगीनों की नोक पर कोई राज्य आखिर कबतक टिक सकता है?"[1]

इतालवी जहाज पिल्सना पर सवार होकर ब्रिंडिस की ओर जाते हुए गांधीजी को बताया गया कि 'ज्योर्नेल द इतालिया' में उनकी एक मुलाकात के बारे में छापा गया है, जिसमें उन्होंने यह घोषणा की बताई जाती है कि वह सविनय अवज्ञा आंदोलन को फिर से शुरू करने के लिए भारत लौट रहे हैं। उन्होंने रोम में कोई मुलाकात नहीं दी थी। समुद्री तार के द्वारा उन्होंने तत्काल यह सूचना लंदन भिजवा दी कि 'ज्योर्नेल द इतालिया' की रिपोर्ट बिलकुल झूठी है। लेकिन इस स्पष्टीकरण के बावजूद इंग्लैंड के बहुत-से अखबारों और राजनीतिज्ञों ने उनपर असत्य भाषण का आरोप लगा ही दिया। असल में इंग्लैंड के खुर्राट राजनीतिज्ञ और भारत के ब्रिटिश नौकरशाह दोनों ही कांग्रेस से समझौते के पक्ष में नहीं थे, गांधी-इर्विन-समझौता उनकी आंखों में कांटे की तरह खटक रहा था, वे उसे तोड़ने का कोई बहाना ढूंढ ही रहे थे। फासिस्टों के अखबार 'ज्योर्नेल द इतालिया' ने उन्हें मुंहमांगी मुरादें दे दीं।

३०

सर्वांगीण युद्ध

गांधीजी २८ दिसंबर, १९३१ को बंबई पहुंचे। एक ही सप्ताह के अंदर वह गिरफ्तार कर लिये गए और सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर शुरू हो गया। सरकार ने कांग्रेस को गैर-कानूनी कर दिया और गांधी-इर्विन-समझौते को

[1] महादेवभाई की डायरी—२६ मई, १९३२ का उल्लेख।

फाडकर रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया। केवल उस एक सप्ताह की घटनाओ को देश की राजनैतिक परिस्थिति मे इतनी शीघ्रता से और इतने अप्रत्याशित परिवर्तन का कारण समझना भूल होगी। असली कारण तो सरकार और कांग्रेस के बीच के वे तीव्र मतभेद थे, जो गाधी-इर्विन-समझौते के बावजूद मिट नही पाये थे।

इस बार सरकार ने कांग्रेस पर आक्रमण की अपनी पूरी योजना बहुत अच्छी तरह तैयार की थी—उसमे कोई भी कमी नही रहने दी थी।' यदि कांग्रेस ने फिर सविनय अवज्ञा शुरू की तो उसे कुचलने के लिए अधिकारियो को क्या करना चाहिए और उन्हे कौन-से और कितने अधिकार दिये जाने चाहिए, इन सबकी तैयारिया केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो ने महीनो पहले से कर ली थी। कई काले कानून (आर्डिनेन्स) बनाकर प्रातीय सरकारो को आवश्यक अधिकार दे दिये गए थे। सविनय अवज्ञा से उत्पन्न स्थितियो का मुकाबला करने की नियमावलिया बना दी गई थी। १६ दिसबर, १६३१ को जब गाधीजी स्वदेश पहुच भी नही पाये थे, भारत सरकार ने एक परिपत्र के द्वारा कांग्रेस के सभावित सघर्ष के बारे मे प्रातीय सरकारो को सचेत कर दिया था। अधिकारियो के रुख का पता उस पत्र से चल जाता है, जो बबई सरकार ने दिल्ली के आला अफसरो को, गाधीजी की गिरफ्तारी के बाद बबई अहाते की किसी जेल मे उन्हे रखने की अपनी कठिनाइयो के बारे मे, २१ दिसबर को लिखा था—"अगर भारत सरकार गिरफ्तार करके गाधीजी को हिन्दुस्तान मे ही रखना चाहती है तो कोयबतूर सबसे बढिया रहेगा। गवर्नर साहब की राय है कि इस बार गाधीजी की गिरफ्तारी का नैतिक प्रभाव पहले से कही ज्यादा होगा, मगर साथ ही गवर्नर साहब का यह ख्याल भी है कि गाधीजी की गिरफ्तारी से सविनय अवज्ञा आदोलन को कुचलने का सरकार का पक्का इरादा भी लोगो पर बखूबी जाहिर हो जायगा। गिरफ्तारी के बाद गाधीजी को अडमान में, बल्कि हो सके तो अदन मे रखना बेहतर होगा, क्योकि दोनो ही सूरतो मे उनके नाम और गिरफ्तारी का राजनैतिक इस्तेमाल कम-से-कम किया जा सकेगा।"

भारत सरकार ने बबई सरकार के इस सुझाव को तो अव्यावहारिक

मानकर स्वीकार करने मे इनकार कर दिया, लेकिन १६२७ के बंबई रेगुलेशन के अन्तर्गत गाधीजी की गिरफ्तारी की बात पक्की हो गई। लार्ड विलिंगडन ने लार्ड चेम्सफार्ड, लार्ड रीडिंग और लार्ड इर्विन की तरह गाधीजी की गिरफ्तारी के मामले मे हिचकिचाहट और असमंजस से जरा भी काम नही लिया। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो के कई उच्च अधिकारियो का ऐसा विश्वास था कि गिरफ्तारी के मामले मे हिचकिचाहट और ढिलाई की नीति के ही कारण गाधीजी इतने सिर-ज़ोर हो गये थे और शासन की यो अवज्ञा करने लगे थे। अगर शुरू मे ही सख्ती की जाती तो सविनय अवज्ञा आदोलन बहुत पहले ही कुचल दिया जाता। ब्रिटिश नौकरशाही को गाधी-इर्विन-समझौता फटी आखो भी नही सुहाया था, क्योकि उस समझौते ने भारत मे ब्रिटिश राज्य को, जिसकी सेवा और रक्षा करना नौकरशाही अपना धर्म और कर्तव्य समझती थी, समाप्त करने के काग्रेस के लक्ष्य मे कोई परिवर्तन नही हुआ था। अधिकाश बडे अफसर अहिंसा को केवल एक बहाना और ओट समझते थे इसलिए हिंसा का प्रयोग न करने के काग्रेस के निर्णय को कोई महत्व नही देते थे। जिन अधिकारियो को गाधीजी की ईमानदारी मे विश्वास था, उनका कहना था कि अगर जनता हिंसा पर उतर ही आई तो काग्रेस और गाधीजी उसे कैसे रोक सकेगे।

चार महीने की विदेश-यात्रा के बाद जब गाधीजी २८ दिसबर, १६३१ को बबई के बन्दरगाह पर उतरे तो वह बहुत उत्साहित और आशावान नही थे, लेकिन उन्होने यह भी नही सोचा था कि राजनैतिक सकट इतना गहरा हो जायगा। जवाहरलाल नेहरू एव अब्दुल गफार खा की गिरफ्तारी और सयुक्त प्रात मे आर्डिनेन्स राज्य ने स्थिति को बहुत ही विषम बना दिया था। गाधीजी ने बबई की एक आम सभा मे भाषण करते हुए कहा था—"मै ऐसा समझता हू कि ये आर्डिनेस हमारे ईसाई वाइसराय लार्ड विलिगडन साहब की ओर से हमे क्रिसमस का उपहार है।" कार्य-समिति परिस्थिति पर विचार-विनिमय करके इस नतीजे पर पहुची कि सरकार ने बल-परीक्षण का फैसला कर लिया है, इसलिए सविनय अवज्ञा को फिर से शुरू करना ही सही जवाब होगा।

लेकिन गाधीजी सरकारी दृष्टिकोण को समझ लेना और शातिपूर्ण

समझौते की कोशिश कर लेना चाहते थे। आशा की एक मद्धिम-सी किरण के भी रहते वह देश को आदोलन के बवडर मे नही डालना चाहते थे। उन्होने तार करके वाइसराय से मुलाकात की इजाजत मागी। उन्होने दोनो प्रातो[1] मे जाकर वहा की घटनाओ के सरकारी ओर गैर-सरकारी दोनो ही तरह के विवरणो की स्वय पडताल करने और अगर काग्रेस की गलती दिखाई दे तो अपने साथियो और सहयोगियो को सही राह पर लाने की तैयारी भी जाहिर की। लेकिन इस कदम को वह वाइसराय से मिलकर शाति स्थापना के प्रयत्नो मे असफल हो जाने के बाद ही उठाना चाहते थे। वाइसराय झल्ला उठे और गाधी पर सविनय अवज्ञा आदोलन फिर से शुरू करने की धमकी देने का आरोप लगाते हुए तार[2] से यह जवाब दिया कि "काग्रेस ने जिन उपायो के अवलबन का इरादा जाहिर किया है, उसके सब परिणामो के लिए हम आपको और काग्रेस को उत्तरदायी समझेंगे और उनके दबाने के लिए सरकार सब आवश्यक उपायो का अवलबन करेगी।' अब तो शायद सम्राट की लदन की सरकार ही सकट को और गहरा होने से बचा सकती थी। गोल-मेज परिषद् के समय नये उपनिवेश-मत्री सर सेम्युअल होर ने गाधीजी से बहुत साफ शब्दो मे कह दिया था कि अगर काग्रेस ने सीधी कार्रवाई की तो सरकार उसे बल-प्रयोग के द्वारा कुचल देगी। गाधीजी ने सर सेम्युअल होर से स्थिति पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया था। "यदि आपने ऐसा किया तो उससे दोनो ही देशो की कठिनाइया और कष्ट बहुत अधिक बढ जायगे ..आप बार-बार विद्रोह की दुहाई देते है, लेकिन सर सेम्युअल, शातिपूर्ण विद्रोह कभी उतना खतरनाक नही हुआ करता।"

सर सेम्युअल जानते थे कि गाधीजी गोलमेज परिषद् के परिणामो से सन्तुष्ट और प्रसन्न नही थे, फिर भी उन्होने उपनिवेश-मत्री को यह आश्वा-

---

१ सयुक्त प्रात और सीमा प्रात

२ गाधीजी ने २९ दिसबर को एक तार वाइसराय को भेजा था। ३१ दिसबर को उनके प्राइवेट सेक्रेटरी ने उसका कुछ लबा जवाब दिया तब गाधीजी ने १ जनवरी, १९३२ को काफी लबा तार वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को दिया, जिसका २ जनवरी को प्राइवेट सेक्रेटरी ने धमकी भरा उत्तर दिया।

—अनुवादक

सन दिया था कि भारत लौटकर सरकार से संघर्ष को टालने की जितनी भी कोशिश करते बनेगी, अवश्य करेंगे। 'ज्योर्नाल द इतालिया' ने उनकी जो फर्जी मुलाकात छाप दी थी, उससे सर सेम्युअल होर को आश्चर्य जरूर हुआ था, लेकिन गांधीजी के प्रतिवाद से वह निश्चिन्त हो गये थे। सर सेम्युअल चाहते तो इस समय हस्तक्षेप करके भारत सरकार को गांधीजी के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करने से रोक सकते थे, लेकिन न तो ऐसा करने की उनकी इच्छा थी और न भारत-स्थित ब्रिटिश नौकरशाही का विरोध करने की उनमें शक्ति ही थी। फिर सर सेम्युअल इसके पहले ही कांग्रेस का दमन करने की भारत सरकार की योजना को अपने आशीर्वाद दे चुके थे, इसलिए उन्होंने शांति-स्थापना के लिए हस्तक्षेप करने की अपेक्षा दमन शुरू करने का आदेश देना ही उचित समझा और सरकार को दमन-योजना कार्यान्वित करने की अनुमति प्रदान कर दी।

गांधीजी ने सरकार के रुख को भांप लिया था, इसलिए बंबई की एक सभा में उन्होंने जनता को सावधान कर दिया था—"पिछली लड़ाई में जनता को लाठियों के वार सहने पड़े थे, लेकिन इस बार गोलियां खानी होंगी।" पर सरकारी तैयारियों का सही अंदाज तो उस समय गांधीजी को भी नहीं था। लार्ड विलिंगडन बहुत कठोर शासक समझे जाते थे और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वह कठोर ही नहीं, क्रूर और नृशंस शासक भी थे। प्रांतीय गवर्नरों ने भी इस बार आंदोलनकारियों को सबक सिखाने और ठिकाने लगाने का निश्चय कर लिया था। आंदोलन का दमन करने के लिए महीनों पहले जिन गुप्त योजनाओं को बनाया गया था वे सब-की-सब एकदम और बड़ी तेजी से अमल में ले आई गईं। ४ जनवरी, १९३२ को गांधीजी और कार्य-समिति के सदस्यगण गिरफ्तार कर लिये गए और उसके कुछ ही घंटों बाद ताबड़तोड़ एक के बाद एक कई आर्डिनेंस जारी कर दिये गए। कांग्रेस की कार्यसमिति ही नहीं, सभी प्रांतीय समितियां और बहुत-सी स्थानीय समितियों को भी गैर-कानूनी करार दिया गया। इतना ही नहीं, कांग्रेस-संगठन की समर्थक या उससे सहानुभूति रखनेवाली दूसरी अनेक संस्थाएं—युवक लीग, राष्ट्रीय विद्यापीठें, कांग्रेस वाचनालय एवं पुस्तकालय, कांग्रेस अस्पताल और चिकित्सालय आदि भी गैर-कानूनी कर दिये

गए। कांग्रेस का सारा पैसा और संपत्ति जब्त कर ली गई। कांग्रेस दफ्तरो और भवनो पर सरकार ने कब्जा कर लिया। सक्षेप मे यह कि वे सभी कार्रवाइया की गई, जिनसे कांग्रेस संगठन पूरी तरह ठप्प हो जाय। आर्डिनेंस कितने कठोर और व्यापक थे इसका पता पार्लमिंट के हाउस आव कामन्स मे उपनिवेश-मंत्री के मार्च १९३२ के भाषण से चल जाता है।

सरकार को आशा थी कि कांग्रेस के नेताओ को गिरफ्तार करके और कांग्रेस की धन-संपत्ति को जब्त करके वह संगठन और आंदोलन दोनो को ही तोड सकेगी। आर्डिनेंस मे अफसरो को यह अधिकार भी दिया गया कि यदि उन्हे किसी भी निधि के गैर-कानूनी संगठनो के लिए खर्च किये जाने का संदेह हो जाय तो वे उसे फौरन जब्त कर ले। किसी भी व्यक्ति, संस्था अथवा व्यावसायिक संगठन की खाते-बहियो की जाच करने, पूछताछ और तलाशी लेने के अधिकार भी अफसरो को दिये गए थे। गांधीजी ने इग्लैंड मे एक भाषण दिया था, कोलबिया ग्रामोफोन कंपनी ने उसका रेकार्ड बनाया था और अखिल भारत चर्खा संघ को उसकी रायल्टी मिलती थी। भारत सरकार ने यह रायल्टी बंद करवाने की कोशिश भी की।

जेल की सख्तिया बेहिसाब बढा दी गई। १९३०-३१ के सत्याग्रह आंदोलन मे बहुत-सी महिलाए जेल गई थी। इस बार औरतो को आंदोलन मे हिस्सा लेने से रोकने के उद्देश्य से ही जेल-कानूनो को कडा किया गया था। मीराबहन को, जो एक अंग्रेज नौ-सेनाध्यक्ष की पुत्री और गांधीजी की शिष्या थी, बबई की आर्थर रोड जेल मे रखा गया था। वहा सत्याग्रही महिला बन्दियो से जैसा दुर्व्यवहार किया जाता था और जितनी सख्तिया उनपर होती थी, उनका आखोदेखा वर्णन उन्होने किया है। सत्याग्रही महिला बन्दियो को कटघरे के अंदर से अपने बच्चो से मिलने दिया जाता था। मीराबहन को सत्याग्रही महिलाओ के साथ नही, अपराधी औरतो के साथ रखा गया था। उनकी चार पडोसिनो मे तीन चोरी के अपराध मे और एक वेश्यावृत्ति के जुर्म मे सजायाफ्ता थी। इन अपराधिनो को रात मे ताले मे बन्द नही किया जाता था, परन्तु सत्याग्रही महिलाए सरेआम ताले मे बन्द कर दी जाती थी।

संधि-काल मे कांग्रेस का प्रभाव देहातो मे बहुत बढ गया था। शहर के

मध्यमवर्गीय लोगों के स्वदेश-प्रेम से ही निपटना सरकार के लिए मुश्किल हो रहा था। जब वह आग देहातों में भी फैलती चली गई तो सरकार की बौखलाहट बहुत ज्यादा बढ़ गई। करबंदी-आंदोलन पर जो इतनी सख्तियां और लोमहर्षक अत्याचार किये गए उसका कारण भी सरकार की यह बौखलाहट ही थी। करबंदी-आंदोलन का संयुक्त प्रांत के दो जिलों, इलाहाबाद एवं रायबरेली में तथा बंबई, बंगाल, बिहार और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के कुछ जिलों में सबसे अधिक जोर था।

अखबार और छापेखानों को भी इस बार नहीं छोड़ा गया। १९३० में नमक-सत्याग्रह की आरंभिक सफलता का कारण सरकार की निगाह में उसका अत्यधिक अखबारी प्रचार ही था। इसलिए १९३२ में प्रेस और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले कई आर्डिनेंस जारी किये गए। संवाददाताओं की गिरफ्तारी से लेकर समाचारपत्रों से जमानतें मांगने और जमानतें जब्त करने तक के प्रावधान उनमें रखे गए और इन काले कानूनों का धड़ल्ले से प्रयोग किया गया। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दुबारा शुरू किये जाने के कोई छः महीने बाद, ४ जुलाई, १९३२ को भारत मंत्री ने पार्लमेंट में स्वीकार किया कि प्रेस कानूनों के अंतर्गत १०९ संपादकों-संवाददाताओं और ९८ छापेखानों के खिलाफ कार्रवाई की गई थी।

इस बार भी गांधीजी को पूना के यरवदा-सेंट्रल जेल में रखा गया था। वल्लभभाई पटेल और महादेव देसाई भी उनके साथ ही थे। महादेवभाई ने अपनी डायरियों में गांधीजी के इस बार के जेल जीवन का बड़ा ही रोचक और प्रेरणात्मक वर्णन किया है। आंदोलन के खिलाफ सरकार की दमनकारी कार्रवाइयों की गांधीजी को पूरी-पूरी जानकारी थी। इस बार का दमन औचित्य की सारी सीमाओं को लांघ गया था और यही बात उन्होंने जेल से सर सेम्युअल होर को लिखी भी थी। गांधीजी सत्याग्रही के लिए कष्ट-सहन को उसकी आत्मा के विकास के लिए और कष्ट देनेवाले के हृदय-परिवर्तन के लिए एक आवश्यक शर्त मानते थे। गांधीजी का विश्वास था कि दमन की इस भट्टी में सारा कूड़ा करकट जल-भुनकर खाक हो जायगा और राष्ट्र का व्यक्तित्व अधिक तपपूत होकर निकालेगा। उनका कहना था कि यदि जनता सत्याग्रह पर डटी रही,

दमन से विचलित नही हुई, अहिसा का पूरी तरह पालन करती रही तो दमन कितना ही कठोर क्यो न हो उसे कभी तोड नही सकता। इग्लैड मे ब्रिटिश विशेषज्ञ और भारतीय दर्शक मिलकर जो नया विधान बना रहे थे, गाधीजी को उससे रच-मात्र भी आशा नही थी। बबई सरकार के गृह-सचिव टामस जेल मे मिलने के लिए गये तो उन्होने गाधीजी से कहा था—'आधी रोटी मिल रही है तो आज आप आधी को ही क्यो स्वीकार नही कर लेते ?'' इसपर गाधीजी ने कहा था, ''मगर वह रोटी हो, पत्थर तो नही।''

जेल मे भी गाधीजी उतने ही व्यस्त रहते थे जितने जेल के बाहर। दोनो समय प्रार्थनाए और कताई तो उनका नित्य नियम था। कपडे अपने हाथ से धोते थे और सारी चिट्ठियो का जवाब स्वय देते और बोलकर लिखाते भी थे। एक दिन तो उन्होने उनचास पत्र लिखे थे। अधिकाश पत्र आश्रमवासियो को ही लिखे जाते थे। जेल से लिखे पत्रो को वह सर्वथा व्यक्तिगत मानते थे और पानेवालो को उन्हे व्यक्तिगत ही रखने की कडी हिदायत भी कर दी थी। अध्ययन भी खूब करते थे। खगोलशास्त्र मे उनकी रुचि बहुत बढ गई थी और रात मे प्राय आकाश के नक्षत्र-मडल और तारो की गति को देखा करते। विश्राम और हँसी-मजाक भी चलता रहता। वल्लभभाई पटेल से उनकी खूब नोक-झोक रहती थी।

सरकार ने दमन के साथ-साथ प्रचार पर भी पूरी रोक लगा दी थी, क्योकि ऐसे समय प्रचार ही राष्ट्र के मनोबल को बनाये रखने का एक-मात्र साधन होता है। लेकिन फिर भी १९३२ के आरभिक नौ महीनो मे कुल ६१,५५१ सत्याग्रही सविनय अवज्ञा के सिलसिले मे जेल गये। यह सख्या १९३०-३१ के आदोलन मे जेल जाने और सजा पानेवालो से अधिक ही है। आदोलन शुरू के चार महीने तो खूब तेज रहा, पर उसके बाद जेल जाने और सजा पानेवालो की सख्या क्रमश घटती गई (अप्रैल १९३२ मे जब काग्रेस ने प० मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व मे दिल्ली मे अपना वार्षिक अधिवेशन करने की कोशिश की तो बहुत अधिक गिरफ्तारिया हुई थी) और आदोलन की रफ्तार बहुत मद हो गई।

१९३२ का अत होते-होते तो केन्द्रीय और प्रातीय सरकारे इसलिए

अपनी-अपनी पीठ ठोकने लगी थी कि उन्होंने कांग्रेस को चारो खाने चित कर दिया। लेकिन आर्डिनेसो द्वारा प्रदत्त अपने विशेषाधिकारो को छोडने के लिए वे अब भी तैयार न हुई। लार्ड विलिंगडन ने फैसला कर लिया था कि लडाई को अधबीच नही छोडा जायगा, आदोलन को इस तरह कुचल दिया जायगा कि वह अनेक वर्षो तक अपना सिर न उठा सके और जबतक गाधीजी तथा कांग्रेस बिनाशर्त आत्म-समर्पण नही कर देते, गाधीजी को नजरबन्द रखा जायगा। १९३२ के दिसबर महीने मे जब तेजबहादुर सप्रू और एम० आर० जयकर लदन मे सवैधानिक चर्चाए करके लौट आये तो उपनिवेश-मत्री ने वाइसराय को यह सुझाव दिया कि उन्हे जेल मे गाधीजी से मिल लेने दिया जाय। ४ जनवरी, १९३३ को वाइसराय ने एक लबा समुद्री तार भेजकर उपनिवेश-मत्री के इस सुझाव का कडा विरोध किया

"इस तरह की मुलाकात के इस उद्देश्य से, कि सरकार गाधी और कांग्रेस को नये विधान से सहयोग करने का पूरा अवसर दे रही है, हम यानी प्रातो के गवर्नर और वाइसराय की कार्यकारिणी कौसिल पूर्णत सहमत है, लेकिन साथ ही हमारी यह राय भी है कि इस तरह की मुलाकात का नतीजा यहा हमारे हक मे बहुत बुरा होगा और पिछली गोलमेज परिषद की सफलता एव पिछले पूरे साल की कार्रवाइयो के फलस्वरूप हमने स्थिति पर जो काबू पाया है, उसपर बिलकुल ही पानी फिर जायगा।"

वाइसराय गाधीजी के साथ उदारता दिखाने की गलती तो भूलकर भी नही करना चाहते थे। १ जुलाई, १९३३ को भारत मत्री के नाम लिखे अपने एक पत्र मे वह लिखते है, "गाधी के नेतृत्व को नरम और गरम दोनो ही पक्षो की ओर से खुली चुनौतिया दी जा रही है। उनपर यह आरोप लगाया जा रहा है कि पूरे चौदह वर्ष के सतत सघर्ष के बाद उन्होंने कांग्रेस को विफलता की दलदल मे फसाया है। कांग्रेस की भावी नीति के सम्बन्ध मे कांग्रेसजनो मे तीव्र मतभेद है और साथ ही निराशा की गहरी भावना भी। अकेले गाधी ही सबको जोड-बटोरकर साथ रख सकते है और निराशा से उभार सकते है। लेकिन वह इस बात को भी बहुत अच्छी तरह जानते है कि उनका प्रभाव पूरी तरह सरकार के उनके सम्बन्धो पर निर्भर करता

है। यदि काग्रेसजनो और जनता को यह पता चल गया कि सरकार उनकी दिलजोई कर रही है तो निश्चय ही गाधीजी के प्रभाव मे शत प्रतिशत वृद्धि हो जायगी।"

गाधीजी के बारे मे वाइसराय का यह खयाल कि वह कूटनीति-प्रवण है, काग्रेस को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करते है और वाइसराय से भेंट की तिकडम चलकर भारत के अज्ञ-जनो पर अपना प्रभाव बढाना चाहते हैं, महात्माजी के व्यक्तित्व और सिद्धान्तो एव भारतीय जनता के सम्बन्ध मे उनके घोर अज्ञान का ही परिचायक है। सर सेम्युअल होर ने अपनी पुस्तक (नाइन ट्रबल्ड ईयर्स) मे बिलकुल ठीक ही लिखा था कि "यह आलोचना तो मुझे करनी ही होगी कि गाधीजी के व्यक्तित्व को, जितना लार्ड इर्विन समझते थे उतना लार्ड विलिगडन नही समझ पाये और इसीलिए वह उनकी (गाधीजी की) शक्ति और प्रभाव को हमेशा कम करके आकते रहे।" लार्ड विलिगडन एक योग्य और अनुभवी प्रशासक रह चुके थे, लेकिन भारत के वाइसराय के नाते वह गुण ही उनका घोर दुर्गुण और अक्षमता बन गया। भारतीय समस्या को उन्होने केवल प्रशासकीय स्तर पर ही देखने समझने की कोशिश की, जिसका एकमात्र हल उनके निकट उपद्रवकारियो को निर्ममता से कुचल देना था। भारत के स्वाधीनता-आदोलन के बौद्धिक और भावनात्मक स्वरूप को समझने मे अपनी असमर्थता के कारण आजादी के देश-व्यापी जोश को उन्होने अविवेकपूर्ण हठवादिता समझने की भूल की। भारतवासियो के राष्ट्र-प्रेम के मूल तत्वो को वह कभी नही समझ पाये, इसलिए गाधीजी के व्यक्तित्व को समझने मे भी असमर्थ रहे। यह बात उनकी समझ मे ही नही आ पाती थी कि सविनय अवज्ञा गाधीजी के उस सत्याग्रह की एक शैली थी, जिसकी उद्देश्य अहिसात्मक जन-आदोलन के द्वारा देश मे राजनैतिक ही नही, सामाजिक परिवर्तन लाना भी था और इस आदोलन मे विरोध तो था, पर बदले की भावना नही थी, असहयोग तो था, पर घृणा नही थी। जहा गाधीजी के निकट आदोलन का अहिसात्मक स्वरूप ही सबसे महत्वपूर्ण था, वही लार्ड विलिगडन को गाधीजी और उनके अनुयायियो की इस सजग नैतिक श्रेष्ठता से झुझलाहट तो होती ही थी, न्याय और व्यवस्था बनाये रखने के लिए जिम्मेदार

व्यक्तियों के प्रति व्यापक तिरस्कार अहिंसात्मक आंदोलन को निर्दोष मक्कारी का रूप भी दे देता था।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बद्धमूल संस्कारों, पूर्वाग्रहों और पक्षपातपूर्ण आचरण से गांधीजी को अक्सर बड़ी निराशा होती थी। अंग्रेजों के तरीके की आलोचना करने पर गांधीजी को अवसरवादी और लोगों को उकसानेवाला कहा जाता था। अंग्रेजों की मैत्री का दावा करने पर उन्हें दंभी और फरेबी कहा जाता था। जब वह वाइसराय से भेंट की इच्छा प्रकट करते तो उनपर सरकार को चालाकी से पछाड़ने के इरादे का दोषारोपण किया जाता। आंदोलन शुरू करने पर उन्हें 'दुश्मन शत्रु' की उपाधि दे दी जाती। अगर वह आंदोलन के क्षेत्र को सीमित कर देते या आंदोलन बन्द कर देते तो यह शोर मचाया जाता कि अनुयायियों पर उनका असर ही नहीं रहा।

सत्याग्रह का एक उद्देश्य अंग्रेजों के पूर्वाग्रहों की इस दीवार को ढहाना भी था। जब तर्क और अनुविनय निष्फल हो जाती तो विरोधी के हाथों स्वेच्छा से कष्ट-सहन करके उसके हृदय को विगलित करने का प्रयत्न किया जाता, जिससे दो दिलों को आपस में मिलने से रोकनेवाली बाधाएं टूट जायं। प्रेम के 'अतिक्रमण' की यह पद्धति व्यवहार में न तो उतनी सरल थी और न हमेशा त्वरित फल देनेवाली ही। जब अंग्रेजों के नैतिक आडंबर का भंडा फूटने लगता तो वे और भी हेकड़ और निर्लज्ज हो जाते। फिर भी सविनय अवज्ञा आंदोलन का इतना परिणाम तो अवश्य ही हुआ कि एक ओर तो उसने डेढ़सौ वर्षों की दासता से दबी-डरी जनता को निर्भय-निडर कर उसमें राष्ट्रीयता की भावना भर दी, दूसरी ओर अपनी कठोरता-कट्टरता के प्रति अंग्रेज अफसरों के मन में सन्देह जगा-जगाकर उनके आरम्भिक उत्साह को काफी शिथिल कर दिया। अंग्रेज अधिकारियों के लिए भारत-जैसे विशाल देश का शासन शांति-काल में भी कोई सरल काम नहीं था, जब यहां के बुद्धिजीवी और सारा मध्यम वर्ग एकदम विरोधी हो गया तो भारत पर शासन करना उनके लिए लगभग असम्भव ही हो गया।

लेकिन अब घटनाओं का रुख बदलने जा रहा था। १९३२ के अगस्त महीने के आते-आते लार्ड विलिंगडन और उनका सलाहकारी मंडल सोचने

लगा था कि सरकार के वार सहते-सहते सविनय अवज्ञा आदोलन धराशायी हो गया। उधर गाधीजी ने जेल मे अछूतो के लिए पृथक् निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिये जाने के विरोध मे उपवास आरम्भ कर दिया। इससे सारे देश मे तहलका मच गया और जनता मे उत्साह का जो ज्वार आया, वह राजनैतिक आदोलन की मुख्य धारा मे प्रवाहित होने के बदले दूसरी-दूसरी धाराओ मे विभक्त हो गया।

३१ :
हरिजनोद्धार

१३ सितम्बर, १९३२ को सारे भारत के अखबारो मे यह सनसनीखेज खबर छपी कि यरवदा-जेल मे बन्द महात्मा गाधी ने दलित जातियो को नये विधान मे पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिये जाने के विरोध मे २० सितम्बर से आमरण अनशन का फैसला कर लिया है। देश पर गाज-सी गिरी और सब स्तब्ध रह गये। लेकिन इस विषय पर ब्रिटिश मन्त्रिमडल से गाधीजी के पत्र-व्यवहार को देखने से पता चलता है कि सकट आकस्मिक रूप से नही टूट गिरा था, वह धीरे-धीरे रूप ग्रहण करता जा रहा था, जिसकी जानकारी जनता को नही थी।

अपनी गिरफ्तारी के दो महीने बाद, मार्च १९३२ मे गाधीजी ने नये विधान मे जन-प्रतिनिधियो की सख्या और उनकी चुनाव-पद्धति का निर्धारण करनेवाले साम्प्रदायिक निर्णय (कम्यूनल अवार्ड) के बारे मे उपनिवेश मत्री को पत्र लिखते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया था कि पृथक् निर्वाचन का अधिकार हिंदू जाति का अग-भग और विच्छेद करनेवाला तो है ही, वह दलित जातियो के लिए भी हानिकारक है। अपने प्राणो की बाजी लगाकर पृथक् निर्वाचन का विरोध करने की बात गाधीजी गोलमेज परिषद् मे कह ही चुके थे। उसकी याद दिलाते हुए उपर्युक्त पत्र मे उन्होने सर सेम्युअल होर को यह भी लिख दिया कि "मैंने वह बात क्षणिक जोश मे आकर या अपने वक्तृत्व की धाक जमाने लिए नही कही थी आमरण उपवास मेरे

लिए एक उपाय नहीं, मेरे अस्तित्व का ही अंग है।"

१७ अगस्त, १९३२ को साम्प्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ तो गांधीजी बहुत अधिक चिंतित हो गये। दलित जातियों को आम (हिंदू) निर्वाचन क्षेत्र में मतदान का अधिकार देने के साथ-ही साथ अपने पृथक् निर्वाचन क्षेत्र में भी मत देने का अधिकार दिया गया था। इसका साफ मतलब यह था कि उनके लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र भी बनाये जायंगे और उन्हें दुहरा मताधिकार होगा। गांधीजी ने ब्रिटिश प्रधान मंत्री रेम्जे मेकडोनल्ड को तुरन्त पत्र लिखकर इसके विरोध में आमरण अनशन करने के अपने निर्णय की सूचना दी और यह भी लिख दिया कि "यदि ब्रिटिश सरकार अपनी इच्छा से या जनमत के दबाव में दलित जातियों के पृथक् निर्वाचन की योजना को वापस ले लेगी तभी अनशन समाप्त होगा, उसके पहले नहीं, और जेल से रिहा कर दिये जाने पर भी अनशन चालू रहेगा।" तीन सप्ताह बाद मेकडोनल्ड साहब ने जो जवाब दिया, उसमें गांधीजी के इस रवैये पर 'सख्त अफसोस' और 'बड़ा आश्चर्य' प्रकट किया गया था। उन्होंने लिखा था कि सरकार ने तो अपने इस निर्णय के द्वारा सभी जातियों के दावों के साथ उचित न्याय करने की ही कोशिश की थी और अगर भारत की सभी जातियां चुनाव के बारे में किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुंच सकें तो सरकार अपने इस फैसले को जरूर बदल देगी। उन्होंने गांधीजी के उपवास को अनुचित और अन्यायपूर्ण बताते हुए उनके उद्देश्यों में गहरी शंका व्यक्त की और उन्हें दलित जातियों के प्रति शत्रुता का भाव रखनेवाला व्यक्ति बताया—'मेरी राय में आप दलित जातियों को हिंदुओं के साथ संयुक्त चुनाव का अधिकार दिलाने के लिए आमरण अनशन नहीं कर रहे हैं क्योंकि उसका प्रावधान तो पहले ही कर दिया गया है, न आप हिंदुओं की एकता के लिए अनशन कर रहे हैं, क्योंकि उसका प्रावधान भी किया जा चुका है। आप तो आज भी बहुत ही ज्यादा अक्षम दलित जातियों को, उनके भविष्य को पूरी तरह प्रभावित करनेवाली विधि-परिषदों में कुछ थोड़े-से ऐसे प्रतिनिधियों का, जो उनकी आवाज को बुलन्द कर सकें, अपनी इच्छा से चुनाव कर सकने से रोकने के ही लिए यह अनशन कर रहे हैं।"

ब्रिटिश प्रधान मंत्री की आघात पहुंचानेवाली इस बात से सिर्फ यही

नावित होता है कि समस्या के प्रति गांधीजी के धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उन्हे और उनके सलाहकार-मडल को लेशमात्र भी ज्ञान नही था। आरम्भ मे उन्होने यही समझा कि गांधीजी का उपवास एक निरी राजनैतिक चाल थी, जिसके द्वारा सविनय अवज्ञा के पराभव मे उनकी जिस प्रतिष्ठा को धक्का लगा था, उसे फिर से सवारने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन वास्तव मे बात ऐसी नही थी। दलित जातियो की हित-सवर्द्धना मे गांधीजी की रुचि ठेठ उनके बचपन से चली आती थी और वह उनके गहनतम मानवतावाद का ही परिणाम थी। उसे तात्कालिक या अस्थायी समझना गलत ही नही, उस महात्मा के साथ अन्याय भी था। अस्पृश्यता से उनका पहला वास्ता अपने घर मे ही पडा था। उनके वैष्णव परिवार मे और खास तौर पर माता के परपरागत सस्कारो के कारण घर के भगी ऊका को छूने या अछूत बालको के साथ खेलने की सख्त मनाही थी। गांधीजी आज्ञाकारी बालक थे, लेकिन उन्हे इस तरह मना किये जाने पर गुस्सा भी आता था। रामायण की केवट और शबरी की कथाओ से इस अस्पृश्यता का जरा भी मेल नही खाता था। उम्र के साथ अछूतो के प्रति उनकी भ्रातृ-भावना का विकास भी होता गया। दक्षिण अफ्रीका मे तो सभी वर्णो और जातियो तथा सम्प्रदायो के लोगो ने उनके साथ कधे-से-कधा भिडाकर काम किया था और साबरमती-आश्रम का तो अस्तित्व ही एक हरिजन-परिवार को आश्रमवासी बनाने से खतरे मे पड गया था। अहमदाबाद मे धनाधीशो ने नाराज होकर आर्थिक सहायता देना बद कर दिया था। गांधीजी अपने साथियो-सहयोगियो के साथ हरिजन-बस्ती मे जाकर रहने की बात सोच ही रहे थे कि ऐन वक्त पर एक अज्ञात व्यक्ति के गुप्तदान ने आश्रम को बद होने से बचा लिया था। असहयोग-आदोलन के रचनात्मक कार्यक्रमो मे उन्होने अस्पृश्यता-निवारण को भी रखा था। १९२८-२९ मे उन्होने जो देशव्यापी दौरे किये, उनमे अछूतोद्धार उनके भाषणो का मुख्य विषय रहा करता था। गोलमेज परिषद् मे अछूतो के प्रतिनिधियो को साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी तत्वो के हाथ का खिलौना बनते देख उन्हे मर्मातक पीडा होती थी। इस प्रश्न पर उनकी भावनाओ का पता उस भाषण से चलता है, जो उन्होने अल्पसख्यक समिति की बैठक

मे १३ नवबर, १९३१ को दिया था—"मेरा तो दावा है कि मैं भारत के बहुसख्यक अछूतो का भी प्रतिनिधि हू। मै यहा सिर्फ काग्रेस के ही नही, अपने बारे भी कह रहा हू और इस बात का दावा करता हू कि यदि अछूतो के मत लिये जाय तो उनके भी सबसे ज्यादा मत मुझीको मिलेगे। हम नही चाहते कि अछूतो का एक पृथक् जाति के रूप मे वर्गीकरण किया जाय। सिक्ख हमेशा के लिए सिक्ख, मुसलमान हमेशा के लिए मुसलमान और ईसाई हमेशा के लिए ईसाई रह सकते हैं। लेकिन क्या अछूत भी सदा के लिए अछूत रहेगे?"

ब्रिटिश मन्त्रिमडल जिस प्रकार इस प्रश्न पर गाधीजी की भावनाओ को समझने मे असफल रहा, उसी प्रकार इस समस्या के निराकरण के लिए उनके उपवास के महत्व और उसकी उपयोगिता को समझने मे भी असमर्थ रहा। वे लोग इसे केवल राजनैतिक समस्या समझते रहे, इसीलिए गाधीजी के दृष्टिकोण को हृदयगम नही कर सके। उपवास को उन्होने उत्पीडन और एक तरह की धमकी ही समझा। गाधीजी के उपवास की घोषणा पर अग्रेज-जाति की उस समय की प्रतिक्रिया को सुप्रसिद्ध अग्रेज व्यग्य-चित्रकार लो ने '१९३३ की भविष्यवाणी' नामक अपने व्यग्य-चित्र मे बडी सफलता से चित्रित किया था। उक्त व्यग्य चित्र मे लार्ड विलिगडन को १०, डाउनिग स्ट्रीट (ब्रिटिश प्रधान मत्री का निवासस्थान) के आदेश पर "गाधीजी को इस बात के लिए विवश करने को कि वह नये विधान को स्पृश्य (सवर्ण) मानकर स्वीकर कर ले," अनशन करते हुए दिखलाया गया था। गाधीजी के मनोभावो और दृष्टिकोण को सी० एफ० एड्रूज से अधिक तो दूसरा कोई अग्रेज समझ नही सकता था। लेकिन उन्हे भी बरमिघम से (१२ मार्च, १९३३ को) यह लिखना पडा—"यहा के लोग आमरण अनशन को कितना बुरा समझते और घृणा करते है, उसका आपको अदाज भी नही हो सकता। उसे उचित और न्यायसगत सिद्ध करने मे मुझे जो कठिनाई हो रही है, उसे मै ही जानता हू।"

लेकिन अपनी आत्मा, या उन्हीके शब्दो मे कहे तो अपने परमात्मा के अतिरिक्त किसीके भी समक्ष अपने उपवास का औचित्य सिद्ध करने की गाधीजी को जरा भी चिता नही थी। उपवास का उनके आत्मानुशासन मे

एक निश्चित और निर्धारित स्थान था। कई बार अपनी मनोव्यथा से निस्तार पाने का वही एकमात्र उपाय उनके सामने हुआ करता था। लेकिन गहन हृदय-मथन और आत्मपरीक्षण के बिना उस उपाय का अवलबन नही किया जा सकता था। जबतक 'अतरात्मा की आवाज' स्पष्ट स्वर मे आदेश न देती, वह उपवास आरभ नही करते थे। लेकिन क्या अतरात्मा की आवाज सुनने मे भूल नही हो सकती थी ? क्या अतरात्मा के बदले उनका अहकार ही नही बोल रहा होता था ? गाधीजी ने कभी इनकार नही किया। अतरात्मा की आवाज सुनने मे उनसे गलती हो सकती थी। वह उनका अहकार भी हो सकता था, "लेकिन तब तो अनशन करके मेरा मर जाना ही उचित होता, मुझ जैसे अहकारी के जाल मे फसे लोगो का छुटकारा हो जाता।"

क्या उपवास उत्पीडन और ज्यादती नही ? गाधीजी इस बात को जानते थे कि उनका उपवास लोगो पर नैतिक दबाव की तरह काम करता है। लेकिन अपने से असहमत होनेवालो पर वे इसे कभी नही आजमाते थे, इसका प्रयोजन होता था अपने स्नेहियो और विश्वास-भाजनो की आत्मा को जगाने और आत्मपीडन के माध्यम से अपनी असह्य मनोव्यथा का उन्हे भान कराने के ही लिए। अपने आलोचको से उन्होने कभी यह आशा नही की कि उपवास आदि पर उन लोगो की वही प्रतिक्रिया हो, जो उनके मित्रो, सहयोगियो, साथियो और समर्थको की होती है। लेकिन उनके आत्मदड से अगर विरोधियो और आलोचको को उनकी ईमानदारी मे विश्वास हो सकता तो वह अपने प्रयोजन को बहुत अशो मे पूरा हुआ मान लेते थे। अस्पृश्यता के प्रश्न पर गाधीजी के उपवास ने लोगो की तर्क-बुद्धि को नही, भावनाओ को झकझोरा, और यही गाधीजी चाहते भी थे। समस्या का समाधान लोगो की तर्कबुद्धि को कुरेदकर नही उनकी भावनाओ को—जड आत्मा को—जगाकर ही किया जा सकता था। सदियो से सामाजिक विषमता को प्रश्रय देती आ रही बौद्धिक जडता, कुसस्कार और पर्वाग्रहो को किसी भी तर्क से परास्त नही किया जा सकता। केवल लोगो की भावनाओ को जगाकर ही इस बुराई को मिटाया जा सकता था।

गाधीजी के उपवास की खबर ने सारे देश को हिला दिया। २० सितबर,

के दिन ११ बजे सवेरे गरम पानी में शहद के साथ नीबू का रस लेकर इसके एक घंटे के बाद गांधीजी ने उपवास शुरू किया और वह दिन सारे देश में उपवास और प्रार्थना-दिवस के रूप में मनाया गया। शांतिनिकेतन में कवींद्र रवींद्र ने काले वस्त्र पहनकर एक विशाल सभा में गांधीजी के उपवास के महत्व पर प्रकाश डाला और श्रोताओं को कमर कसकर अस्पृश्यता-निवारण के काम में जुट जाने को उद्बोधित किया।[1] दलित जातियों के प्रति स्नेह और सहानुभूति का जैसे देश में ज्वार ही आ गया। अछूतों के लिए मंदिर, कुएं और अन्य सार्वजनिक स्थान धड़ाधड़ खोले जाने लगे। ब्रिटिश सरकार के सांप्रदायिक निर्णय से भिन्न कोई दूसरी निर्वाचन व्यवस्था खोज निकालने के लिए सवर्ण हिंदुओं और दलित जातियों के नेताओं का एक संयुक्त सम्मेलन भी तत्काल आयोजित किया गया।

समय तेजी से बीतने लगा। सरकार गांधीजी को जेल से रिहाकर पूना में ही किसीके मकान में थोड़े-से प्रतिबंधों के साथ रखने को राजी थी, लेकिन गांधीजी जेल में ही रहकर उपवास करने के पक्ष में थे। सवर्ण और अछूत नेताओं का सम्मेलन बंबई में हो रहा था।[2] उसमें भाग लेने-

---

[1] उपवास आरंभ करने से पहले महात्माजी ने महाकवि को निम्न पत्र लिखा था "अभी मंगलवार की सुबह के ३ बजे हैं। दोपहर के समय मैं अग्निमय द्वार में प्रवेश करूंगा। मैं चाहूंगा कि आप मेरे इस कार्य को आशीर्वाद दें। आप सच्चे मित्र हैं अपने विचारों को प्रायः स्पष्टता से प्रकट कर देते हैं। यदि आपका अंतरात्मा मेरे कार्य की निंदा करे तो भी आपकी आलोचना का बहुमूल्य समझूंगा। आपका हृदय यदि मेरे कार्य को पसंद करे तो मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूं। उससे मुझे सहारा मिलेगा।" रविबाबू ने गांधीजी का यह पत्र मिलने के पूर्व उपवास आरंभ होते ही यह तार भेज दिया था—"भारत की एकता और सामाजिक अविच्छिन्नता के लिए बहुमूल्य जीवन का दान श्रेयस्कर है। हमलोग ऐसे हृदय हीन नहीं हैं कि इस राष्ट्रीय वज्रपात को चरम सीमा तक पहुंचने दें। हमारे व्यथित हृदय आपकी लोकोत्तर तपस्या को श्रद्धा और प्रेम से निहारते रहेंगे।"

[2] पहले बैठकें बंबई में शुरू हुईं, उसके बाद सारी कार्रवाई पूना में हुई। इसलिए इस सम्मेलन का निर्णय पूना-निर्णय या पूना पैक्ट कहलाता है।—अनुवादक

वाले प० मदनमोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, एम० आर० जयकर, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, एन० सी० केलकर, राजेंद्रप्रसाद और मुंजे आदि नेता समझौते का कोई मार्ग जल्दी-से-जल्दी खोज निकालना चाहते थे। लेकिन सब-कुछ दलित जाति के नेताओ के और खासतौर पर डा० अंबेडकर के हाथ मे था। वे पृथक् निर्वाचन के दृढ समर्थक तो थे ही, अपनी केंद्रीय स्थिति के कारण यह भी जानते थे कि सम्मेलन की सफलता-असफलता का सारा दारोमदार भी उन्हींपर है। उनके समर्थन और स्वीकृति के बिना कोई भी तजवीज सरकार के सामने पेश नही की जा सकती थी। उधर गाधीजी का स्वास्थ्य दिनोदिन गिरता जा रहा था, इधर अंबेडकर हर कदम पर अडते जा रहे थे और पूरी सौदेबाजी पर तुले हुए थे। आखिर बहुत खींच-तान के बाद जो समझौता हुआ, वह इतिहास मे पूना-निर्णय (पूना पैक्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। प्रांतीय कौंसिलो और केंद्रीय कौंसिल मे स्थान सुरक्षित करके दलित जाति के प्रतिनिधियो की सख्या साप्रदायिक निर्णय मे निर्धारित सख्या से दूनी कर दी गई, और निर्वाचन-प्रणाली मे भी परिवर्तन किया गया—प्रत्येक सुरक्षित स्थान के लिए दलित जातियो के मतदाता प्राथमिक चुनाव करके चार प्रतिनिधि चुनेगे और उनमे से दलित वर्ग का एक प्रतिनिधि सवर्णो और दलितो के सयुक्त निर्वाचन द्वारा चुना जायगा। सुरक्षित स्थानो द्वारा दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व तबतक जारी रहेगा जबतक दोनो पक्ष आपसी समझौते से उसे समाप्त नही कर देंगे, लेकिन प्राथमिक निर्वाचन की पद्धति दस वर्ष बाद समाप्त हो जायगी। सक्षेप मे ये थी पूना-पैक्ट की सिफारिशे।

सवर्णो और दलित वर्गो मे तो समझौता हो गया, लेकिन जबतक सरकार उसे स्वीकार न करले गाधीजी अपना उपवास तोडने को तैयार न थे। ब्रिटिश प्रधान मत्री अपनी चाची की अत्येष्टि मे भाग लेने के लिए ससेक्स गये हुये थे। वहा से तुरत भागकर लदन आये। उपनिवेश-मत्री सर सैम्युअल होर और गोलमेज परिषद की मताधिकार समिति के अध्यक्ष लार्ड लोदियन से उन्होने विचार-विनिमय किया और अत मे ब्रिटिश-मत्रि-मडल ने पूना-पैक्ट पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। तब कहीं जाकर गाधीजी ने अपना उपवास तोडा।

लोगों की चिंता मिटी और देश ने सुख की सांस ली। लेकिन स्वयं गांधीजी के निकट अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं था। उन्हें अपने भौतिक प्राणों से अधिक लाखों लोगों के नैतिक प्राणों की फिक्र थी। इसलिए उपवास समाप्त करते समय ही उन्होंने यह भी कह दिया कि "यदि उचित समय के भीतर अस्पृश्यता-निवारण-संबंधी सुधार नेकनीयती से नहीं किया गया तो मुझे निश्चय ही नये सिरे से उपवास करना पड़ेगा।" पूना के समझौते के संबंध में उन्होंने अपने हरिजन मित्रों को (गांधीजी के ही शब्दों में, "मैं आगे से उन्हें इसी नाम से पुकारना चाहूंगा") यह विश्वास दिलाया कि "उसका पालन किये जाने के लिए आप मेरे प्राणों को बंधक मानिये।"[1]

पूना पैक्ट के द्वारा दलित जातियों के प्रतिनिधित्व की एक प्रकार की चुनाव-योजना के स्थान पर दूसरे प्रकार की चुनाव-योजना को स्वीकार किया गया। फिर भी गांधीजी के उपवास का इतना शुभ परिणाम हुआ ही कि दलित जातियों के लिए जारी किया गया पृथक् निर्वाचन रद्द हो गया। यदि पृथक् निर्वाचन जारी रहता तो आनेवाले वर्षों में उससे भारतीय समाज को जो क्षति पहुंचती और हिंदू जाति का जिस तरह अंग-भंग और विच्छेद हो जाता, उसकी कल्पना भी भयावह है। अच्छा हुआ कि राजनैतिक जीवन को तोड़ने-फोड़नेवाली यह राष्ट्रीय बुराई उसी समय समाप्त कर दी गई। लेकिन इस समस्या के राजनैतिक और संवैधानिक पक्ष से भी अधिक महत्वपूर्ण था इसका सामाजिक और भावनात्मक पक्ष। दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व की नई चुनाव-योजना तो अगले चार-साढ़े चार वर्ष तक कार्यान्वित न हो सकी, परंतु सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता-निवारण का क्रांतिकारी कार्य तुरंत और तेजी से आरंभ हो गया। उपवास ने सारे हिंदू समाज का 'आत्मिक शुद्धिकरण' कर दिया था। गांधीजी ने तो कहा भी था कि उनके इस उपवास का प्रधान उद्देश्य "हिंदू अंतःकरण में ठीक-ठीक धार्मिक कार्यशीलता उत्पन्न करना था।"

इस प्रकार इतिहास के सबसे बड़े समाज-सुधार-आंदोलन का सूत्रपात एक राजबंदी के हाथों हुआ। गांधीजी जानते थे कि सदियों पुराने सामाजिक

[1] इस संबंध में विस्तृत विवरण जानने के लिए 'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित 'हमारा कलंक' पढ़ना चाहिए।—अनुवादक

अत्याचार को यही चुटकी वजाते मिटाया नही जा सकता। उपवास का जो शुभ परिणाम हुआ था, उसे ठोस काम और प्रचार-प्रसार के द्वारा स्थायित्व देना और पराकाष्ठा तक ले जाना था, अतएव गाधीजी की प्रेरणा से घन-श्यामदास विडला के सभापतित्व मे हरिजनोद्धार के लिए एक अखिल भारतीय सगठन[1] वनाया गया और ठक्करवापा उसके मत्री नियुक्त हुए। जेल से ही गाधीजी ने अनेक प्रेस-वक्तव्यो और अगणित पत्रो के द्वारा अपने सहयोगियो ओर अनुयायियो को हरिजनोद्धार के पवित्र काम मे जुट जाने का आह्वान किया। उन्होने कहा कि इस सवध मे लोक-शिक्षण और लोक-सग्रह का कार्य निष्ठापूर्वक होना चाहिए। "स्वतत्रता का सदेश हरेक हरि-जन के घर मे पहुचना चाहिए और यह तभी हो सकता हे जव सुधार हर एक गाव मे किया जाय।" हरिजन-सेवा और हरिजनोद्धार के आदोलन को गति देने के लिए उन्होने अपने अग्रेजी साप्ताहिक 'यग इडिया' के स्थान पर 'हरिजन' आरभ किया और 'हरिजन सेवक' के नाम से उसका हिंदी सस्करण भी निकाला। वह तो शब्द-कोश मे 'अछूत', अस्पृश्य', 'अत्यज' आदि अपमानजनक शब्दो को ही निकाल देने के पक्ष मे थे। इसीलिए उन्होने दलित वर्गो का नया नामकरण हरिजन—हरि के प्यारे जन—किया। "दुनिया के सभी धर्मो मे ईश्वर को मित्रविहीनो का मित्र, वसहारो का सहारा और दुर्वलो का रक्षक कहा गया है। भारत के अछूत कहे जाने-वाले चार करोड हिंदुओ से अधिक मित्र-विहीन, वेसहारा और दुर्वल कौन हो सकता है ?'

हरिजन-सेवा का कार्य शुरू करने के वाद ही गाधीजी को समस्या की जटिलता, कार्य की गुरुता और मार्ग मे आनेवाली अपार वाधाओ का वास्त-विक ज्ञान हुआ। युग-युगात से चली आती इस बुराई को कैसे मिटाया जाय ? अत मे अपने प्रभु से मार्ग-दर्शन पाने और कार्यकर्ताओ को अपना पवित्रता, सेवाभाव और अधिक नेकनीयती के साथ करने मे सहायता देने के लिए गाधीजी ने ८ मई १९३३ को आत्मशुद्धि के निमित्त २१ दिन का उपवास आरभ किया। सविनय अवज्ञा आदोलन तो उनकी रिहाई के

[1] यही सगठन आगे चलकर 'अखिल भारतीय हरिजन सेवक सघ' मे विकसित हुआ।—अनुवादक

तत्काल बाद ही उनकी सलाह से छः सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया था। थोड़ी-सी शक्ति आते ही उन्होंने "शांति-स्थापना की संभावनाओं का पता लगाने के लिए" तार द्वारा वाइसराय से मिलने की अनुमति मांगी। लार्ड विलिंगडन ने विनम्रतापूर्वक उनकी इस मांग को ठुकरा दिया। १ अगस्त को गांधीजी पुनः गिरफ्तार कर यरवदा-जेल भेज दिये गए। तीन दिन बाद वह रिहा कर दिये गए, लेकिन उन्हें पूना शहर की सीमा से बाहर जाने की अनुमति नहीं दी गई। इस निषेध-आज्ञा का भंग करने पर वह पुनः गिरफ्तार कर लिये गए। इस बार उनपर मुकदमा चला और एक साल की सजा दी गई। जेल में उन्हें हरिजन-कार्य, जो अब देशव्यापी पैमाने पर एक आंदोलन के रूप में चल रहा था, करने की सुविधाएं नहीं दी गईं। उन्होंने इसके विरोध में १६ अगस्त से पुनः उपवास आरंभ किया। पिछले उपवासों से कमजोर तो वह हो ही रहे थे, उनका स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा। सरकार घबराई और उन्हें रिहा कर दिया।

अब गांधीजी ने अपनेको बड़ी ही विषम स्थिति में फंसा हुआ पाया। अगर गिरफ्तार होते हैं तो सरकार जेल में हरिजन कार्य करने की सुविधा नहीं देती। अगर विरोध में उपवास करते हैं तो सरकार रिहा कर देती है। 'बिल्ली-चूहे का यह खेल' खेलना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। इसलिए उन्होंने यह घोषणा की कि जबतक एक साल की सजा की मियाद पूरी नहीं हो जायगी, वह सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेकर सत्याग्रह नहीं करेंगे।

इस प्रकार अपने राजनैतिक कार्यों पर स्वेच्छा से प्रतिबंध लगाकर गांधीजी ने पूरा समय और पूरी शक्ति हरिजनोत्थान के कार्य में लगादी। १९३३ के सितंबर महीने में वह वर्धा चले आये और साबरमती-आश्रम उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' को दान कर दिया। ७ नवंबर को उन्होंने हरिजनोत्थान-कार्य के संबंध में सारे देश का दौरा शुरू किया। ९ महीनों में उन्होंने कुल मिलाकर साढ़े बारह हजार मील की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान वह देश के ऐसे अंदरूनी और अगम्य भागों में भी गये जहां अभी तक कोई नेता या सार्वजनिक कार्यकर्ता पहुंच नहीं पाया था। उन्होंने सवर्ण हिंदुओं से हरिजनों के संबंध में अपने सारे पूर्वाग्रहों को छोड़ने का अनुरोध

किया। हरिजनो को उन्होने सलाह दी कि वे मास खाना, शराब पीना और दूसरी सारी कुरीतिया छोड दे। उन्होने लोगो को समझाया कि हरिजनो को भी मदिर मे जाने की इजाजत मिलनी चाहिए—"माना कि मदिर पापियो के लिए है, हरि के प्यारो और पवित्रात्माओ के लिए नही, पर यह फैसला कौन करे कि हममे कौन पवित्रात्मा है और कौन पापी ?" जन्म से छूत-अछूत और छाया से भी छूत माननेवालो की उन्होने हर जगह निदा की—जन्म से ही किसीका शरीर अछूत कैसे हो सकता है ? किसीकी छाया से छूत कैसे लग सकती है ? एक गाव मे उनसे कहा गया कि हरिजन स्नान नही करते तो उन्होने वही बोलनेवाले का मुह पकड लिया—"नहाने से क्या होता है ? भैसे तो दिन-भर पानी मे ही पटी रहती है।"

हर क्षण वह हरिजन-फड के लिए धन-सग्रह करने मे लगे रहते, कोई अवसर हाथ से न जाने देते थे। इस महीने मे उन्होने आठ लाख रुपया इकट्ठा कर लिया था। अगर चाहते तो इतनी रकम किसी एक ही महाराजा, मिल-मालिक अथवा करोडपति से ले सकते थे। लेकिन महत्व पैसे का नही, हरिजन-कार्य मे ज्यादा-से-ज्यादा लोगो के सक्रिय सहयोग का था। उनके भिक्षा-पात्र मे पाई-पैसा और अन्नी-चवन्नी डालनेवाले लाखो-करोडो स्त्री-पुरुष और बच्चे अस्पृश्यता-निवारण-आदोलन मे उनके सहायक और समर्थक बन जाते थे। हर अवसर का उपयोग वह अपने निराले ढग से जनता को शिक्षा देने मे कर लेते थे। मलाबार (अब केरल) मे, जिसे वह भारत के लिए अस्पृश्यता का कलक कहा करते थे, जब एक लडकी ने अपनी सोने की चूडिया हरिजन-फड मे दे दी तो उन्होने उससे कहा था—"तुम्हारा सच्चा आभूषण तो यह त्याग है, वह गहना नही, जो तुमने दे दिया।" वे महिलाओ मे भाव-मोल करते—"मेरे हस्ताक्षरो की कीमत सिर्फ एक चूडी ?" आध्र प्रदेश के तेलुगुभाषियो को मुक्त हस्त से दान न करते देख उन्होने उलहना दिया था—"आध्रवासी स्काटलैड के निवासियो की तरह कजूस तो नही है !" हाथ देखने के इच्छुक एक ज्योतिषी को उन्होने यह कहकर फटकार दिया—"मै हरिजन-कार्यकर्ता हू। मेरा समय फालतू नही।" गाव के एक डाक्टर से उन्होने पूछा था—"आपके पास अस्पृश्यता का भी कोई इलाज है ?"

लेकिन इससे यह धारणा बना लेना कि गांधीजी को अपने हरिजन दौरे में सर्वत्र सफलता मिली, सही नहीं होगा। वह परंपरागत अत्याचार पर आघात कर रहे थे, इसलिए निहित स्वार्थों का बौखलाकर प्रत्याघात करना स्वाभाविक ही था। सनातनियों ने गांधीजी का विरोध करने में कोई कसर बाकी न छोड़ी। उन्होंने गांधीजी को धर्म का द्रोह करनेवाला, नास्तिक, पाखंडी, पापी, भ्रष्ट और क्या नहीं कहा। उन्होंने गांधीजी को काले झंडे दिखाये, उन्होंने उनकी सभाओं में विघ्न डाला और शोर मचाकर उन्हें बोलने से रोका। ये थोड़े-से सिरफिरे या उत्तेजित लोगों का हंगामा नहीं, अहिंसा के पुजारी को बदनाम और असफल करने की पूर्व-विचारित योजनाएं थीं। वे चाहते थे कि गांधीजी के अनुयायी किसी तरह उकसावे में आकर हाथ छोड़ बैठें या पुलिस को ही बुला लें और उन्हें गांधीजी की अहिंसा का पर्दाफाश करने का मनचाहा अवसर मिल जाय। १९३४ के मई महीने में वह पुरी पहुंचे और वहां से उन्होंने उड़ीसा का शेष दौरा पैदल ही करने का निश्चय किया। लोगों ने कहा कि इस तरह तो आप बहुत थोड़े गांवों में जा सकेंगे तो उन्होंने जवाब दिया था कि थोड़े ही सही, परंतु उन्हें ज्यादा अच्छी तरह देख और जान सकूंगा। इससे दो लाभ हुए—एक तो रेल-मोटर के भीड़-भड़क्के और शोरगुल से उन्हें मुक्ति मिल गई, दूसरे, उन्होंने अपनेको पूरी तरह विरोधियों के हाथ में सौंप दिया—यह था विरोधियों को परास्त करने का उनका अपना ढंग।

२५ जून, १९३४ को गांधीजी बाल बाल बचे। वह अपने दलसहित पूना म्युनिसिपैलिटी का मानपत्र ग्रहण करने के लिए दो मोटरों में म्युनिसिपल हाल की ओर जा रहे थे। एक व्यक्ति ने, जिसका पता अब तक नहीं लग सका, उनके दल के लोगों पर बम फेंका। गांधीजी तो बच गये, लेकिन म्युनिसिपल अधिकारी सहित सात लोगों को गहरी चोटें आईं। गांधीजी ने उस 'बेचारे' बम फेंकनेवाले पर 'रहम खाते' हुए कहा था—"शहीद होने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं है, लेकिन अपने विश्वास की रक्षा और कर्त्तव्य का पालन करते हुए मरना भी पड़े तो मैं उसे अपना सौभाग्य समझूंगा।"

सनातनियों का विरोध कम न हुआ और दलित जातियों के बहुत-से

नेताओ का रुख भी आलोचनात्मक ही रहा, परतु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि गाधीजी युगो पुरानी अछूत-प्रथा की जडे हिलाने मे सफल हुए। उस समय के मदरास के प्रमुख काग्रेसी नेता चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने 'क्राति की पूर्णाहुति' नामक अपने एक लेख मे लिखा था—"अस्पृश्यता अभी मिटी नही है, लेकिन वास्तव मे क्राति पूरी हो गई है और अब तो केवल मलबे को हटाने का काम रह गया है।" यह अतिरजना या आशातिरेक ही था, लेकिन इसमे तो कोई सदेह नही कि हरिजनोत्थान का काम अच्छी गति से आरभ हुआ और तेजी से बढता जा रहा था। १९३७-३९ के काग्रेसी मत्रिमडलो ने हरिजनो के हित मे कुछ कानून बनाकर उनके मार्ग की बहुत-सी बाधाओ को दूर कर दिया, और स्वतत्र भारत[1] के सविधान मे तो अस्पृश्यता को गैर-कानूनी और अपराध ही घोषित किया गया। सदियो से गहरी जडे जमाये हुए सामाजिक अन्याय और अत्याचार के खिलाफ वैधानिक, सामाजिक और आर्थिक सभी मोर्चो पर सतत सघर्ष की आवश्यकता थी और आनेवाले कई वर्षो तक यह लडाई सभी मोर्चो पर बराबर लडी जाती रही।

: ३२ :

ग्रामीण अर्थव्यवस्था

सविनय अवज्ञा आदोलन तो यो भी शिथिल होता जा रहा था और जब गाधीजी ने १९३२ की सर्दियो मे अछूतो के सवाल पर आमरण

---

[1] गाधीजी 'हरिजन' के पहले ही अक से निम्नलिखित को ध्येय वाक्य के रूप में प्रकाशित करते रहे थे—"अब भविष्य में हिंदू जाति में किसीको जन्म से अस्पृश्य नही समझा जायगा और जिन्हें अबतक अस्पृश्य समझा जाता रहा है, उन्हे अन्य हिंदुओ की भाति ही कुओं, पाठशालाओ, सडकों और अन्य सार्वजनिक सस्थाओ का उपयोग करने का अधिकार रहेगा। मौका मिलते ही इस अधिकार को कानून का स्वरूप दे दिया जायगा और यदि पहले न दिया गया तो स्वराज्य पार्लामेंट का पहला कानून इस सबध में होगा।" —अनुवादक

अनशन आरंभ किया तो राष्ट्र का ध्यान इस ओर से हटकर उधर केंद्रित हो गया। हरिजन-कार्य अपेक्षाकृत निरापद भी था, इसलिए कई कांग्रेसजनों ने बड़ी प्रसन्नता से उसे अपना लिया। मई १९३३ में सविनय अवज्ञा का अस्थायी रूप से स्थगित किया जाना पूरे आंदोलन के लिए घातक हो गया। बदले में व्यक्तिगत सत्याग्रह अवश्य आरंभ किया गया था, लेकिन सरकार ने उसे कोई खास महत्व नहीं दिया, क्योंकि इससे उसे कोई विशेष परेशानी नहीं हुई थी। सरकार के कठोर दमन ने देश को कुछ समय के लिए लुंज अवश्य कर दिया था, पर अधिकांश कांग्रेसजनों का ऐसा खयाल था कि यदि गांधीजी ने अपनी कार्यनीति के नैतिक पक्ष पर इतना अधिक जोर देने के बदले उसके राजनैतिक पक्ष पर पूरा जोर दिया होता तो सरकार को अवश्य घुटने टेक देने पड़ते। कांग्रेसजनों ने अहिंसा को स्वराज्य-प्राप्ति के लिए महज एक नीति के रूप में स्वीकार किया था, बल-प्रयोग न करने के लिए वे राजी हो गये थे, लेकिन गांधीजी ने अपने-आपको जितने नैतिक बंधनों से बांध लिया था, उससे उन लोगों को बड़ी झुंझलाहट होती थी। मई १९३३ में गांधीजी ने खुले आम गुप्त कार्य की निंदा की और उसे सत्याग्रह के सर्वथा प्रतिकूल बताया, जबकि सरकारी दमन के मारे हाल यह था कि छिपकर कांग्रेस का काम करना भी लगभग असंभव ही हो गया था।

जनता तो चट मंगनी और पट ब्याह के लिए बेचैन थी—वह त्वरित परिणाम चाहती थी। १९२० के असहयोग-आंदोलन की तेजी और जोश का खास कारण था 'एक साल में स्वराज्य' का नारा। १९३० और उसके बाद १९३२ में भी जनता ने यही आशा लगा रखी थी कि सविनय अवज्ञा की लड़ाई थोड़े दिन चलेगी और जल्दी-से उसका मनचाहा नतीजा सामने आ जायगा। सविनय अवज्ञा के बारे में जनता की धारणा गांधीजी की परिकल्पना से सर्वथा भिन्न थी। गांधीजी सविनय अवज्ञा को सत्याग्रह का अंग और सत्याग्रह को जीवन का ऐसा तरीका समझते थे, जिसके द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी तरह की समस्याओं को हल किया जा सकता था। उन्होंने सत्याग्रह को विज्ञान की संज्ञा दी थी, लेकिन एक जीवित, सतत विकासशील और सदा निर्मित होते रहनेवाला विज्ञान। उसके कोई बंधे-सधे नुस्खे तो थे नहीं। समस्याओं के बने-बनाये तैयार

समाधान हुआ भी नही करते। सत्याग्रही को सत्य की शोध करनी होती है, उसे सहेजना होता है, उसके लिए निरतर कार्य करना होता हे और आवश्यकता पडने पर उसके लिए कष्ट भी झेलने होते है।

क्रातिकारी आदोलन, चाहे वह अहिसात्मक ही क्यो न हो, उसके उफान और जोश को अनिश्चित काल तक कायम नही रखा जा सकता। लगभग ७८ हजार काग्रेस-जन जेल गये थे। हजारो ने अपने सुख-चैन को देश पर न्योछावर कर दिया था और कइयो के स्वास्थ्य ही नही, घर-बार भी चौपट हो गये थे। यदि स्वतत्रता की उमग अधिक बलवती होती तो जेल जाने-वालो की कमी न होती, कडा-से-कडा दमन सत्याग्रहियो के जेल की ओर जाते हुए प्रवाह को रोक न पाता, लेकिन गाधीजी को अफसोस इस बात का नही था कि थोडे लोग जेल गये, संख्या को वहा महत्व नही देते थे, उन्हे तो यह शिकायत थी कि अहिसात्मक रहते हुए भी आदोलनकारियो के दिलो मे ब्रिटिश जाति के प्रति घृणा के भाव विद्यमान रहे। उनका कहना था कि ब्रिटिश राज्य का विरोध करनेवालो मे से यदि थोडे-से भी लोग इस घृणा-भावना से मुक्त हो जाते तो वे अपने शासको का हृदय परिवर्तन करने मे अवश्य सफल होते। सविनय अवज्ञा के चार वर्ष के बाद भी अग्रेजो का हृदय-परिवर्तन नही हो पाया था, उनकी कटुता, कठोरता और काग्रेस के प्रति सदेहशीलता पहले से ही थी, और आतकवाद अब भी यहा-वहा सिर उठा रहा था। अत मे गाधीजी इस नतीजे पर पहुचे कि जनता अहिसा के उनके सदेश को ठीक तरह से आत्मसात् नही कर पाई, इसलिए देश को अहिसा-व्रत मे पूरी तरह दीक्षित करने के लिए सविनय अवज्ञा को स्थगित कर उसके स्थान पर रचनात्मक कार्यक्रम आरभ करना उचित होगा।

गाधीजी का यह विश्वास भी दृढ होता गया कि उनके कुछ अनुयायियो को उनके तरीको और विचारो से अरुचि हो गई है और उनसे सहमत न होते हुए भी वे उनकी नीतियो को स्वीकार करने का बहाना करते हैं। उनका ऐसा खयाल भी होता जा रहा था कि काग्रेस पर उनका व्यक्तित्व इस कदर छा गया है, जिससे उसके जनवादी ढग से काम करने मे बाधा पहुचती है। अनुयायियो की ऐसी श्रद्धा-भक्ति को न वह उचित समझते थे और न सहन ही कर सकते थे। और फिर अकेला सविनय अवज्ञा का

स्थगन ही मतभेद का कारण नहीं था। दृष्टिकोण-सबधी मतभेद तो और भी कई थे, लेकिन जबतक सरकार से सघर्ष चलता रहा, वे दबे पड़े रहे, तीव्रता से उभरकर ऊपर नही आये। आदोलन के शिथिल होते ही मतभेदो ने उग्र रूप धारण कर लिया। अस्पृश्यता-निवारण के सबध मे गाधीजी के नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण को उनके बहुत-से अनुयायी सही नही मानते थे। जब गाधीजी ने चरखा चलाने पर फिर से जोर देना शुरू किया और उसे "राष्ट्र का दूसरा फेफड़ा" कहा तो उनके अनेक सहयोगियो को उनकी यह बात भी उचित नही लगी। उदीयमान समाजवादी गुट को वह स्वय अविश्वास की दृष्टि से देखते थे और उसे 'जरदबाजो' की टोली कहते थे।

लेकिन काग्रेस के बुद्धिजीवीवर्ग और उनके विचारो मे सबसे अधिक अतर था अहिंसा के प्रश्न को लेकर। उन्हे यह देखकर बड़ी पीड़ा होती थी कि लगातार पन्द्रह वर्ष तक सिखाने और आचरण करने के बाद भी अपने-को गाधी-मतावलबी कहनेवाले लोग अहिंसा को न तो ठीक से समझ पाये थे और न अपना ही सके थे। सामूहिक सविनय अवज्ञा आम काग्रेस-जन को जरूर पसन्द आई थी, लेकिन वह तो गाधीजी की अहिंसात्मक कार्य-प्रणाली का सिर्फ एक अग थी। रचनात्मक कार्यक्रम उसका दूसरा पहलू था, जिसे अधिकाश काग्रेसजन अराजनैतिक समझते थे।

इन मतभेदो के ही कारण गाधीजी अक्तूबर १९३४ मे काग्रेस से अलग हो गये। उन्होने सरदार पटेल को लिखा था—"मैं नाराज होकर, तैश में आकर या निराशा के कारण पृथक् नही हो रहा हू।" वह काग्रेस को आजाद कर रहे थे और अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए खुद आजाद हो रहे थे। उसके बाद के तीन वर्ष उन्होने राजनैतिक कार्यो मे नही, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन, मनन और ग्रामोद्धार के काम मे लगाये।

अक्तूबर १९३४ की बबई काग्रेस ने जहा गाधीजी के इस्तीफे को मजूर किया, वही उनके निर्देशन मे अखिल भारत ग्रामोद्योग सघ की स्थापना का प्रस्ताव भी पास किया। 'ग्रामोद्योग-सघ काग्रेस की राजनैतिक हल-चलो से परे रहकर' ग्रामोद्योग की रक्षा और उन्नति एव गावो के नैतिक तथा आर्थिक उत्थान के लिए काम करने के उद्देश्य से बनाई गई थी। गाधीजी अपनी और काग्रेस की गति-विधियो को जो नई दिशा दे रहे थे, यह प्रस्ताव

उसीका सूचक था।

१९१५ मे भारतीय राजनीति मे प्रवेश करने के बाद से ही गाधीजी गावो के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर जोर देते आ रहे थे। जमीन पर वेहद दबाव और सहायक उद्योगो के अभाव के कारण गावो मे कभी छ तो कभी बारहो महीने वेकारी बनी रहती थी। किसानो की यह घोर दरिद्रता गाधीजी को एक क्षण भी चैन नही लेने देती थी। चरखे से किसानो को तात्कालिक राहत मिल जाती थी, इसीलिए गाधीजी उसका इतना समर्थन और प्रचार करते थे। अखिल भारत चर्खा सघ की स्थापना गाधीजी ने ही की थी और उसके कामो मे अपना काफी समय और शक्ति लगाते रहे थे। इस सस्था ने दस वर्षों मे अपना कारवार खूब बढा लिया था। ५३०० गावो मे इसकी शाखाए थी और इसने कुल मिलाकर २,२०,००० कताई करनेवालो, २०,००० बुनकरो और २०,००० धुनकियो को रोजी-रोटी दी थी और गावो मे दो करोड रुपये से भी ज्यादा का भुगतान किया था। आज के युग मे, जबकि सरकारी योजनाओ के अतर्गत काफी बडे-बडे काम किये जा रहे है। ये आकडे उतने महत्वपूर्ण नही लगेगे, लेकिन जिस ज़माने मे विदेशी शासन पग पग पर बाधाए पहुचा रहा हो, एक सस्था का इतना ठोस काम निस्सदेह प्रशसनीय कहा जायगा।

गाधीजी बहुत अच्छी तरह जानते थे कि अखिल भारत चरखा सघ ने जो कुछ किया है, वह गावो की गरीवी को देखते हुए केवल समदर मे बूद की तरह था। असली काम था गावो की आमूल आर्थिक क्राति और अब गाधीजी इसी दिशा मे प्रवृत्त होना चाहते थे। हरिजन-यात्रा के दौरान मे उन्होने देखा और अनुभव किया था कि ग्रामीण उद्योगो के नष्ट हो जाने से सबसे अधिक हानि हरिजनो को उठानी पडी थी। वे आर्थिक दुरवस्था की अन्तिम सीमा तक पहुच गये थे। इस प्रकार गाधीजी के अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम का एक आर्थिक पहलू भी था। हरिजनो की आर्थिक स्थिति को उन्नत किये विना उनका उद्धार असभव ही था। इस दृष्टि से भी ग्रामोद्योगो का पुनर्विकास गाधीजी के निकट अत्यत आवश्यक और अपरिहार्य हो गया था। जिस स्वदेशी व्रत का देश की राजनैतिक चेतना और जोश को बढाने मे इतना अधिक हाथ था, अब १९३४-३५ मे गाधीजी ने उसे एक नये

अर्थ-बोध से मंडित कर दिया। उन्होंने कहा कि स्वदेशी का मतलब यही नहीं है कि वस्तु-विशेष देश मे बनी हुई हो, बल्कि वह गाव की बनी हुई होनी चाहिए। उन्होंने नगरनिवासियो से अनुरोध किया कि वे अपने दैनिक उपभोग की वस्तुओं को ध्यान से देखे कि उनमे कौन स्वदेशी और कौन विदेशी है और एक-एक करके उन्हे गाव की बनी चीजो मे बदलते चले जाय। सफाई के ब्रुश की जगह झाडू काम आ सकती है, 'टूथ ब्रुश' की जगह नीम या बबूल की दातौन का इस्तेमाल हो सकता है, कारखाने के पालिश किये हुए चावल के बदले हाथकुटे चावल का, कारखाने की चीनी के बदले गुड का और मिल के कागज़ की जगह हाथ के बने कागज का उपयोग किया जा सकता है। गाव की बनी चीजे कुछ महगी हो सकती है, लेकिन उनकी मज़ूरी और मुनाफा भी तो गाववालो को ही मिलेगा, जिन्हे रोजी-रोटी की इतनी अधिक आवश्यकता है। गाधीजी ने लिखा भी था—"नगरवालो के लिए गाव अछूत है। नगर मे रहनेवाला गाव को जानता भी नही। वह वहा रहना भी नही चाहता। अगर कभी गाव मे रहना पड ही जाता है तो शहर की सारी सुविधाए जमा करके उन्हे शहर का रूप देने की कोशिश करता है। अगर वह तीस करोड ग्रामवासियो के रहने लायक शहरो का निर्माण कर सके तो यह कोशिश बुरी नही कही जायगी।"

भारत की ८५ प्रतिशत जनसख्या गावो मे रहती थी, इसलिए उनका आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान देश को विदेशी शासन से मुक्त करने की आवश्यक शर्त थी। शहर द्वारा गाव के शोषण को गाधीजी ने हिंसा का ही एक रूप माना था। उनका कहना था कि शहर और गाव के बीच के आर्थिक और सामाजिक अतर को मिटाना ही होगा। इसके लिए उनका सुझाव था कि शहर से कार्यकर्ताओ को गावो मे जाना चाहिए और वही बसकर गावो के म्रियमाण या मरणशील उद्योगो को पुनर्जीवित कर पोषण, शिक्षा और सफाई के स्तर को उन्नत करना चाहिए। गाधीजी चाहते थे कि गावो मे काम करनेवाले कार्यकर्ता गाववालो की तरह रहे, उन्हे गाववालो की ही तरह थोडे मे गुजर करना चाहिए। यदि उन्होने अपनी गुजर-बसर के लिए ज्यादा पैसा मागा तो गाववालो का दिवाला ही पिट जायगा।

गाधीजी जो कहते थे सबसे पहले स्वय उसपर आचरण करके दिखाते थे। इसलिए उन्होने वर्धा से थोडी दूर सेगाव मे बसने का निश्चय किया। यह बहुत ही छोटा और पिछडा हुआ गाव था। जनसख्या मुश्किल से ६०० होगी। न पक्की सडक थी, न कोई दुकान और न डाकखाना ही। सेठ जमनालाल बजाज की इस गाव मे कुछ ज़मीन थी। गाधीजी ने उस ज़मीन पर अपने रहने के लिए एक छोटी-सी कुटिया बना ली। वर्षाकाल मे जो उनसे यहा मिलने के लिए आते थे, उन्हे कीचड मे चलकर आना पडता था। यहा की आबहवा भी बहुत खराब थी। पेचिश और जूडी बुखार ने गाव मे किसीको भी नही छोडा था। गाधीजी खुद बीमार पड गये, लेकिन सेगाव न छोडने का उनका प्रण अटल रहा। वह यहा अकेले ही आये थे। कस्तूरबा तक को साथ नही आने दिया था। सेगाव के निवासियो मे से ही वह ग्राम-कार्यकर्ताओ का अपना दल बनाना चाहते थे। लेकिन अपने नये-पुराने शिष्यो को सेगाव आने और वहा बसने से वह रोक भी न सके। १९३७ मे जब डॉ० जान माट सेगाव गये तो वहा अकेली गाधीजी की कुटिया थी। थोडे ही दिनो मे उसके आस-पास बास के टट्टरो और गारे-मिट्टी की कई झोपडिया बन गई। उस बस्ती के निवासियो मे प्रो० भसाली थे, जिन्होने अपने ओठ सी लिये थे और जगलो मे नगे घूमा करते थे और सिर्फ नीम की पत्तिया खाकर गुजर करते थे। मॉरिस फाइटमेन नामक एक पोलैंड-निवासी सज्जन थे, जो हस्तशिल्प और गृहोद्योग पर आधारित अहिसात्मक समाज-व्यवस्था के गाधीवादी आदर्श से प्रभावित होकर गाधीजी के शिष्य बन गये थे। सस्कृत के एक प्रकाड विद्वान् थे, जिन्हे कुष्ट रोग हो गया था, और गाधीजी स्वय उनकी परिचर्या करते थे, इसलिए अपनी कुटिया के पास ही उन्होने उनकी झोपडी बनवा दी थी। एक जापानी साधु भी थे, जो (महादेव देसाई के शब्दो मे) घोडे की तरह काम करते और तपस्वी की तरह रहते थे। शायद इसीलिए वल्लभभाई पटेल सेगाव को 'आदमियो का चिडियाघर' कहते थे और गाधीजी ने उसे कई बार 'रोगियो का घर' कहा था।

शीघ्र ही सेगाव का नाम बदलकर सेवाग्राम हो गया। सेवाग्राम को आश्रम का रूप देने की बात गाधीजी के मन मे कभी आई ही नही। इसी-लिए वहा आश्रम-जीवन के नियम-कानूनो की पाबदी कभी नही रही।

स्वभाव और समझ मे भारी वैषम्य और ज्ञान तथा शिक्षा-दीक्षा मे भारी अतर होते हुए भी वे चित्र-विचित्र लोग गाधीजी के प्रति अपने-अपने स्नेह और श्रद्धा-भक्ति के जोर से एव ग्राम-सेवा के समान आदर्श मे अनुप्रेरित होकर वहा खिचे चले आये थे। यह चित्र-विचित्र मेला गाधीजी की अहिंसा की प्रयोगशाला थी। महादेवभाई के शब्दो मे, "वह अहिंसा को राजनीति के व्यापक क्षेत्र मे लागू करने से पहले यहा प्रयोग के द्वारा परखकर देख लिया करते थे। यदि अहिंसा इस घरेलू स्तर पर खरी उतरी तो राजनीति मे उसकी सफलता असदिग्ध हो जाती और यही वजह थी, जिसके कारण बापू सेवाग्राम लौट आने के लिए इतने अधीर रहा करते थे। यहा उन्हे अहिंसा के अपने परीक्षण और नये-नये प्रयोग करने की पूरी स्वतत्रता थी। यह सच है कि उनकी प्रयोगशाला के उपकरण जटिल थे और इसलिए उनका काम काफी कठिन हो जाता था, लेकिन साथ ही यह भी सच है कि कठिनाई जितनी ज्यादा होती थी, उस बडे काम को करने की उनकी क्षमता और सामर्थ्य भी उतनी ही बढ जाती थी।"

सेवाग्राम शीघ्र ही गाधीजी की ग्राम कल्याण योजनाओ का केन्द्र बन गया। वहा और उसके आस-पास गावो मे समाज-सुधार और आर्थिक उन्नति का काम करनेवाली बहुत-सी सस्थाओ का निर्माण हुआ। अखिल भारत ग्रामोद्योग सघ का प्रधान कार्यालय मगनवाडी (वर्धा) मे रखा गया। कम पूजी और सिर्फ गाव की ही मदद से चल सकनेवाले उद्योगो की सहायता, विकास और विस्तार के लिए इस सस्था ने वहा ग्रामीण कार्यकर्त्ताओ का एक प्रशिक्षण-केन्द्र भी शुरू किया। 'ग्रामोद्योग पत्रिका' के नाम से यह सस्था अपना एक पत्र भी प्रकाशित करने लगी। इसी तरह गो-सेवा-सघ, हिंदुस्तानी तालीमी सघ, महिलाश्रम, तेल-घानी केन्द्र आदि और भी कई सस्थाए थी।

भारत के सात लाख गावो को गरीबी, बीमारी और अज्ञान के अभिशापो से मुक्त करना आसान काम नही था। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रो मे निरतर काम, काम और काम करते रहने की जरूरत थी। ग्रामोद्योगो से गाववालो की बेकारी मिटाई जा सकती थी, उन्हे रोजी मिलती और इस तरह गावो की क्रय-शक्ति मे वृद्धि होती। साथ ही ग्रामोद्योगो के माध्यम से गाव-

वालो की निष्क्रियता, जडता और आलस्य को भी मिटाया जा सकता था। गाधीजी ने लिखा था—"सेगाव के चारसौ वयस्क अगर मेरे कहने के अनुसार काम करे तो साल मे आसानी से दस हजार रुपया कमा सकते है। लेकिन वे काम करेंगे ही नही। सहयोग करना वे जानते नही। बुद्धिपूर्वक श्रम करने का उन्हे ज्ञान नही। नई कोई बात वे सीखना नही चाहते।"

पोषण अथवा पुष्टिकर आहार की समस्या पर भी गाधीजी बराबर लिखते और भाषण देते रहे थे। जब विद्यार्थी थे तभीसे वह भोजन और उपवास के प्रयोग अपने-आपपर करने लग गये थे। पुष्टिकर भोजन की समस्या का महत्व उनके निकट उस समय और भी बढ गया जब उन्होने यह देखा कि भारतीयो को पूरा पोपण न मिल पाने की वजह गरीबी ही नही, भोजन के पोषण-तत्त्वो के सबध मे उनका घोर अज्ञान भी है। हरी सब्जियो के रहते, और जो सब जगह बडी आसानी से मिल जाया करती थी, वह विटामिनो की कमी का कोई बहाना सुनने को तैयार न थे। भारतीय वैज्ञानिको से भारतीय परिस्थितियो के सदर्भ मे भारतीयो के भोजन पर अनुसधान करने का अनुरोध वह बराबर करते रहे। 'एक अनुभवी रसोइये' के नाते उन्होने भोजन पकाने के ऐसे तरीको के बारे मे लिखा, जिनसे भोजन के पोषक तत्व नष्ट नही होते और चक्की के आटे से हाथ के पिसे आटे एव मिल के चावल से हाथकुटे चावल की श्रेष्ठता पर भी हमेशा ज़ोर देते रहे। उन्होने एक बार कहा भी था—"कपडा-मिले अपने पीछे बेकारी लाई और आटे तथा चावल की मिले पोपक तत्त्वो की कमी से होनेवाली बीमारिया।"

गाधीजी जानते थे कि शहर के बुद्धिजीवी वर्ग की सक्रिय सहायता के बिना गावो का उद्धार असभव है। इसलिए उन्होने काग्रेस को अपने वार्षिक अधिवेशन गावो मे करने की सलाह दी। फैजपुर-काग्रेस इस दिशा मे पहला कदम था। उसके बाद तो हरिपुरा, त्रिपुरी आदि कई अधिवेशन ग्रामीण-क्षेत्रो मे हुए और होते जा रहे हे। गाधीजी का कहना था कि ग्रामीण क्षेत्रो के अधिवेशन मे शहरो का हो-हल्ला और भीड-भडक्का नही होता, कटीले तारो का खर्च बच जाता है, क्योकि गाव की बागुडो से घेरेबदी का काम हो जाता है और गावो के हस्तशिल्प और कुटीर-उद्योगो की प्रदर्शनियो से

दर्शकों का मनोरंजन ही नहीं, ज्ञानवर्द्धन भी होता है।

हर समस्या को वह गांव की आवश्यकता और ग्रामीणों के दृष्टिकोण से देखते-समझते थे और उनका ग्रामोपयोगी हल खोजते थे। कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि पूर्णतः ग्राममूलक थी। स्वराज्य उनके निकट ग्राममूलक था और शिक्षा भी ग्राममूलक थी। उस समय की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से वह पूरी तरह असंतुष्ट थे और उसे अनुपयुक्त और बरबादी कहा करते थे। एक तो देश की बहुसंख्यक जनता के लिए शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी और दूसरे वह जीवन से इतनी कटी-छटी और अनुपयोगी होती थी कि गांव की प्राथमिक पाठशाला में पढ़नेवाले पढ़ाई छोड़ने के कुछ ही समय बाद सब पढ़ा-लिखा भूल जाते थे—वह आगे कभी उनके काम ही नहीं आता था।

ऊंची कक्षाओं में अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। इससे ग्रामीणों और उच्च शिक्षा पाये हुए लोगों के बीच एक दीवार खड़ी हो गई थी। जो वास्तव में जनोपयोगी हो, ऐसी शिक्षा-प्रणाली निर्धारित करने के लिए प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन जाने पर गांधीजी ने कांग्रेसी शिक्षा-मंत्रियों और शिक्षाशास्त्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया था। उसने 'बुनियादी शिक्षा प्रणाली' के नाम से जो सिफारिशें की थीं, उनके पक्ष और विपक्ष में बहुत-कुछ कहा गया, लेकिन इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि प्रचलित शिक्षा-पद्धति की रूढ़िबद्धता को मिटाने का वह एक स्तुत्य प्रयत्न था।[1]

ग्रामोत्थान श्रम-साध्य और समय-साध्य कार्य था—बराबर लगे रहो, रात-दिन एक कर दो तब कहीं जाकर जरा-सा परिणाम दिखाई देता था। गांधीजी ने ठीक ही कहा था कि यह घोर उद्यमशील व्यक्तियों के लिए भी चींटी की चाल-जैसा काम है। इस काम की न अखबार में खबरें छपती थीं और न इससे सरकार को कोई परेशानी ही होती थी। गांधीजी के कई सहयोगियों का कहना था कि ऐसे निरापद काम से स्वाधीनता-प्राप्ति के लक्ष्य में क्या सहायता मिल सकती है? यह तो मुख्य राजनैतिक सवाल को

[1] बुनियादी शिक्षा प्रणाली या 'वर्धा-योजना' पर अगले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

उलझन मे डालकर गौण समस्याओ की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करना हुआ। गाधीजी ने इसका यह जवाब दिया था—"मेरी समझ मे नही आता कि जब सरकार की आर्थिक नीतियो का ऊहापोह राजनैतिक काम माना जा सकता है तो ग्रामोत्थान की अत्यत आवश्यक समस्याओ पर सोचना-विचारना और उनका हल खोजना राजनैतिक क्यो नही है ?"

गाधीजी के ग्राम-विकास-कार्य की ज्यादा तीखी और कुछ गभीर किस्म की आलोचना यह कहकर की जाती थी कि वह विज्ञान और उद्योग की प्रगति से मुह मोडकर जिस आदिकालीन अर्थ-नीति की सिफारिश कर रहे है वह तो देश को गरीबी के गड्ढे से कभी उबरने ही न देगी। 'हिंद स्वराज्य' मे गाधीजी ने मशीनो, कारखानो और औद्योगिक सभ्यता की बडी कडी आलोचना की थी। लेकिन बाद के चालीस वर्षो मे उनके विचारो मे काफी परिवर्तन और विकास हुआ। अहिंसा की दृष्टि से उन्होने मशीनो की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर काफी मनन किया और इस नतीजे पर पहुचे कि मशीनीकरण से धन और सपत्ति थोडे-से लोगो के हाथो मे केंद्रित हो, जाती है। एक ऐसे देश मे, जहा काम कम और करनेवाले ज्यादा लोग हों मशीनो से आम जनता की गरीबी और बेकारी बढती ही जाती है। यदि मशीनो मे देश की गरीबी और बेकारी मिट सकती ' तो वह बडी-से-बडी मशीनो के उपयोग का समर्थन करने को तैयार थे।" वह कहते थे कि 'मास प्रोडक्शन' (बडे पैमाने पर उत्पादन) और 'प्रोक्डशन फार दि मासेज' (जनता के लिए उत्पादन) मे बडा अतर है। मुक्त उद्यम के अतर्गत बडे पैमाने पर उत्पादन तो अमीरो को ज्यादा अमीर और गरीबो को ज्यादा गरीब बना देता है। वह मशीन मात्र के विरोधी नही थे। यो तो जिस चरखे को वह इतना मानते और महत्व देते थे, वह भी एक तरह से मशीन या यत्र ही था, लेकिन वह जनता को लाभ पहुचानेवाला यत्र था, हानि पहुचानेवाला नही। वह ऐसे सरल यत्रो और उपकरणो का स्वागत करते थे, जो मानवी अवयवो को दुर्बल किये बिना लाखो-करोडो ग्रामवासियो के बोझ को हलका कर सके। सिलाई की मशीन को वह इसी कोटि की मशीन समझते थ। लेकिन इस तरह की मशीनो के निर्माण के लिए बडे कारखानो और फैक्टरियो की जरूरत पडती है, इस बात को भी वह जानते थे। उनका कहना

था कि "मैं इस हद तक तो समाजवादी हू ही कि ऐसे सब कारखाने या तो राष्ट्रीयकृत होने चाहिए या राज्य द्वारा नियंत्रित। वहा काम करने की हालते अच्छी होना चाहिए और उनमे काम करनेवालो को सभी मानवोचित सुविधाए मिलनी चाहिए। ऐसे कारखानो को मुनाफे के लिए नही, जनता के लाभ के लिए चलाना चाहिए। उनका प्रेरक उद्देश्य लोभ नही, प्रेम होना चाहिए।"

१९३१ मे जब गाधीजी गोलमेज परिषद मे भाग लेने के लिए लदन गये थे तो प्रख्यात सिने-अभिनेता चार्ली चैप्लिन ने उनसे भेंट की थी। आधुनिक मशीनो और मशीनीकरण के सबध मे उनकी गाधीजी से जो रोचक बात-चीत हुई उसका विवरण महादेवभाई ने प्रस्तुत किया है—"मान लीजिये कि भारत मे उसी ढग की आजादी कायम हो जाय जैसी रूस मे है और देश के बेकारो को दूसरा काम दिया जा सके और धन-सपत्ति का समान बटवारा भी किया जा सके तब तो आप मशीनो का विरोध नही करेगे न ?" चार्ली चैप्लिन ने पूछा था। "बिलकुल नही।" गाधीजी ने जवाब दिया था। यह सच है कि गाधीजी औद्योगीकरण की बुराइयो के कारण उसका विरोध करते थे—आम मजदूर बेकार हो जाते है और धन-सपत्ति थोडे-से हाथो मे सिमट जाती है। लेकिन साथ ही इस तरह के आर्थिक सगठन पर आधारित समाज-रचना के अनिष्टकारी प्रभाव भी उनके ध्यान मे थे। गाधीजी के अहिंसात्मक समाज के आदर्श का मूलाधार राजनैतिक सत्ता का विकेद्रीकरण था और हजारो गावो मे उत्पादन के विकेद्रीकरण से वह घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ। गाधीजी की राय मे केवल अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उत्पादन करनेवाले और आर्थिक असमताओ से मुक्त छोटे समुदायो मे ही मानवी (भौतिक नही) सबधो पर आधारित सच्चा जनवाद सभव था। पश्चिम की औद्योगिक क्राति ने एक देश मे मुट्ठी-भर लोगो द्वारा बहुसख्यक जनता के और विश्व मे औपनिवेशिक शक्तियो द्वारा पिछडे हुए देशो के शोषण की प्रक्रिया को बहुत तेज कर दिया था। औद्योगिक दृष्टि से खूब उन्नत समाज मे आर्थिक और राजनैतिक सघटन भी अत्यधिक केद्रीभूत हो गये थे और वहा सैन्यवाद का खतरा भी बहुत बढ गया था। इसलिए गाधीजी की राय

मे अहिंसात्मक समाज का सगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि आतरिक असमानताओ और तनावो को समाप्त किया जा सके और वाहर से आक्रमण का कोई कारण न रहे। आर्थिक विकेद्रीकरण को आधार मानकर ही ऐसे समाज की रचना हो सकती थी। इस सवध मे गाधीजी ने लिखा भी था—"कारखानो की सभ्यता पर अहिंसात्मक समाज का निर्माण नही किया जा सकता। केवल आत्म-निर्भर गावो पर ही उसका निर्माण हो सकता है। यदि हिटलर चाहे तव भी वह सात लाख अहिंसात्मक गावो का विनाश नही कर सकता। ध्वस को उस प्रक्रिया मे स्वय उसीको अहिसावादी वन जाना होगा। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की जो मेरी कल्पना है, उसमे शोषण के लिए कोई स्थान नही है और इसीलिए हिसा भी नही है, क्योकि शोपण से ही हिसा का उदय होता है। इसलिए अहिसामूलक होने से पहले ग्राममूलक होना आवश्यक है।"

आदर्श भारतीय गाव की गाधीजी की कल्पना एक ऐसे 'गणतत्र' की थी, जो अपनी मुख्य आवश्यकताओ के लिए पडोसियो पर निर्भर न हो, यो अन्य मामलो मे पारस्परिक निर्भरता तो रहेगी ही। जो अपने खाद्यान्न और कपास और अतिरिक्त भूमि उपलव्ध होने पर नकदी फसले पैदा करता हो, यथासभव जिसकी गति-विधिया सहकारिता पर आधारित हो, जिसकी अपनी पाठशाला, सार्वजनिक सभा-भवन और नाट्यगृह हो, जहा नि शुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा हो, निर्वाचित पचायत झगडे निपटाती हो और वारी-वारी से चुने हुए रक्षक गाव का पहरा देते हो।

'वैयक्तिक स्वतत्रता पर आधारित जनवाद' की इस कल्पना को निरा आदर्श कहकर चुटकियो मे उडाया जा सकता है, लेकिन गाधीजी के निकट तो अहिसात्मक समाज का यही एकमात्र रूप था और दूसरे लोग इसका जो चाहे नामकरण करे, उन्हे इस वात की जरा भी चिता नही थी। भारतीय समाजवादी गाधीजी के इन विचारो की अक्सर आलोचना करते थे, लेकिन गाधीजी अपने-आपको किसी समाजवादी से कम नही समझते थे। उनका दावा था कि जहातक समाजवाद का प्रश्न है, उसे वह दूसरे कई भारतीय समाजवादियो से वहुत पहले ही अपना चुके थे। "लेकिन मेरा समाजवाद कितावो का नकली समाजवाद नही, सहज और स्वाभाविक

समाजवाद है। अहिंसा में मेरी दृढ़ आस्था से वह उत्पन्न हुआ है। अहिंसा का आचरण करनेवाला ऐसा कोई आदमी हो ही नहीं सकता, जो सामाजिक अन्याय का विरोधी न हो।"

हिंसा अथवा वर्ग-युद्ध की अनिवार्यता में उनका विश्वास नहीं था। उनका तो यह दावा था कि अहिंसात्मक कार्रवाइयों से जिस प्रकार विदेशी शासन का अंत किया जा सकता है, उसी प्रकार सामाजिक अन्याय को भी मिटाया जा सकता है। हिंसा का परित्याग करने मात्र से उनका समाजवाद निरर्थक नहीं हो जाता था, गहन मानवीयता और शांतिपूर्ण पद्धतियों के बावजूद उसके परिणाम क्रांतिकारी होते थे। मुट्ठी-भर संपत्तिशालियों को अपना लोभ छोड़कर सारे समाज के हित में काम करने के लिए कैसे बाध्य किया जा सकता था? पहला कदम था उन्हें समझाने-बुझाने का। यदि उससे काम न चले तो अंत में अहिंसात्मक असहयोग करने का। जिस प्रकार कोई सरकार जनता के सहयोग के बिना चल नहीं सकती, चाहे वह सहयोग जनता स्वेच्छा से दे या जोर-जबर्दस्ती से, उसी प्रकार शोषितों के सक्रिय अथवा निष्क्रिय सहयोग के बिना आर्थिक शोषण भी कभी संभव नहीं होता। गांधीजी ने ठोस वास्तविकताओं से मुंह मोड़कर सिद्धांतों का आसरा कभी नहीं लिया। अपने आस-पास की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के ही अनुसार उनके विचारों और सिद्धांतों का निर्माण हुआ करता था।

गांवों का कमर-तोड़ गरीबी से उद्धार करना ही उनका मुख्य ध्येय था। मुट्ठीभर शहरों को और भी संपन्न करने के लिए गांवों का शोषण और दोहन होता रहे, यह उन्हें ज़रा भी स्वीकार नहीं था। विशालकाय कारखानों के चक्कों को चलाने की अपेक्षा वह गांवों की हर झोंपड़ी में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और शहरों के लिए भी माल तैयार करनेवाले कुटीर उद्योगों के गुंजन को अधिक श्रेयस्कर मानते थे। यदि ग्रामोद्योगों के द्वारा स्विट्जरलैंड और जापान के हजारों-लाखों ग्रामीणों को उनके घरों पर रोजी और काम दिया जा सकता है तो भारत में क्यों नहीं दिया जा सकता?

भारत में और उन देशों में एक बुनियादी फर्क जरूर था। वे स्वतंत्र

थे और यहा एक विदेशी सरकार थी, जिसमे न इतनी सूझ-बूझ थी, न इतना उत्साह और न उसके पास ऐसा कोई सगठन ही था, जिसके द्वारा गावो की अर्थ-व्यवस्था मे क्रातिकारी परिवर्तन किया जाता। उस सरकार का तो यह हाल था कि जब राजनीति छोडकर गाधीजी ने गावो मे काम शुरू किया तो उनकी इस निर्दोप गति-विधि को ग्रामीण क्षेत्रो मे देशव्यापी सविनय-अवज्ञा आदोलन की तैयारी की कपट चाल ही समझा गया।

उधर राजनीति का घटना-चक्र भी चलता ही रहा। नये विधान को लागू करने की तिथि १ अप्रैल, १९३७ निश्चित की गई थी। गाधीजी की इस नये विधान के बारे मे कोई बहुत ऊची राय नही थी, इसके असली स्वरूप को वह शुरू से ही जानते थे, लेकिन ज्यो-ज्यो चुनाव के दिन पास आते गये, वह सोचने लगे कि क्या इस विधान की त्रुटियो के बावजूद जनता की हालत को सुधारने मे इसका उपयोग नही किया जा सकता ?

: ३३

कांग्रेस द्वारा पदग्रहण

प्रातीय स्वराज्यवाला नया विधान, जिसके अतर्गत देश को सीढी-दर-सीढ़ी स्वशासन देने की योजना बनाई गई थी, ब्रिटिश पार्लमेंट ने १९३५ मे पास किया और १९३७ मे वह भारत मे लागू किया गया। १९१९ के सुधारों मे, दस वर्षो के बाद देश की सवैधानिक स्थिति पर विचार करने की गुजाइश रखी गई थी। १९२७ मे साइमन कमीशन की नियुक्ति के द्वारा, अवधि पूरी होने के दो साल पहले ही, इस दिशा मे प्रयत्न आरभ कर दिये गए थे, लेकिन नया विधान तैयार करने और उसे लागू करने मे पूरे दस साल लग गये। इस एक दशाब्दि मे देश मे क्या-कुछ नही हुआ। असतोप का ज्वार उमडा, दो-दो देशव्यापी सत्याग्रह हुए और सरकारी स्तर पर बीसियो सम्मेलन और आयोग नये विधान की रूप-रेखा तैयार करने मे माथा लडाते रहे।

ब्रिटेन मे 'भारतीय प्रश्न' को लेकर खासा विवाद उठ खडा हुआ था।

विंस्टन चर्चिल विरोधियो के अगुआ थे। वह भारत को स्वशासन देना ब्रिटिश साम्राज्य के ही नही, भारतीय जनता के साथ भी गद्दारी करना समझते थे। उनके विचारो मे भारतीय राजनीतिज्ञो की अपेक्षा भारत ब्रिटिश नौकरशाही के हाथो मे कही सुरक्षित था। गाधी-इर्विन-समझौते पर तो वह आगबबूला ही हो गये थे और लार्ड इर्विन को खूब आडे हाथो लिया था। लार्ड विलिगडन के सख्ती से काम लेने के वह सबसे बडे हिमायती थे और चाहते थे कि सरकार ने जो विजय प्राप्त की है उसे और भी पुख्ता कर लेना चाहिए। भारत मे अग्रेजो के एक भी अधिकार को छोडने और भारतीय देशभक्तो की एक भी माग को स्वीकार करने के पक्ष मे वह नही थे। ब्रिटिश मन्त्रिमडल मे भारत के उपनिवेश-मत्री सर सेम्युअल होर को ही सबसे अधिक चर्चिल के विरोध का सामना करना पडता था, क्योकि पार्लमेट मे नये सविधान कानून को पास कराने का सारा भार उन्हीपर था। उन्होने चर्चिल की मनोवृत्ति का बडा ही यथार्थ विश्लेषण किया है—"क्लाइव, विलिगटन, लारेस और किपलिग के जमाने के भारतीय साम्राज्य की शानदार स्मृतियो ने उनकी आखो पर पर्दा डाल रखा था। वह वर्तमान भारत की परिवर्तित परिस्थितियो को बिलकुल ही नही देख पा रहे थे। उनकी आखो के आगे भारत का जो चित्र था, वह आज का नही, उस जमाने का था जब वह वहा सैनिक सेवाओ मे थे और अग्रेज अफसरो का काम हुआ करता था पोलो खेलना सूअर का शिकार करना और सीमा-रक्षा की फौजी कार्रवाइयो मे हिस्सा लेना। उन दिनो रियाया सरकार को माई-बाप और महारानी को देवी का अवतार समझा करती थी।"[१]

१८९० के बाद और १९३० के बाद के भारत मे जमीन-आसमान का अतर हो गया था। इस अतर का कारण समय का व्यवधान ही नही, भारतीय राजनीति पर गाधीजीके कृतित्व और व्यक्तित्व की गहरी छाप भी थी। लेकिन चर्चिलसाहब इतिहास के अपने प्रकाड ज्ञान के बावजूद इतनी मोटी-सी बात को समझ नहीं पाते थे। इसका कारण भी स्पष्ट था। चर्चिल थे रणनीति-कुशल राजनीतिज्ञ। वह गाधीजी की धार्मिकता और सत्य-अहिंसा की नीतियो को निरा ढकोसला समझते थे और भारत पर शासन करने के

[१] टेंपलवुड, लार्ड (सर सेम्युअल होर)—'नाइन ट्रबल्ड ईयर्स', पृष्ठ ९८

ब्रिटेन के नैतिक अधिकार को गाधीजी की चुनौती से तिलमिला जाते थे।

नये विधान मे वाइसराय और गवर्नरो के हाथ मे जो 'सरक्षण' और विशेषाधिकार दिये गए थे, वह जनवाद का मजाक ही था। भारतीयो को इस बात पर सख्त नाराजगी थी। लेकिन इगलैड मे प्रेस और पार्लमेंट ने इनके विरोध मे इतना हो-हल्ला मचा रखा था कि ब्रिटिश मत्रिमडल के लिए अपना बचाव करना मुश्किल हो गया था और बडी मुश्किलो से वह इस विधान को वहा पास करवा सके थे। ब्रिटिश सरकार की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए इग्लैड के समाचार-पत्र 'मैंचेस्टर गार्जियन' ने लिखा था कि अग्रेज न तो भारत पर शासन कर सकते है, न उसे छोड सकते है। इसलिए "ऐसा विधान बनाना आवश्यक हो गया, जो भारतीयो को स्वशासन मालूम पडे और अग्रेजो को ब्रिटिश राज।"

इस नये विधान मे कुछ अधिकार तो जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो को सौंपे गये थे और कुछ सरकार ने अपने पास रखे थे, जिससे इसकी हालत उस मोटर-गाडी-जैसी हो गई थी, जिसके ब्रेक चापकर 'लो गियर' मे चला दिया गया हो। विधान के अतर्गत भविष्य मे बननेवाले भारतीय सघ मे प्रातो के साथ-साथ रियासतो को भी नत्थी करके सघ की विधान-मडल मे उन्हे एक-तिहाई स्थान दिया गया था। मानी हुई बात थी कि रियासतो मे चुनाव और प्रातिनिधिक सस्थाए न होने से उनके प्रतिनिधि राजाओ द्वारा नामज़द व्यक्ति होते, जबकि राजा स्वय ही अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटिश सरकार के कृपाकाक्षी थे। ऐसे विधान पर भारतीय नेताओ का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। फिर सघीय विधान-मडल के अधिकार भी सीमित थे। सैनिक व्यय, सरकारी कर्मचारियो के वेतन और भत्ते, ब्याज की दरे आदि बजट के महत्वपूर्ण मुद्दे सघीय विधान-मडल के अधिकार-क्षेत्र मे नही रखे गए थे, परतु वित्त और कुछ दूसरे मामलो मे उनके अधिकारो को भी काफी सीमित कर दिया गया था और गवर्नरो को मत्रियो के निर्णय को बदलने अथवा रद्द करने का अधिकार दिया गया था।

इन बधनो और सीमाओ के ही कारण प० जवाहरलाल नेहरू ने उस विधान को 'गुलामी का परवाना' कहा था। लखनऊ-काग्रेस मे उन्होंने घोषणा की थी कि नये विधान मे भारतीयो को जिम्मेदारिया तो सौंपी

गई है, अधिकार नही दिये गए। लेकिन काग्रेस ने फिर भी नये विधान के अतर्गत चुनाव लडने का फैसला किया। अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे काग्रेस ने इस नये विधान को रद्द करने और राजनैतिक स्वतत्रता पर आधारित एव विधान-परिषद द्वारा निर्मित जनवादी विधान की माग की। प्रश्न उठ सकता है कि जब काग्रेस नये विधान को रद्द करने की माग कर रही थी तो उसने इसके अतर्गत चुनाव क्यो लडा? इसका एक कारण तो यह था कि काग्रेस ने कौसिलो का मोर्चा पूरी तरह राष्ट्र-विरोधी तत्त्वो के हाथ मे छोडना उचित नही समझा, और फिर काग्रेस के अदर एक ऐसा शक्तिशाली पक्ष भी था, जिसे नये विधान की सीमाओ मे भी प्रातो मे रचनात्मक काम करने की काफी सभावनाए दिखाई दे रही थी।

आम चुनाव के नतीजे फरवरी १९३७ मे मालूम हुए। सयुक्त प्रात, बिहार, उडीसा, मध्य प्रदेश और मदरास मे काग्रेस का स्पष्ट बहुमत था। बबई मे उसने लगभग आधे स्थानो पर कब्जा कर लिया था और मैत्री भाव रखनेवाले दलो के साथ मिलकर अपनी सरकार बना सकती थी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रात और आसाम मे वह सबसे बडी पार्टी थी।

काग्रेस के घोषणापत्र मे इस बात का कही स्पष्ट उल्लेख नही था कि यदि काग्रेस ने प्रातीय कौसिलो मे बहुमत प्राप्त कर लिया तो उसे क्या करना चाहिए। मत्रिमडल बनाने के सवाल पर गहरा मतभेद था। विरोधी पक्ष का कहना था कि नये विधान मे मिलना-मिलाना तो कुछ है नही। लोगो को राहत कुछ दी नही जा सकेगी, खाली बदनामी सिर पडेगी और जनता का यह जीवित क्रातिकारी सगठन जन-सपर्क से विच्छिन्न होकर महज एक 'माडरेट' दल बनकर रह जायगा। प्रातो मे सरकार बनाने के समर्थको का कहना था कि विधान मे कमजोरिया और खामिया जरूर है, लेकिन कौसिलो का नेतृत्व सरकार और उसके पिट्ठुओ के हाथ मे छोड देना बहुत बडी भूल होगी। विधान जैसा भी है, उससे जनता की जितनी सेवा की जा सके, करनी चाहिए और इन समर्थको का ऐसा विश्वास था कि सीमाओ के बावजूद नये विधान का उपयोग जनहित मे किया जा सकता है। इन दोनो परस्पर विरोधी विचारधाराओ के समन्वय के लिए मार्च १९३७ मे कार्यसमिति और प्रातीय कौसिलो के काग्रेसी सदस्यो का एक

सयुक्त सम्मेलन किया गया। उस सम्मेलन मे यह तय पाया गया कि यदि प्रातीय कौसिलो मे काग्रेस पार्टी के नेताओ को इस बात से सतोष हो और वह यह सार्वजनिक घोषणा कर सके कि गवर्नर हस्तक्षेप के अपने विशेषाधिकारो का प्रयोग नही करेगे और "वैधानिक कार्रवाइयो के सबध मे" मत्रियो की सलाह की अवहेलना नही की जायगी तो काग्रेस प्रातो मे मत्रिमडल बना सकती है।

कौसिलो और पद-ग्रहण के प्रश्न पर गाधीजी के विचारो ने भी उक्त निर्णय को काफी हद तक प्रभावित किया था। १९३७ मे जब पद-ग्रहण के पक्ष-विपक्ष मे वाद-विवाद जोरो पर था तो उन्होने लिखा था—"लोगो को यह बात समझनी चाहिए कि कौसिलो का बहिष्कार सत्य और अहिंसा की तरह कोई शाश्वत सिद्धात नही है। इनके प्रति मेरा विरोध कुछ कम हुआ है, लेकिन इसका यह मतलब नही कि मै अपनी पहलेवाली स्थिति मे पहुच रहा हू। यह प्रश्न कार्यनीति-सबधी है और मैं तो केवल यही कह सकता हू कि किसी खास अवसर पर क्या करना सबसे ज्यादा जरूरी है।'

और उस समय गाधीजी की राय मे रचनात्मक काम ही सबसे ज्यादा जरूरी था। उन दिनो गाधीजी की गतिविधि अराजनैतिक होते हुए भी काफी महत्वपूर्ण थी—वह देहातो के लिए शुद्ध-स्वच्छ पानी, सस्ता पुष्टिकर आहार, उपयुक्त शिक्षा-प्रणाली और आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था का प्रबध करने मे लगे थे। वह यह देखने को बहुत उत्सुक थे कि सारी खामियो के बावजूद क्या नया विधान ग्रामोत्थान के इस कार्यक्रम को आगे बढा सकेगा ? उनका खयाल था कि काग्रेसी मत्रिमडल अपने-अपने प्रातो मे ग्रामोद्योगो को प्रोत्साहन देने, शराबबदी लागू करने, किसानो के बोझो को घटाने, खादी के उपयोग को बढावा देने, शिक्षा-प्रसार और अस्पृश्यता-निवारण आदि के काम तो कर ही सकते थे।

गाधीजी का कहना था कि कौसिल-प्रवेश और पदग्रहण का उद्देश्य होना चाहिए जनता को राहत पहुचाना और रचनात्मक काम करना, न कि सरकार के रास्ते मे काटे बोना। नये विधान के अतर्गत जो कुछ रचनात्मक काम किया जा सके, उसे करने की उनकी आकाक्षा ही थी, जिसने अत मे काग्रेस को पद-ग्रहण के लिए प्रेरित किया। लेकिन शुरू-शुरू मे सर-

कार हस्तक्षेप न करने का आश्वासन देने को राजी न हुई। सरकारी पक्ष के निकट ऐसा आश्वासन नये विधान को क्षति पहुचानेवाला ही समझा गया। लार्ड लिनलिथगो ने अगस्त १९३६ मे एक भारतीय भेटकर्ता से कहा भी था कि वह स्वय तो विधान मे एक अल्प विराम भी इधर-से-उधर नही कर सकते।[1] लेकिन कांग्रेस बिना आश्वासन पाये मन्त्रिमडल बनाने को प्रस्तुत नही थी। इसलिए वाइसराय ने एक लबा वक्तव्य दिया, जिसमे आश्वासन तो कोई नही था, परन्तु बात को कुछ इस तरह घुमा-फिराकर कहा गया था, जिससे कांग्रेसी सदस्यो के सदेह काफी अश तक निर्मूल हो गये।

बबई, सयुक्त प्रात, बिहार, मध्य प्रात, उडीसा और मदरास— इन छ प्रातो मे कांग्रेसी मन्त्रिमडलो का बनना देश के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। जो राजनैतिक दल ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए प्रणबद्ध था, वह छ सूबो मे शासन करने को राजी हो गया था। प्रयोग वैसा विस्फोटक नही था जैसी कि आशका की जाती थी। कांग्रेसी मन्त्रिमडल सकट पैदा करने के अवसर खोजने के बजाय कांग्रेस के चुनाव-घोषणा-पत्र मे उल्लिखित सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम को पूरा करने मे लगे रहे। गाधीजी की सारी दिलचस्पी इसी कार्यक्रम मे थी और कांग्रेसी मन्त्रियो के काय की कसौटी भी उन्होने इसीको बना रखा था। अपने निजी जीवन मे गरीब देश की जनता के अनुरूप सादगी और मितव्ययिता को अपनाने की उन्होने कांग्रेसी मन्त्रियो को सलाह दी। और यह आग्रह भी किया कि मन्त्रियो को "अध्यवसाय, योग्यता, सचाई, निष्पक्षता, दक्षता एव कार्यक्षमता आदि आवश्यक सद्गुणो का अपने मे विकास करना चाहिए।"

गाधीजी ने दो बातो पर विशेष रूप से जोर दिया और आशा प्रकट की कि कांग्रेसी मन्त्रिमडल इन्हे अवश्य पूरा करेगे। उनमे एक थी शिक्षा और दूसरी थी शराबबदी। शराब के दुर्गुणो और अनिष्टकारी परिणाम से गाधीजी भली प्रकार परिचित थे। औद्योगिक मजदूर और अधभूखे किसान अपनी गाढी कमाई का पैसा शराब मे बहा देते थे और उनके बच्चे दूध के लिए तरसा करते थे। शिक्षा के बारे मे उनके अपने विचार थे, जिनपर उन्होंने प्रयोग भी किये थे। दक्षिणी अफ्रीका की फिनिक्स-बस्ती और टाल्स्टाय-फार्म मे वह

[1] बिडला, घनश्यामदास 'गाधीजी की छत्रछाया में, पृष्ठ २०७

बच्चो के स्कूल चलाने मे मदद भी कर चुके थे। उनका विश्वास दृढ हो चला था कि स्कूलो मे किताबी पढाई पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है और छात्रो के चरित्र-निर्माण एव उन्हे हुनर सिखाने पर कोई ध्यान नही दिया जाता। अक्तूबर १९३७ मे गाधीजी ने प्रान्तो के काग्रेसी शिक्षा-मत्रियो और देश के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियो का एक सम्मेलन वर्धा मे बुलाया और उनके समक्ष अपने शिक्षा-सबधी विचारो को रखा। उनके विचारो पर आधारित प्राथमिक शिक्षा की एक विस्तृत योजना तैयार की गई। बुनियादी शिक्षा की यह योजना वर्धा-योजना के नाम से प्रसिद्ध है और जिस समिति ने उसे 'तैयार किया था उसके अध्यक्ष भारत के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डा० जाकिर हुसैन थे।

शिक्षा की वर्धा-योजना ने भारतीय शिक्षा को गतानुगति के गर्त मे उबारने और नये प्रगतिशील आधारो पर प्रस्थापित करने की दिशा मे सोचने के लिए प्रशासको और शिक्षा-शास्त्रियो को प्रेरित किया। लेकिन इस योजना की आलोचना भी हुई। शिक्षा मे शारीरिक श्रम और हस्त कौशल को इतना अधिक महत्व देने से क्या पढाई-लिखाई की हानि न होगी क्या शिक्षको को मुखिया बनना भी होगा ? गाधीजी ने वर्धा-योजना के आलोचको के सदेहो का निवारण करते हुए कहा कि बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य छात्रो को कारीगर बनाना नही, बल्कि हस्त-कौशल और उनके उपकरणो के द्वारा शिक्षा देना है। गाधीजी ने इसे पुस्तकीय शिक्षा से सर्वथा भिन्न श्रममूलक शिक्षा कहा था। उन्होने यह भी कहा कि बुनियादी शिक्षा के अतर्गत पाठशालाओ का प्रयोजन बिक्री के लिए अनगढ वस्तुए तैयार करना नही है। लेकिन प्राथमिक स्तर के छात्रो मे उन्होने किसी हुनर का ज्ञान आवश्यक माना और यदि उनकी बनाई वस्तुओ की बिक्री से पाठशाला का खर्च चलाने मे अथवा शिक्षको का वेतन देने मे थोडी-बहुत सहायता हो सके तो इमे उन्होने एक अतिरिक्त अच्छाई बताया। सारा जोर किताबी पढाई के स्थान पर हाथ और आख के उपयोग को समन्वित करनेवाली सच्ची और स्थायी शिक्षा पर था, क्योकि प्रचलित किताबी पढाई तो इतनी अस्थायी होती थी कि ग्रामीण बालक पाठशाला छोडने के कुछ ही दिनो बाद सब पढा-लिखा भूल जाते थे और जो याद रह भी जाता वह

उनके दैनिक जीवन मे कुछ काम न आता था।

जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो न तो नेताओं को पता था, न न[illegible] को ही कि प्रान्तो मे इन नई साझेदारी के ठीक-ठीक क्या परिणाम होंगे और यह किस तरह चल पायगी। पुराने इतिहास को, जो पारस्परिक झगडो और कटुता से परिपूर्ण था, भुला देना दोनो ही पक्ष के लिए आसान नही था। लेकिन रोज साथ काम करने से बीच की बहुत-सी दीवारे टहती गई। महादेव-भाई ने बिडलाजी को लिखा था—"जरा सोचिये तो सही कि अहमदाबाद का कमिश्नर गैरेट मुरारजी भाई का स्वागत करने स्टेशन जाता है और उनके साथ रेल के तीसरे दर्जे मे काफी दूर तक यात्रा भी करता है।'[1] प्रान्तो मे लगभग आधे आई० सी० एस० अफसर यूरोपियन थे। उन्हे काफी मोटी तनख्वाहे मिलती थी और विधान के अतर्गत उनकी नौकरिया सुरक्षित थी, फिर भी कइयो ने प्रान्तीय स्वराज्य और कांग्रेसी मत्रियो के अनुकूल अपनेको ढालने-बनाने की पूरी-पूरी कोशिश की। चारो ओर फुर्ती और जोश दिखाई देने लगा। शासन के जनवादी स्वरूप के कारण प्रांतीय सचिवालय के एक्जीक्यूटिव अफसरो का काम बहुत अधिक बढ गया। शासन के दैनदिन कामो मे स्थानीय नेता भी थोडा दखल देने लगे थे। अंग्रेज अफसर एक बार पहले प्रान्तो मे द्वैध शासन-प्रणाली के अतर्गत काम कर चुके थे, वे अब अपनेको प्रातीय स्वराज्य के अनुकूल बनाने की कोशिश करने लगे, यद्यपि इसमे उन्हे परिश्रम बहुत करना पडता था। मनमानी करनेवाले जिलाधिकारियो का राजपाट खतम होने लगा। अब वे पहले की तरह ब्रिटिश सरकार के खैरख्वाहो को इनाम-इकराम, जगह-जागीर और खिताब, सनमद आदि नही दे सकते थे। साम्राज्य की शाही परम्पराओ मे पले-पुसे नौकरशाहो के लिए ऐसी स्थिति को स्वीकार करना सरल नही होता था। उस समय के अंग्रेज नौकरशाहो की मन स्थिति का सिर्फ एक ही वाक्य मे एक आई० सी० एस० अफसर फिलिप मेसन ने यो वर्णन किया है—"जहा हुकूमत की हो, वहा मुलाजमत करना बडा मुश्किल होता है।'[2] देर सवेर-कांग्रेस और सरकार मे सघर्ष तो होना था लेकिन उस

---

[1] बिडला, घनश्यामदास 'गांधीजी की छत्रछाया मे' पृष्ठ २४३

[2] वुडरफ, फिलिप 'द गार्जियन्स', लदन १९५४, पृष्ठ २४

समय टलता रहा, क्योकि काग्रेस पदारूढ होकर सामाजिक और आर्थिक सुधारो के जोश मे थी और सरकार भी अतर्राष्ट्रीय अस्थिरता के वातावरण मे प्रान्तो के स्थिर शासन को गडवडी मे नही डालना चाहती थी। लेकिन दूसरे महायुद्ध के छिडते ही सकट मुह वाये सामने आ खडा हुआ और काग्रेस एव सरकार के क्षणिक सहयोग का तत्काल अन्त हो गया। यहा साम्प्रदायिक समस्या पर विचार कर लेना समीचीन होगा, क्योकि इस समस्या ने भारतीय राजनीति को युद्ध और उसके वाद के समय मे भी काफी हद तक प्रभावित और विकृत भी किया है।

: ३४

पाकिस्तान का प्रादुर्भाव

१६३१ की गोलमेज परिपद के भारतीय प्रतिनिधि जव समस्या का कोई सर्वसम्मत हल न निकाल पाये तो ब्रिटिश सरकार ने १६३७ मे साम्प्रदायिक निर्णय का अपना हल उनपर थोप दिया। इस निर्णय के द्वारा मुस्लिम नेताओ की सभी मुख्य मागे स्वीकार कर ली गई। इस निर्णय मे साम्प्रदायिक मताधिकार (पृथक् निर्वाचन) का समावेश काग्रेसी नेताओ को ज़रा भी न सुहाया, लेकिन जवतक कोई सर्वसम्मत हल न निकाला जा सके तवतक के लिए काग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। आशा तो यही की गई थी कि खामियो के वावजूद साम्प्रदायिक निर्णय से हिंदू-मुस्लिम विवाद को समाप्त कर जन-शक्ति को रचनात्मक कार्य की ओर मोडने मे सहायता मिलेगी, लेकिन अगले दस वर्षो की घटनाओ ने सिद्ध कर दिया कि उससे साम्प्रदायिक विवाद मिटने के वजाए अधिकाधिक उग्र और विपम ही होता चला गया।

इस दशाब्दि के इतिहास, हिंदू-मुस्लिम समस्या और पाकिस्तान के उद्भव को जिन्नासाहव के व्यक्तित्व और उनकी नीतियो के विना ठीक से समझ पाना प्राय असभव है। ब्रिटिश राज्य के अतिम दिनो मे हिंदू-मुस्लिम विरोध का इस तरह उभरना शायद स्वाभाविक और अवश्यभावी

ही था। राजनैतिक शब्दावली में वह 'उत्तराधिकारी की लड़ाई' थी। लेकिन साप्रदायिक समस्या ने भारतीय राजनीति को जैसा गलत मोड़ दिया और उसके जो अनिष्टकारी परिणाम हुए, उसका मुख्य कारण क़ायदे आजम जिन्नासाहब ही थे।

मुहम्मदअली जिन्ना गाधीजी से उम्र में छ साल छोटे थे। गाधीजी की तरह उन्होने भी विलायत में कानून का अध्ययन किया था, लेकिन वह गाधीजी की तरह धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति नही थे। उनकी रुचि मुख्यत राजनीति मे ही थी। वह अपनी जवानी मे दादाभाई नौरोजी के व्यक्तित्व से प्रभावित और प्रेरित होकर राजनीति मे आये थे। गोखले के वह मित्र थे। बबई मे वकालत और राजनैतिक कार्य करने लगे थे। चालीस-बयालीस की उम्र मे वह देश के उच्चकोटि के राजनैतिक कार्यकर्ता और नेता माने जाते थे। १९१६ की लखनऊ-काग्रेस मे लीग और काग्रेस के बीच समझौता उन्हीके प्रयत्नो का सुफल था। उन दिनो जिन्नासाहब सारे देश मे 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता के मसीहा' के नाम से पुकारे जाते थे।

असेबली के सदस्य की हैसियत से और उसके बाहर भी जिन्नासाहब सदैव राष्ट्रीयता का पृष्ठपोषण करते थे। वह होमरूल आदोलन मे भी शरीक हुए थे और पहले महायुद्ध मे भारतीय सहायता के बदले पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की शर्त का उन्होने समर्थन किया था। १९१९ मे उन्होने रौलट बिल का विरोध किया। पजाब और तुर्की के मामले मे वह ब्रिटिश सरकार की नीति के कडे आलोचक रहे, पर गाधीजी के खिलाफत आदोलन मे शरीक नही हुए। असल मे काग्रेस मे जैसे ही गाधीजी का वर्चस्व और प्रभाव बढा वह उससे अलग हो गये। भारत के दूसरे नरम नेताओ की भाति जिन्नासाहब भी काग्रेस को सुशिक्षित, सपन्न भारतीय बुद्धि-जीवियो की सस्था बनाये रखने के पक्ष मे थे—साल मे एक बार बढिया अग्रेजी मे बहस-मुबाहसा और लच्छेदार भाषण फटकार दिये, व अखबारो मे छप गये, सरकार का ध्यान आकर्षित हो गया और छुट्टी। जीवन मे सिर्फ एक बार (दिसबर १९१८ मे) उन्होने बबई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन के विदाई समारोह की सार्वजनिक सभा के विरोधी प्रदर्शन मे भाग लिया था। जन-आदोलन से वह अपनेको हमेशा दूर और काफी ऊचाई पर रखते

थे। जब गाधीजी ने जन-आदोलन शुरू किया और उसमे शहर और गावो के लाखो अनपढ लोग हिस्सा लेने लगे तो जिन्नासाहब ने कहा था, "मै तो इसके नतीजे की बात सोचकर ही काप उठता हू—तबाही मे अब कसर ही क्या रह गई है ?"

जिन्नासाहब को गाधीजी की राजनीति से ही नही, उनकी धार्मिकता, आत्म-निरीक्षण, विनम्रता, अपनी मर्जी से अपनाई हुई गरीबी सत्य और अहिसा आदि से भी बडी चिढ थी। उनके विचारो और आदर्शो से गाधीजी के इन सद्गुणो का कही भी मेल नही बैठता था, इसलिए वह इस सबको गाधीजी की राजनैतिक चाल और पाखड कहकर दुर-दुराया करते थे। एक बार जिन्नासाहब ने लुई फिशर से कहा था कि "होमरूल सोसाइटी मे नेहरू ने मेरे नीचे काम किया और गाधी ने भी लखनऊ मे लीग-काग्रेस के समझौते के समय मेरे हाथ के नीचे काम किया है।" इससे पता चलता है कि उन्हे गाधीजी से यह शिकायत भी थी कि उन्होने राजनीति मे प्रवेश कर उन्हे (जिन्ना को) अनुचित उपायो से प्रमुख स्थान से परे ढकेल दिया। यह तो मानना ही होगा कि जिन्नासाहब १९१६ मे मुल्क की बडी हस्तियो मे थे, लेकिन १९२० मे, उनका प्रभाव एकदम खत्म हो गया। ऐसा अकेले जिन्नासाहब के साथ नही, और भी कई माडरेट नेताओ के साथ हुआ, क्योकि गाधीजी के व्यक्तित्व और नीतियो के कारण जन-सामान्य का प्रबल प्रवाह राजनीति मे उमड पडा था और उसमे केवल जनता के सच्चे नेता ही टिक सकते थे।

१९२० के बाद के वर्षो मे जिन्नासाहब सेट्रल असेबली मे एक स्वतत्र दल के नेता की हैसियत से सरकार और कांग्रेस के बीच सतुलनकारी शक्ति बन गये थे, और यह ऐसा काम था, जिसे वह बडी ही कुशलता से कर सकते थे। हिंदू-मुस्लिम एकता की बाते वह जरूर करते थे, लेकिन सरकार हो या काग्रेस, जो भी उनसे सहयोग मागता, उससे कडी कीमत वसूल करते थे और इस तरह अपनी कीमत को बराबर बढाते जाते थे। नेहरू-रिपोर्ट मे साप्रदायिक समस्या का जो हल सुझाया गया था, उसका उन्होने जबर्दस्त विरोध किया, यहातक कि १९२८ मे नेहरू-रिपोर्ट को ही खत्म कर देना पडा। १९३३-३४ के गाधीजी के सविनय अवज्ञा आदोलन की उन्होने उतनी ही मुखालफत की, जितनी पहले असहयोग-आदोलन की कर चुके

थे। गोलमेज परिषद के वह भी एक सदस्य थे, परतु वहा भी अपनी ढपली अलग ही बजाते रहे। सर सैम्युअल होर ने कहा भी है कि "वह किसीके साथ मिलकर काम करने को राजी ही नही होते थे।" गोलमेज परिषद के बाद उन्होने भारतीय राजनीति को नमस्कार किया और लदन मे ही बस गये। लेकिन जैसे ही नये विधान के अतर्गत आम चुनाव का समय आया, वह भारत लौट आये और उन्होने मुस्लिम लीग का चुनाव मे मार्ग-दर्शन किया। लीग को उस चुनाव मे मुसलमानो के पाच प्रतिशत से ज्यादा मत नही मिले, लेकिन इस करारी हार के बावजूद जिन्नासाहब ने अगले चार वर्षों मे अपनी स्थिति को ऐसा मजबूत कर लिया कि भारत की सवैधानिक प्रगति की कोई बात उनकी रजामदी के बगैर की ही नही जा सकती थी।

कई प्रातो मे बहुमत मे जीतने के बाद जब गाधीजी ने १९३८ की ग्रीष्म ऋतु मे काग्रेस को पद-ग्रहण का आशीर्वाद दे दिया तो काग्रेसजनो ने फैसला किया कि वह कही भी सयुक्त मत्रिमडल नही बनायगे। उनके अपने ही मत इतने अधिक थे कि दूसरो की मदद से मत्रिमडल बनाने की कोई आवश्यकता नही थी। यह आशका भी थी कि सयुक्त मत्रिमडल के आपसी समझौतो और झगडो के कारण कही काग्रेस कमजोर न हो जाय और यदि हो गई तो देश को स्वतत्र करने का काम पिछड जायगा। फिर प्रातीय कौसिलो के कुल ४५० मुस्लिम स्थानो मे से काग्रेस केवल ५८ स्थानो पर चुनाव लडी और २६ स्थानो मे विजयी हुई थी। काग्रेस ने मुस्लिम कौसिलरो को भी अपने मत्रिमडल मे लिया, लेकिन तभी जब उन्होने काग्रेस के प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत कर दिये। इस फैसले का औचित्य जो भी रहा हो एक तो यह गाधीजी की सलाह के खिलाफ किया था और दूसरे इसने मुस्लिम लीग और खास तौर पर जिन्नासाहब को बहुत नाराज कर दिया। जिस पृथक् निर्वाचन पर उन्होने इतनी आशाए लगा रखी थी, वह एक तरह से बेकार ही हुआ। न तो मुसलमान काग्रेस मे शरीक हो सके और न उन्हे शासन मे मनचाहा हिस्सा ही मिला।

अब तो जिन्नासाहब की झुझलाहट का कोई पार न रहा। १९३८ के बाद के उनके भाषणो और लेखो की उग्रता उनके रोष को बहुत अच्छी तरह प्रकट करती है। वह क्रोधावेश मे एक के बाद एक ऐसे काम करते

गये कि हिंदू-मुस्लिम सकट अपने चरम बिदु को पहुच गया। काग्रेस मत्रि-मडलो मे मुस्लिम लीग का एक भी प्रतिनिधि नही था, यह क्या काग्रेस का मामूली गुनाह था! जिन्नासाहब को बहाना चाहिए था और वह उन्हे मिल गया। बस, काग्रेस के खिलाफ मुसलमानो की झूठी-सच्ची शिकायतो का उन्होने ढेर लगाना शुरू कर दिया। "सचाई तो यह है कि काग्रेस ब्रिटिश सगीनो पर अपनी हुकूमत कायम करना चाहती है।" "काग्रेस मुस्लिमलीग की घेराबदी करके उसकी ताकत को तोडना चाहती है।" काग्रेस के सविधान-परिषद् के प्रस्ताव की, जिसका कि गाधीजी ने हिंदू-मुस्लिम समस्या के हल के रूप मे समर्थन किया था, उन्होने खूब खिल्ली उडाई—"ब्रिटिश सरकार से यह कहना कि वह दूसरे राष्ट्र की सविधान-परिषद बुलाये और बाद मे उस परिषद के बनाये विधान को ब्रिटिश पार्लमेट की मजूरी के लिए पेश करना बचपना नही तो और क्या है!" और गाधीजी तो जिन्ना-साहब के माने हुए दुश्मन थे। "गाधीजी डिक्टेटर है। काग्रेस की नकेल गाधीजी के हाथ मे है।" सेगाव मे अभी उजेला ही नही हुआ।" "गाधी हिंदू राज्य मे मुसलमानो को गुलाम ही नही बना रहा, उनका खात्मा भी कर रहा है।" आदि-आदि वाक्-बाण वह महात्माजी पर चलाने लगे।

काग्रेस के खिलाफ जिन्नासाहब का गर्जन-तर्जन और उनका काग्रेसी-विरोधी अभियान दिनोदिन तेजी पकडता गया। १९३९ के बसत मे उन्होने फरमाया कि नये विधान के अतर्गत प्रातीय सरकारे मुस्लिम अधि-कारो का सरक्षण करने मे पूरी तरह असफल रही है। कुछ महीनो के बाद उन्होने एक ऐसे बडे मुल्क मे, जहा कई जातिया बसती हो, जनवादी ढग की सरकार को ही 'काबिले एतराज' बताया। उन्होने वाइसराय और गवर्नरो पर यह आरोप लगाये कि वे काग्रेस द्वारा शासित प्रातो मे मुसलमानो के हितो की रक्षा के लिए अपने विशेषाधिकारो का प्रयोग नही करते। १९३९ के नवबर महीनो मे जब काग्रेस मत्रिमडलो ने भारत को उसकी स्वीकृति के बिना युद्ध मे सम्मिलित किये जाने के विरोध-स्वरूप इस्तीफे दे दिये तो जिन्नासाहब ने ढाई बरस के काग्रेसी राज्य के अन्याय और अत्याचार से मुसलमानो के मुक्त होने के उपलक्ष मे 'मुक्ति दिवस' मनाने की घोषणा की। उनका कहना था कि ढाई बरस के काग्रेसी राज्य मे मुसलमानो की राय

की ज़रा भी कद्र नही की गई, मुस्लिम सस्कृति को नष्ट किया गया, इस्लाम धर्म और मुसलमानो के सामाजिक जीवन पर आक्रमण किये गए और मुस्लिमो की अर्थ-व्यवस्था एव राजनैतिक अधिकारो को कुचला गया।

विधान मे प्रातो के गवर्नरो को अल्पसख्यको के अधिकारो की रक्षा के विशेष अधिकार प्रदान किये गए थे। सयुक्त प्रात के गवर्नर सर हैरी हेग ने अपनी गवर्नरी का कार्यकाल पूरा होने के बाद सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया था कि "काग्रेसी मत्री मुसलमानो के साथ न्याय और सद्भावना के व्यवहार पर विशेष ध्यान देते रहे है और उन्होने हमेशा निष्पक्ष रहने की कोशिश की है, यहातक कि बाद मे तो उन्हे इसके लिए हिंदू सभा की आलोचना का पात्र भी बनना पडा और इस गलत आरोप का सामना करना पडा कि काग्रेसी मत्रिमडल हिंदुओ के साथ न्याय नही करते।"

१९४० के प्रारभ मे काग्रेस के अध्यक्ष डॉ० राजेद्रप्रसाद ने जिन्नासाहब को लिखा कि वह फेडरल कोर्ट के किसी भी जज के द्वारा काग्रेस मत्रिमडलो पर लगाये गए आरोपो की जाच करवाने के लिए तैयार है। जिन्नासाहब ने इस सुझाव को ठुकरा दिया और बदले मे रायल कमीशन की माग की। वह जानते थे कि युद्धकाल मे ऐसे विवाद के लिए रायल कमीशन नियुक्त नही किया जा सकेगा और उन्हे इन मनमाने आरोपो को लगाने का मौका मिलता रहेगा। असल मे उनके मनगढत आरोपो का उद्देश्य काग्रेस अथवा ब्रिटिश सरकार का विरोध उतना नही जितना कि मुसलमानो को उकसाना था। उनकी इस नीति को उस समय 'घरेलू इस्तेमाल का नुस्खा' कहा गया था। हिंदू और मुसलमानो के बीच की खाई को बढाने और पारस्परिक मतभेदो को असाध्य करनेवाली हर बात का उपयोग करके वह अपनी इस स्थापना को सिद्ध करना चाहते थे कि भारत मे जनवादी ढग की सरकार असभव है।

शीघ्र ही जिन्नासाहब ने दो राष्ट्रो की बात शुरू कर दी और उसे सैद्धातिक जामा भी पहनाने लगे—हिंदू और मुसलमानो मे केवल धार्मिक भेद ही नही, सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक अतर भी है। १९४० के मार्च महीने मे मुस्लिम लीग ने अधिकृत रूप से दो राष्ट्रो के सिद्धात को स्वीकार कर लिया और घोषणा की कि मुसलमानो को भारत के सबध मे

ऐसी कोई वेधानिक योजना स्वीकार न होगी जो उत्तर-पश्चिम ओर पूर्व के मुस्लिम बहुमतवाले प्रदेशो को स्वतत्र राज्य मानकर तैयार न की गई हो। गोलमेज-परिषद मे जिस 'पाकिस्तान' की मुस्लिम नेताओ ने "कुछ विद्यार्थियो की खामखयाली" कहकर उपेक्षा करदी थी, अब वही मुस्लिम लीग का अतिम ध्येय हो गया था।

जब गाधीजी ने दो राष्ट्रो के सिद्धात और लीग की पाकिस्तान की माग के बारे मे सुना तो चकित रह गये और उन्हे सहसा विश्वास न हुआ। धर्म का प्रयोजन लोगो के दिलो को मिलाना है, या अलग करना ? उन्होने दो राष्ट्रो के सिद्धात को 'असत्य' कहा। इससे कडा शब्द उनके शब्द-कोश मे दूसरा था ही नही। उन्होने राष्ट्रीयता के गुणो की व्याख्या की। उन्होने कहा कि धर्म के परिवर्तन से राष्ट्रीयता नही बदलती। धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते है, लेकिन उससे सस्कृति भिन्न नही हो जाती। "बगाली मुसलमान हिंदू बगाली की ही भाषा बोलता है, वैसा ही खाना खाता है और अपने हिंदू पडोसी की ही तरह अपना मनोरजन करता है। वेश-भूषा भी दोनो की एक-जैसी होती है, यहातक कि जिन्नासाहब का नाम भी मुझे तो हिंदू नाम ही मालूम पडता है, पहली बार जब मै उनसे मिला तो तो जान भी न पाया कि वह मुसलमान है।"

उन्होने कहा कि भारत के विभाजन का अर्थ होगा हिंदू और मुसल-मानो के सदियो के काम पर पानी फेर देना। वे कैसे स्वीकार कर लेते कि हिंदू धर्म और इस्लाम परस्पर विरोधी सस्कृतियो और सिद्धातो के प्रतीक है और भारत के आठ करोड मुसलमानो का उनके हिंदू पडोसियो से कोई वास्ता नही ? और मान भी लिया जाय कि धर्म और सस्कृतिया भिन्न हे तो उससे दोनो के आय, उद्योग, सफाई, न्याय आदि समान हितो मे क्या बाधा पडती हे ? जो भी अतर है, वह धर्म के पालन करने के तरीके मे हे, जिससे एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का कोई भी वास्ता न होगा।

उन्होने बहुत ही व्यथित होकर कहा था—"भारत के टुकडे करने से पहले मेरे टुकडे कर दो।" लेकिन उनकी व्यथा का किसीपर कोई असर न हुआ और वह पाकिस्तान के सबध मे अपने विचारो से एक भी आदमी को सहमत न कर सके। ६ अप्रैल, १९४० के 'हरिजन' मे उन्होने स्वीकार भी

किया—"आठ करोड मुसलमानो को शेष भारत की, चाहे उसका बहुमत कितना ही प्रबल क्यो न हो, इच्छा के आगे झुकाने का कोई अहिंसात्मक तरीका मुझे नही मालूम। मुसलमानो को भी आत्म-निर्णय का उतना ही अधिकार होना चाहिए, जितना कि शेष भारत को है। इस समय हम एक सयुक्त परिवार हैं और उस परिवार का कोई भी सदस्य बटवारे की माग कर सकता है।"

एक अहिंसावादी का सिर्फ यही रुख हो सकता था, यद्यपि यह रुख जिन्नासाहब के इस विश्वास को बढानेवाला था कि अगर मुस्लिम लीग अपनी माग पर अडी रही और मुस्लिम जनमत को अपने साथ ला सकी तो एक दिन पाकिस्तान वास्तविकता बन जायगा। जिन्नासाहब ने अन्त तक पाकिस्तान की सीमाए निर्धारित नही की और न इस सम्बन्ध मे अपनी ओर से कोई ठोस प्रस्ताव ही रखा। उन्होने अपने हर अनुयायी को उसकी इच्छानुसार पाकिस्तान की कल्पना करने के लिए आजाद छोड दिया था। धर्म-प्राण मुसलमान उसे मजहब और शरीयत का पाबद पैगम्बर साहब के उपदेशो पर चलनेवाला पुराने जमाने का कट्टर इस्लामी राज्य समझते थे, तो धर्म-निरपेक्ष 'अपने' उस राज्य मे सभी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाए प्राप्त करने की आकाक्षा रखते थे।

भारतीय राष्ट्र-भक्तो को उस समय गहरा आघात पहुचा, जब उन्होने मुसलमानो को और खास तौर पर उसके मध्यम वर्ग को पाकिस्तान का जोर-शोर से समर्थन करते देखा। लेकिन इसके कई कारण थे। सरकारी नौकरियो, व्यवसाय और उद्योग की दौड मे पिछडे हुए मुस्लिम मध्यमवर्ग पर मुस्लिम राज्य के विचार का हावी हो जाना स्वाभाविक था। प्रति-स्पर्द्धामूलक समाज मे जल्दी से सफलता दिलानेवाले उपाय का सभी अवलबन करना चाहते है। बगाल और पजाब के मुस्लिम जमीदारो को पाकिस्तान उन 'खतरनाक राजनीतिज्ञो' से मुक्ति दिलाने का साधन था, जो जमीदारी उन्मूलन की बाते करने लगे थे। मुस्लिम अफसर इसलिए खुश थे कि नये निजाम मे उन्हे हिंदू काफिरो की मातहती मे काम नही करना होगा। मुसलमान व्यापारी और उद्योगपति हिंदू प्रतिद्वद्वियो के अनुचित हस्तक्षेप से मुक्त मनमाना मुनाफा बटोरने के सपने देखने

लगे थे।

जैसाकि अंग्रेज लेखक डब्लू० सी० स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'भारत मे आधुनिक इस्लाम' (माडर्न इस्लाम इन इडिया) मे लिखा है, पाकिस्तान भारतीय मुसलमानो की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन था। "मुस्लिम लीग एक उभरते हुए राष्ट्रवाद की सस्था का रूप ले रही थी, जिसकी केन्द्रीय शक्ति तो सत्ता-लोलुप व्यावसायिक हित थे, लेकिन जाग्रत कृषि-वर्ग भी जिसका समर्थन करने लगा था और जिसे साहित्य एव सस्कृति के क्षेत्र से भी नव-जागरित श्रद्धाभक्ति का रसायन मिलने लग गया था।"

दूसरे महायुद्ध के छिड जाने पर युद्धजन्य परिस्थितियो ने बटवारे की विचारधारा के प्रसार-प्रचार मे और सहायता पहुचाई। काग्रेसी मन्त्रिमडलो के इस्तीफे ने मुस्लिम लीग को राजनैतिक मच हथियाने का अवसर दे दिया। काग्रेस के पदारूढ रहते उसके मन्त्रिमडलो पर यह आरोप लगाना कि उन्होने मुस्लिम अल्पसख्यको पर अत्याचार किये है, आसान न होता, काग्रेसी मन्त्रिमडलो की ओर से जरूर विरोध किया जाता और सचाई लोगो के सामने आ जाती। अब गवर्नर ऐसे लोगो का, जो उनके विरोधी हो गये थे, बचाव क्यो करते ? सरकार महायुद्ध के कारण मुस्लिम लीग से बिगाड भी नही करना चाहती थी। वाइसराय और सलाहकारी मडल जिन्ना-साहब को नाराज करने के जरा भी पक्ष मे न था। वैसे पाकिस्तान की माग से ब्रिटिश सरकार को भी कुछ कम अचभा नही हुआ था, लेकिन फिर भी यह एक तरह से उनके हित मे ही हुआ। वह एक बार फिर दुनिया को यह दिखा सके कि भारत की वैधानिक प्रगति अग्रेजो की वजह से नही भारतीयो के आपसी मतभेदो की ही वजह से रुकी हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने तो पाकिस्तान को स्वीकार करने का सकेत अपनी ओर से अगस्त १९४० की घोपणा मे दे भी दिया, जब उसमे यह गया कि "भारत की शाति और उसके कल्याण का विचार करके ही ब्रिटिश सरकार अपनी जिम्मेदारियो को किसी ऐसी भारतीय सरकार को नही सौप सकती, जिसकी सत्ता को देश के बडे और शक्तिशाली तत्त्व मानने से इनकार करे।" मतलब यह था कि ब्रिटिश सरकार जिन्नासाहब के हल पर विचार करने को तैयार थी। और मजे की बात यह कि अखिल भारत मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान-सबधी अपना

प्रस्ताव सिर्फ मार्च, १९४० मे ही पास किया था। यदि लडाई का इतनी का जमाना न होता तो इसमे सन्देह ही है कि पाकिस्तान के प्रस्ताव का जल्दी यो गौण समर्थन सरकार के द्वारा किया जाता। लेकिन युद्ध का सबल हाथ घटना-चक्र को अपनी गति और अपनी इच्छा के अनुसार चला रहा था, जिसे ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओ मे से न तो कोई जान सका और न उसपर नियत्रण ही कर पाया।

: ३५ :

भारत और द्वितीय महायुद्ध

१९३८ मे यूरोप पर युद्ध के बादल मडरा रहे थे। १९१४-१८ का महायुद्ध, जैसी कि आशा थी, "युद्ध को सदा के लिए समाप्त करनेवाला युद्ध" साबित नही हुआ। शान्ति-सधि ने जितनी समस्याओ को सुलझाया उनसे कही अधिक समस्यो को पैदा कर दिया था। राष्ट्र-सघ के माध्यम से 'सामूहिक सुरक्षा' की प्रणाली से जितनी आशाए की गई थी वे सब निष्फल सिद्ध हुई। अमरीका के न रहने, रूस को अलग कर दिये जाने और सदस्य राष्ट्रो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय हितो की अपेक्षा राष्ट्रीय हितो को अधिक प्रधानता देने के कारण राष्ट्र-सघ बहुत ही अक्षम हो गया था। राष्ट्र-सघ की दुर्बलता और अक्षमता का पहला परिचय उस समय मिला, जब जापान ने उसके अधिकार को चुनौती दी और अपनी विस्तारवादी नीति पर अमल करना शुरू कर दिया। अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण, जर्मन द्वारा निसैन्यीकृत क्षेत्र पर अधिकार एव आस्ट्रिया के राज्यापहरण और स्पेन के गृहयुद्ध मे विदेशी हस्तक्षेप आदि घटनाओ ने सिद्ध कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जिसकी लाठी उसकी भैस का कानून चल रहा था। जनवाद और राजनैतिक एव व्यक्तिगत स्वतत्रता खतरे मे पड गई थी। तानाशाही सरकारो ने अपने-अपने देश मे सारे विरोधियो को कुचल दिया था और वे युद्ध की पूरी तैयारियो के साथ दूसरे देशो पर आक्रमण करने का मौका तलाश रही थी। यूरोप के छोटे राष्ट्र थर थर काप रहे थे, पता नही कब,

किसपर और किधर से हमला हो जाय ! समूचा सभ्य ससार भयाक्रात हो गया था और लगता था, जैसे अधकार का युग ही आ गया हो।

१९३१ मे गाधीजी की इग्लैड-यात्रा के समय वहा के एक अखबार 'स्टार' ने एक व्यग्य चित्र छापा था, जिसमे कोपीनधारी गाधीजी को काली कमीजवाले मुसोलिनी, भूरी कमीजवाले हिटलर, हरी कमीजवाले डि वेलरा और लाल कमीजधारी स्तालिन के साथ खडा दिखाया गया था। उस व्यग्य-चित्र का शीर्षक था, "और इसके पास तो कोई भडकीली कमीज ही नही !" शीर्षक का शब्दार्थ भी सही था और ध्वन्यार्थ भी। मानवी भाई-चारे मे विश्वास रखनेवाले अहिंसावादी के निकट राष्ट्र और जातिया भले और बुरे मे, मित्र और शत्रु मे विभाजित नही होती। इसका यह मतलब नही कि गाधीजी आक्राता और आक्रमण से आशकित देशो मे भेद नही करते थे। नेहरूजी ने उन्हे यूरोप की स्थिति का जो परिचय दिया था, उसके आधार पर उनकी पूरी सहानुभूति आक्रात देशो के ही साथ हो, यह स्वाभाविक था। स्वय गाधीजी अपने जीवन-भर हिंसा की शक्तियो से सघर्ष करते रहे थे। पिछले तीस बरसो से भी अधिक समय से वह एक ऐसी अहिंसात्मक शैली का विकास करने मे लगे थे, जो व्यक्ति और समूह दोनो की समस्याओ को प्रभावशाली ढग से हल कर सके। उसका अहिसा का सिद्धात और सत्याग्रह की शैली कई वरसो मे जाकर परिपक्व हुई थी। वोअर-युद्ध मे और प्रथम महायुद्ध मे उन्होने एबुलेस दल गठित किये थे और अग्रेजो की भारतीय सेना के लिए रगरूट भर्ती का काम भी किया था। इससे कोई फर्क नही पडता कि उन्होने खुद बदूक नही उठाई थी। बाद मे स्वय उन्होंने स्वीकार किया है—' अहिसा की दृष्टि मे तो मैं अपने उन कार्यो का बचाव नही कर सकता। हथियारो से लडनेवालो और रेड क्रास का काम करनेवालो मे मैं कोई फर्क नही करता। दोनो ही लडाई मे हिस्सा लेते और उसके उद्देश्य मे मदद पहुचाते है। युद्ध के गुनाह के अपराधी तो दोनो ही है।"

पहले और दूसरे महायुद्धो के बीच के बीस बरसो मे ब्रिटिश साम्राज्य की नेकनीयती मे गाधीजी का विश्वास पूरी तरह डिग गया था। निरतर के मनन और अनुभव से अहिसा की शक्ति मे उनका विश्वास

उत्तरोत्तर दृढ होता गया था। और उनका अखिल देशीय यात्राओ एव तीन-तीन देशव्यापी सत्याग्रह-अभियानो के कारण भारत की जनता भी अहिंसा-धर्म से परिचित हो चुकी थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सघर्ष मे वह अहिंसा पर इतना अधिक जोर देते थे कि अनेक बार तो साधन ही साध्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता था। नवम्बर १९३१ मे तो उन्होने यहातक कह दिया था, "मै बार-बार दुनिया को यह बताना चाहूगा कि अहिंसा की कीमत पर तो मुझे अपने देश की आजादी भी मजूर न होगी।"

युद्ध का खतरा जितना ही बढता गया और हिंसा की शक्तिया जितनी ही बलवती होती गई अहिंसा की अमोघता मे गाधीजी का विश्वास भी उसी परिमाण मे बढता गया और वह अपनी आस्था की घोषणा भी बार-बार उतने ही जोर से करते रहे। उन्होने अनेक बार इस बात को जोर देकर कहा कि विश्व-इतिहास की इस सकट की घडी मे भारत को देने के लिए उनके पास एक सदेश है, और भय-विकपित मानवता के नाम भारत के पास एक सदेश है, और अपने साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' के पृष्ठो मे उन्होने सैनिक आक्रमण और राजनैतिक अत्याचारो का अहिंसात्मक ढग से विरोध करने के उपायो का वर्णन किया। उन्होने कमजोर राष्ट्रो को यह सलाह दी कि वे अधिक शस्त्र-सज्जित राज्यो का सरक्षण प्राप्त करके अथवा अपने सैन्यबल को बढाकर नही, अपितु अहिंसात्मक प्रतिरोध के ही द्वारा आक्रमणकारी से आत्म-रक्षा करें। अहिंसावादी अबीसीनिया को राष्ट्र सघ से न तो शस्त्रो की आवश्यकता होगी, न सकटकालीन सहायता की। अगर अबीसीनिया का हर बालक, बूढा और जवान इटली के सैनिको का सहयोग देना बद कर दे तो आक्रमणकारी सैनिको को उनकी लाशो पर चलकर ही विजय तक पहुचना होगा और जिस देश को वह अपने अधिकार मे करेगे, वह एकदम निर्जन और शून्य होगा।

यह कहा जा सकता है कि गाधीजी मानवी सहनशक्ति से बहुत अधिक अपेक्षा कर रहे थे। शत्रु के आगे समर्पण करने की अपेक्षा एक-एक आदमी, औरत और बच्चे का मर जाना सामान्य साहस की बात नही। इसके लिए अतुलित बल चाहिए। लेकिन गाधीजी का अहिंसात्मक प्रतिरोध सकट मे जान बचाने का सुविधाजनक सिद्धात तो था नही कि उसकी ओट

ले ली जाती और न वह तानाशाहो की हिंसा और पशुबल के आगे स्वेच्छा से आत्म-समर्पण ही था। अहिंसात्मक प्रतिरोध करनेवाले को तो चरमकोटि के बलिदान के लिए तैयार रहना होता था।

१९३८-३९ के घटना-प्रवाहो मे यूरोप मे अनेक शान्तिवादियो (पैसिफिस्ट) के विश्वास कच्चे मिट्टी के घडे साबित हुए थे। जी डी एच कोल ने अपनी आत्मव्यथा को 'आर्यन पाथ' के एक लेख मे बडी ही सशक्त शैली मे व्यक्त किया था—"दो वर्ष पहले तक मैं अपनेको युद्ध, हत्या-व्यापार और हिंसा का कट्टर विरोधी समझता था। लेकिन आज युद्ध के प्रति मेरी घृणा ही इन विभीषिकाओ को रोकने के लिए मुझे युद्ध का खतरा उठाने को प्रेरित कर रही है। मैं युद्ध का जोखिम लेने को तैयार हो जाऊगा, लेकिन मेरी अतरात्मा तो आदमी का वध करने के विचार-मात्र से कापती है। किसीका वध करने की अपेक्षा मैं मर जाना पसद करता हू, लेकिन स्वय मरने की अपेक्षा किसीका वध करना ही क्या आज मेरा कर्त्तव्य नही है ?"

मानवता के समक्ष नित-नूतन विभीषिकाए खडी की जा रही थी। विनाशक यत्रो को क्रमश पूर्णता प्रदान की जा रही थी। हवाई जहाज ने मार की हद को बहुत लबा कर दिया था। लेकिन युद्ध के यत्र और शस्त्रास्त्र कितने ही सहारक और भयानक क्यो न हो, मनुष्य का हाथ और मस्तिष्क ही उन्हे सचालित करता है। युद्ध की योजना बनानेवालो का सदा ही एक निश्चित प्रयोजन रहा है और वह है विजित देशो की जनता और वहा के साधनो का शोषण करना। आक्रमणकारी आतक का सहारा लेता है और जबतक विरोधी को अपनी इच्छा के आगे झुका नही लेता आतक की मात्रा को निरतर बढाता जाता है। "लेकिन मान लीजिये," गाधीजी लिखते है, "एक देश की जनता यह फैसला कर ले कि वह आततायी की इच्छा को कभी पूरा करेगी ही नही और न आततायी के तरीके से अपने पर किये जा रहे अत्याचारो का जवाब ही देगी, तब तो आततायी को अपना आतक और अत्याचार बद करना ही होगा। अगर दुनिया के तमाम चूहे मिलकर यह फैसला कर लें कि वे बिल्ली से नही डरेंगे और खुशी-खुशी उसके मुह मे चले जायगे तब तो चूहे जी जायगे।"

अहिंसा आक्रमण का मुकाबला करने का सिर्फ एक ढग ही नही, ज़िन्दगी

का एक तरीका भी है। नाजी और फासिस्ट सैन्यवाद का मूल उद्देश्य नये साम्राज्यों की स्थापना करना था—एक निर्मम होड़ थी, जिसके द्वारा वे कच्चे माल के जखीरे और नये बाजार प्राप्त करना चाहते थे। इस प्रकार युद्ध को जन्म देनेवाले कारण थे मनुष्य का अतिशय लोभ और राष्ट्रीयता को मानवता से ऊंचा स्थान देनेवाली जातीय अहम्मन्यता। युद्ध की विभीषिकाओं से विश्व का उद्धार करने के लिए केवल यही काफी नहीं है कि सैन्यवाद का अंत किया जाय, प्रति-स्पर्द्धात्मक लोभ, भय और घृणा को मिटाना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि युद्ध की जड़ें इन बुराइयों में ही तो पनपती है।

जान मिडलटन मरी ने सितंबर १९३८ के 'आर्यन पाथ' के एक लेख में गांधीजी को वर्तमान विश्व का सबसे बड़ा ईसाई उपदेशक बताते हुए लिखा था—"मुझे तो ईसाई-प्रेम के ज्योति-पुंज के अतिरिक्त पश्चिमी सभ्यता के उद्धार की और कोई आशा, कोई मार्ग, दिखाई नहीं देता। केवल दो ही विकल्प है—या तो यह ईसाई-प्रेम अथवा विश्व-व्यापी हत्या, जिसकी कल्पनामात्र से आत्मा थर्रा उठती है।"

लेकिन ईसाई-प्रेम का ज्योति-पुंज तो प्रज्वलित हुआ नहीं, यहां-वहां जो दीये टिमटिमा रहे थे, वे भी एक-एक कर बुझने चले गए और सितंबर १९३९ में जब यूरोप में दूसरा महायुद्ध छिड़ा तो वहां सिर्फ गहरा अंधेरा छाया हुआ था।

३ सितंबर, १९३९ को भारत के राजपत्र में यह गंभीर घोषणा की गई थी—"मैं विक्टर अलेक्जेंडर जान, लिनलिथगो का मार्क्वेस, भारत का गवर्नर-जनरल और पदेन एडमिरल (नौ सेनापति), प्राप्त सूचनाओं की प्रामाणिकता का निश्चय कर लेने के पश्चात् यह घोषणा करता हूं कि हमारे सम्राट और जर्मनी के मध्य युद्ध आरंभ हो गया है।"

पं० जवाहरलाल नेहरू अपने महान् ग्रंथ 'हिंदुस्तान की कहानी'[१] में लिखते है—"एक आदमी ने, और वह भी विदेशी, चालीस करोड़ लोगों को बिना उनकी राय के लड़ाई में झोंक दिया।" १९३५ के गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट के अंतर्गत भारत में संघीय सरकार बन नहीं पाई थी और देश के शासन का अंततोगत्वा उत्तरदायित्व ब्रिटिश पार्लमेंट पर था, इसलिए

[१] सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित

वाइसराय को उक्त घोपणा वैधानिक दृष्टि से तो अवश्य आपत्तिजनक नही थी, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वह निश्चय ही एक बडी भूल थी और वह इसलिए और भी अनिष्टकारी थी, क्योकि काग्रेस की सहानुभूति पूर्णत मित्र-राष्ट्रो के साथ थी। काग्रेस की विदेश-नीति के प्रणेता प० जवाहरलाल नेहरु थे, जिनका फासिस्टवाद-विरोधी रुख जग-जाहिर हो चुका था और जो तानाशाही राज्यो के साथ किसी भी तरह का समझौता करने को तैयार नही थे।

यदि उस समय ब्रिटिश सरकार थोडी-सी सूझ-बूझ से काम लेती तो भारतीय जनता की सक्रिय सहानुभूति मित्र-राष्ट्रो को मिल सकती थी। तुरन्त ही अपनी भूल वाइसराय की समझ मे आ गई और उन्होने उसे सुधारने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उन्होने तार देकर गाधीजी को मिलने के लिए बुलाया। गाधीजी तुरन्त शिमला पहुचे। उन्होने लार्ड लिनलिथगो को आश्वासन दिया कि उनकी सहानुभूति इगलैड और फ्रास के साथ है, लेकिन अहिसावादी होने के नाते वह मित्र-राष्ट्रो का केवल नैतिक समर्थन कर सकते थे। युद्ध की चर्चा करते-करते जब बमबारी मे पार्लामेंट भवन और वेस्ट मिन्स्टर एबे के ध्वस की सभावना का जिक्र आया तो गाधीजी व्याकुल हो गये। उन्हे हिसा की विजय होती दिखाई दे रही थी।

युद्ध के आरभ के दिनो मे वह बहुत ही उद्विग्न और अशान्त थे। उस समय उन्होने लिखा था—"मै बहुत ही खिन्न और असहाय हो गया हू। मैं अपने मन मे हर समय ईश्वर को यह उलहना देता हू कि तू ऐसे वीभत्स कृत्य क्यो होने देता है! अपनी अहिसा मुझे निर्बल और निर्वीर्य प्रतीत होने लगती है। लेकिन रोज ईश्वर से झगडा करने के बाद मुझे यही जवाब मिलता है कि न ईश्वर निर्बल है और न अहिसा ही। निर्बलता और नामर्दी तो आदमियो मे है।" हिसा से हिसा के मुकाबले को वह निरर्थक समझते थे। उनका अपना रास्ता बिल्कुल साफ था—"मैं कार्य-समिति का मार्ग-दर्शन करू या यदि किसीकी भावनाओ को ठेस पहुचाये बिना इस शब्द का प्रयोग कर सकू तो सरकार का, मेरा निश्चित प्रयोजन तो किसी एक या दोनो को अहिसा के मार्ग पर ले जाना होगा, चाहे वह मार्ग कितना ही अस्पष्ट क्यो न हो।"[१]

---

[१] हरिजन, ३० सितम्बर, १९३९

युद्ध छिड़ते ही यूरोप के अधिकाश शातिवादी विचलित हो गये थे, लेकिन उन आरभिक दिनो मे भी गाधीजी अपने शातिवाद पर दृढ और अविचलित थे। यद्यपि वह जानते थे कि अहिंसा के द्वारा भारत को विदेशी आक्रमण से बचाने का उनका प्रस्ताव व्यावहारिक रूप से शायद ही किसी काग्रेस जन को स्वीकार हो, लेकिन स्वय गाधीजी के लिए तो कोई गत्यतर नही था। परीक्षा की उस कठिन घड़ी मे वह अहिंसा मे अपनी आस्था और विश्वास को कैसे छोड देते ? "मेरी आस्था अकेले मुझी तक सीमित है। देखना है कि इस एकाकी पथ पर मेरा कोई सहयात्री है भी या नही मेरी साथी एक हो या बहुत-से, मैं तो जोर देकर यही कहूगा कि अपनी सीमाओ की रक्षा के लिए भी भारत हिंसा का अवलबन न करे, यही उसके लिए श्रेयस्कर है।"[1]

यदि राजनीति के सबध मे बिस्मार्क की यह परिभाषा स्वीकार कर ली जाय कि वह जितना हो सके उतन को ही करने की कला है तो गाधीजी का उस समय का रवैया राजनीतिज्ञ का नही, पैगबर का था। आस्था की दृढता के कारण प्राय उनके निकट आदर्श और वास्तविकता मे कोई अतर नही रह जाया करता था। विश्वव्यापी युद्ध के समय जब देश राजनीतिज्ञो की युद्ध-योजना के केवल मोहरे बनकर रह गये थे, गाधीजी इस बात की घोषणा कर रहे थे कि स्वतत्र भारत का कोई शत्रु न होगा। वह भूल गये थे कि विश्व-आधिपत्य के हामी शक्ति के मद मे चूर, भूमि के भूखे, मानव-द्वेषी दुरात्मा राज्य और उनके शासक अपने अभीष्ट लाभ के लिए उचित-अनुचित कुछ भी नही देखा करते। इतना ही नही, गाधीजी ने एक कदम और आगे जाकर कहा कि यदि भारतवासियो को दृढता से 'न' कहना आ जाय तो विदेशी सेनाओ का उसपर आक्रमण करने का साहस ही न होगा और भारत की अर्थ-व्यवस्था का इस तरह पुनर्गठन होना चाहिए कि किसी बाहरी शक्ति को उसपर आक्रमण करने का लोभ ही न हो। लेकिन भारत की अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन के लिए समय ही कहा था और जो जनता अग्रेजी राज्य को हटाने के लिए आवश्यक अहिंसा को भी न अपना सकी थी, वह सशस्त्र विदेशी आक्रमण को

---
[1] हरिजन, १४ अक्तूबर १९३९

निरस्त करने लायक अहिमा-बल अपने मे सहसा कैसे पैदा कर लेती ?

भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस शातिवादियो का सगठन नही थी। उसने सिर्फ स्वतत्रता-सघर्ष के लिए अहिंसा को अपनाया था। सब समय और सब मौको के लिए उसे अपना धर्म और व्रत नही बना लिया था। कई प्रमुख काग्रेसी नेता, जिनमे प० मोतीलाल नेहरू भी थे, अपने जीवनकाल मे स्वतत्र भारत मे पुलिस और सेना की समाप्ति की बात नही सोचते थे, प्रत्युत ब्रिटिश इडियन आर्मी के भारतीयकरण की योजनाओ पर विचार किया करते थे और इस समय भी अधिकाश काग्रेसी नेता युद्ध को अहिसा की दृष्टि से नही, स्वराज्य-प्राप्ति की दृष्टि मे देख रहे थे। पहले महायुद्ध के समय तिलक और श्रीमती बेसेट आदि नेताओ ने युद्ध मे सहायता के बदले औपनिवेशिक स्वराज्य की माग की थी। पच्चीस वर्ष बाद तो देश इतना जाग गया था कि उससे कम पर राजी होने की बात सोची भी नही जा सकती थी। भारतीय राष्ट्रभक्त इस विरोधाभास की तो कल्पना भी नही कर सकते थे कि उनका अपना देश गुलामी की जजीरो मे जकडा रहे और वे चेकोस्लावाकिया अथवा पोलैड की आज़ादी और जनत्राद की रक्षा के लिए हजारो मील दूर यूरोप की भूमि पर लडने के लिए जाय। भारतीय राष्ट्रभक्तो के पक्ष मे, जो वास्तव मे मित्र-राष्ट्रो की सहायता करने के लिए उत्सुक थे, एक सबल कारण और भी था। अब युद्ध बस्ती से कही दूर दो पेशेवर सेनाओ की मुठभेड नही रह गया था, सपूर्ण राष्ट्र और समस्त जनता को सैनिको अथवा श्रमिको के रूप मे युद्ध के उद्यम मे लगाना आवश्यक हो गया था। ऐसी स्थिति मे जबतक इग्लैड भारत को समान सघर्ष मे बराबरी का हिस्सेदार स्वीकार नही कर लेता, विश्व-युद्ध मे भारत-वासी अपनी सपूर्ण क्षमता से योगदान कर ही कैसे सकते थे ?

१४ सितबर, १६३६ के प्रस्ताव के द्वारा काग्रेस कार्य-समिति ने नाज़ी आक्रमणकारियो के प्रतिरोध मे लगे राष्ट्रो से सहानुभूति व्यक्त करते हुए नाज़ीवाद के खिलाफ लडे जा रहे युद्ध मे अपना सहयोग देने की तत्परता प्रदर्शित की। लेकिन वह सहयोग "बराबरी के आधार पर पारस्परिक सहमति से एक ऐसे कार्य के लिए था, जिसे दोनो सर्वथा उपयुक्त समझते थे।" कार्य-समिति ने ब्रिटिश सरकार से जनवाद और साम्राज्यवाद के सबध मे

अपनी नीति और उद्देश्यो की स्पष्ट शब्दो मे घोषणा करने की माग की और जानना चाहा कि भारत मे उनका अमल कैसे होगा ? "किसी भी घोषणा की खरी कसौटी है वर्तमान मे उनपर अमल, क्योकि वर्तमान ही आज के कार्यो का सचालन और भावी कार्यो का निर्धारण करना है।" इस प्रकार काग्रेस ने ब्रिटेन के सामने दो बुनियादी बाते रखी—एक तो यह कि वह अपने युद्धोद्देश्यो का स्पष्टीकरण करे और दूसरे यह कि जिस स्वतत्रता और जनवाद की रक्षा के लिए भारत से सहायता मागी जा रही है, उन्हे पहले भारत मे लागू किया जाय।

१९४० की गर्मियो मे नाजी सेनाओ ने सारे पश्चिमी यूरोप को रौद डाला। अकेला इग्लैड अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियो मे प्रवल शत्रु से जिस वीरता के साथ लोहा ले रहा था, उसने भारतीयो मे उसके प्रति प्रशसा और सहानुभूति के भावो को जगा दिया। भविष्य भी साफ नजर आ रहा था। यदि इग्लैड नाजी विजय-वाहिनियो को रोकने मे असफल हो जाता तो हिटलर को भूमध्यसागर के रास्ते भारत मे घुस आने से दुनिया की कोई शक्ति रोक नही सकती थी। इस आसन्न सकट के कारण काग्रेस ने युद्ध मे अपने सहयोग की शर्तो को थोडा और नरम कर दिया। कार्य-समिति ने कहा कि यदि ब्रिटिश सरकार इस समय युद्ध के बाद भारत को स्वतत्र करने की स्पष्ट घोषणा कर दे तो काग्रेस देश की रक्षा के लिए अस्थायी राष्ट्रीय सरकार मे सम्मिलित हो जायगी। काग्रेस सहयोग के लिए कितनी उत्सुक थी, इसका पता इसी बात से चल जाता है कि वह गाधीजी का नेतृत्व छोडने के लिए भी तैयार हो गई थी। नाजियो के सैनिकवाद और आतकपूर्ण कार्रवाइयो के विरोधी और मित्र राष्ट्रो के प्रति सहानु-भूतिशील होते हुए भी गाधीजी बराबर इस बात पर जोर देते आ रहे थे कि हिंसा को केवल अहिंसा के द्वारा ही प्रभावोत्पादक ढग से समाप्त किया जा सकता है। वह काग्रेस से भी यही घोषणा करवाना चाहते थे कि देश पर सशस्त्र आक्रमण होने पर उसका अहिंसात्मक प्रतिरोध किया जायगा। लेकिन जब इसके बदले काग्रेस ने युद्ध-सचालन और देश-रक्षा के निमित्त अस्थायी सरकार मे सम्मिलित होने की तत्परता दिखलाई तो गाधीजी ने इस नीति से अपना सबध-विच्छेद कर लिया, क्योकि वह हिंसा पर आधा-

रित थी और किसी भी प्रकार की हिंसात्मक नीति मे उनका विश्वास नही था।

. ३६
खाई बढ़ती गई

१६४० की उन सकटपूर्ण गर्मियो मे काग्रेस के नेता सरकार की ओर से सद्‌भावना-सकेत की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होने युद्ध मे सहयोग की अपनी शर्तो को बहुत नरम कर दिया था। लेकिन उन्हे निराश ही होना पडा। ८ अगस्त, १६४० को सम्राट् की सरकार की ओर से वाइसराय ने जो घोषणा की वह बहुत आशाप्रद नही थी।

उस घोषणा मे नया विधान बनाने के भारतीयो के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन साथ ही यह भी जोड दिया गया था कि अभी इग्लैड जीवन-मरण की लडाई मे व्यस्त है, इसलिए नया विधान तैयार करने का काम तुरत शुरू नही किया जा सकेगा। घोषणा मे भारत और इग्लैड के पुराने सबधो का और भारत के प्रति इग्लैड की जिम्मेदारियो का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहा गया था कि इस सकट-काल मे इग्लैड उन दायित्वो से विमुख नही हो सकता और अत मे यह भी कहा गया था कि "ब्रिटिश सरकार भारत की शाति और उसके कल्याण का विचार करके अपनी जिम्मेदारिया किसी ऐसी भारतीय सरकार को नही सौप सकती, जिसकी सत्ता को देश के बडे और शक्तिशाली तत्त्व मानने से इनकार करे और न ब्रिटिश सरकार उन तत्त्वो के साथ जोर-जबर्दस्ती करने मे ऐसी भारतीय सरकार की सहायता ही कर सकती है।" असल मे यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नही थी। कोई नही चाहता था कि ब्रिटिश सरकार बडे और शक्तिशाली तत्त्वो के साथ जोर-जबर्दस्ती करे। लेकिन सरकार का उद्देश्य मुस्लिम लीग को रिझाना, काग्रेस-लीग-समझौते को और मुश्किल कर देना और ऐसा वातावरण तैयार कर देना था, जिससे सत्ता के हस्तातरण की आवश्यक शर्त, भारत के सब दलो और जातियो का

सर्वसम्मत समझौता, पूरी न हो सके।

कुछ वैधानिक परिवर्तन भी किये गए। वाइसराय की कौंसिल का बढ़ाकर उसमे कुछ 'प्रातिनिधिक भारतीयो' को ले लिया गया और एक युद्ध सलाहकार परिषद् (वार एडवाइजरी कौंसिल) भी गठित की गई, जिसमे प्रांतो, रियासतो और दूसरे निहित हितो के प्रतिनिधियो को लिया गया।

सरकार की दृष्टि मे अगस्त की घोषणा 'अधिकतम' थी, लेकिन कांग्रेस की न्यूनतम माग से भी वह इतनी न्यून थी कि कांग्रेस उसे स्वीकार करने को राजी न हो सकी। देश और सरकार के सामने जो सकट मुह बाए खड़ा था, उसके निवारण मे अधिकाश कांग्रेसी नेता अपना सहयोग देने का बहुत उत्सुक थे, लेकिन सरकार सहयोग लेने को तैयार न थी, इसलिए उन्हे बड़ी निराशा और दुःख भी हुआ।

गाधीजी युद्ध-काल मे सरकार को परेशान नही करना चाहते थे और कांग्रेसी नेता भी मित्र-राष्ट्रो की स्थिति के प्रति चिंतित थे, इसलिए किसी जन आदोलन का सवाल तो उस समय उठ भी नही सकता था। लेकिन वाइसराय की अगस्त घोषणा ने कांग्रेसजनो को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि नाराजी जाहिर करने के लिए किसी सशक्त कदम की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

प० जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेसजनो की उस समय की निराशा और विक्षोभ का वर्णन 'दो रास्ते' नामक एक लेख मे किया है—"इस घोषणा ने हमारे दिलो को जोड़ रखनेवाले रहे-सहे मुलायम धागो को भी तोड़ दिया।" सितबर १९४० मे बबई मे कार्य-समिति की बैठक हुई और उसमे सरकारी प्रस्तावो को पूरी तरह नामजूर कर दिया गया। युद्ध मे सहायता पहुचाने के लिए सरकार से सहयोग करने की बात ही खत्म हो गई थी, इसलिए कांग्रेस ने पुनः गाधीजी से नेतृत्व ग्रहण करने के लिए कहा। युद्ध मे सहयोग करना अहिसा की नीति के प्रतिकूल था, इसलिए गाधीजी ने सबध-विच्छेद कर लिया था। अब कांग्रेस फिर से सरकार की नीति का विरोध करना चाहती थी। इसलिए उसने गाधीजी का मार्गदर्शन पुनः स्वीकार कर लिया।

जिस प्रश्न ने कांग्रेस और सरकार के बीच की खाई को और चौड़ा

कर दिया था, वह शत-प्रतिशत राजनैतिक था। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध की समाप्ति पर भारत की स्वतत्रता का आश्वासन देने और उस दिशा मे अभी कुछ ठोस कदम उठाने से इनकार कर दिया था। लेकिन गाधीजी ने अपना सरकार-विरोधी अभियान राजनैतिक आधार पर नही, शातिवादी और युद्ध-विरोधी आधार पर सगठित किया। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार भारतीयो को न स्वाधीनता दे सकती है, न देने का वादा कर सकती है, लेकिन वह उन्हे भाषण की स्वतत्रता और उस स्वतत्रता के अतर्गत भारत को उसकी मर्जी के खिलाफ महायुद्ध मे घसीटे जाने का विरोध और युद्ध-मात्र का विरोध करने का अधिकार तो दे ही सकती है और देना चाहिए।

काग्रेस का वाम पक्ष और गाधीजी के कुछ सहयोगी भी जन-आदोलन शुरू न करने के पक्ष मे थे, लेकिन गाधीजी ने उनकी एक न सुनी। उन्होने चुने हुए लोगो के द्वारा सत्याग्रह शुरू करने का फैसला किया। सत्याग्रहियो के लिए उन्होने जो नियमावली बनाई थी, उसमे दो बातो पर खासतौर से जोर दिया गया था—जनता को उत्तेजित नही करेगे और अधिकारियो को हैरान नही करेगे। व्यक्तिगत सत्याग्रह आरभ करने से पहले गाधीजी ने यह नियमावली वाइसराय को भी भेज दी थी। पहले सत्याग्रही के रूप मे आचार्य विनोबा भावे का चुनाव किया गया। उन्होने १७ अक्तूबर, १९४० को वर्धा के समीप पवनार गाव मे युद्ध-विरोधी भाषण करके सत्याग्रह का श्रीगणेश किया। चार दिन बाद वह गिरफ्तार कर लिये गए। विनोबाजी के बाद ७ नवबर को दूसरी बारी प० जवाहरलाल नेहरू की थी, लेकिन सरकार ने उन्हे एक सप्ताह पूर्व इलाहाबाद जाते हुए रास्ते मे ही गिरफ्तार कर जेल भेज दिया था और चार साल की कैद की सजा भी दे दी थी। नवम्बर के मध्य मे आदोलन का द्वितीय चरण आरभ हुआ, जिसका नामकरण गाधीजी ने 'प्रतिनिधि सत्याग्रह' किया था। इसमे भाग लेने के लिए काग्रेस की कार्य-समिति, महासमिति और केन्द्रीय तथा प्रातीय कौसिलो के काग्रेसी सदस्यो मे से सत्याग्रहियो का चुनाव किया गया था। साल खतम होते-होते चार सौ काग्रेसी विधायक जेलो मे थे। इन चार सौ मे २९ भूतपूर्व काग्रेसी मत्री भी थे। जनवरी, १९४१ मे व्यक्तिगत सत्याग्रह ने तीसरे

चरण मे प्रवेश किया। इस बार सत्याग्रहियो की सूचिया स्थानीय काग्रेस
समिति बनाती थी और गाधीजी उन्हे स्वीकृति देते थे। अप्रैल, १९४१ मे
जब आदोलन का चौथा चरण शुरू हुआ तो उनमे साधारण काग्रेसजनो को
भी भाग लेने की स्वीकृति दे दी गई। १५ मई, १९४१ तक सरकारी सूचनाओ
के अनुसार २५,०६९ सत्याग्रही बदी जेल मे सजाए काट रहे थे। लेकिन
गाधीजी ने सारा आदोलन इस ढग से सचालित किया था कि देश मे कही
उत्तेजना की कोई घटना न घटी और न वातावरण ही तनावपूर्ण हुआ।
इस युद्ध-विरोधी सत्याग्रह को सामूहिक सविनय अवज्ञा का रूप देने के लिए
वह तयार न हुए—"जन-आदोलन का न तो कोई औचित्य है और न वाता-
वरण ही। यह सरकार को जान-बूझकर परेशान करना होगा और साथ ही
अहिसा का भग भी।"

जब 'हिंदू' समाचार-पत्र ने यह लिखा कि व्यक्तिगत सत्याग्रह से युद्ध
पर कोई खास प्रभाव नही पडा तो गाधीजी ने जवाब दिया था कि उसका
उद्देश्य युद्ध-प्रयत्नो मे बाधा पहुचाना तो कभी था ही नही। भारत-मत्री
मि० एमरी ने अपने एक बयान मे व्यक्तिगत सत्याग्रह को "जितना विवेक-
हीन उतना ही खेदजनक भी" बताया था और कहा कि "वह टीले-टाले
तरीके से चल रहा है, जिसमे लोगो की कोई दिलचस्पी नही है।" पर्ल बदर-
गाह पर जापानी आक्रमण के तीन दिन पहले तक जिस भारत सरकार को
स्वय उसीके शब्दो मे, "विजय प्राप्त होने तक युद्ध-प्रयत्नो मे भारत के
सभी जिम्मेदार लोगो के पूर्ण समर्थन का पक्का-पूरा विश्वास था" उसने
व्यक्तिगत सत्याग्रह मे गिरफ्तार और सजा काट रहे सभी राजनैतिक बदियो
को रिहा करने का फैसला कर लिया।

जापान के युद्ध मे प्रवेश करते ही लडाई भारत के दरवाजे तक पहुच
गई। अमरीकी जहाजी बेडे को तहस-नहस कर जापानी सेना तूफानी वेग
से पश्चिमी प्रशात महासागर मे बढी चली जा रही थी। १५ फरवरी,
१९४२ को सिगापुर का पतन हुआ और जापानी बेडे के लिए बगाल की
खाडी तक पहुचने का रास्ता साफ हो गया। नौ-शक्ति के रूप मे अग्रेजो
का पतन हो गया था। मलाया और बर्मा को पददलित कर जापानी पूर्वी
और दक्षिणी भारत पर चढ दौडने के लिए तैयार खडे थे। जापानियो की

इस त्वरित विजय ने जहा उनके सैन्य बल और रण-कौशल की धाक जमा दी, वही यह भी प्रकट कर दिया कि उनके द्वारा विजित देशो मे न प्रतिरोध की इच्छा थी, न उत्साह ।

गाधीजी ने जापानियो के इस नारे की कि "एशिया सिर्फ एशियावसियो के लिए है" निंदा की थी और चीन से सहानुभूति प्रकट करने के लिए जापानी माल के बहिष्कार का समर्थन किया था । चीन के प्रति नेहरूजी की सहानुभूति जग-जाहिर थी । इसलिए अगर जापान भारत पर हमला करके दो-एक लडाइया जीत लेता तो उसे यहा सक्रिय सहयोग तो न मिल पाता, लेकिन देशव्यापी पराजयवाद और निष्क्रियता के कारण यहा अपने पाव जमाने का मौका अवश्य मिल जाता । इस आसन्न सकट मे धुरी राष्ट्रो का पूरी शक्ति से प्रतिरोध करने मे अपना और देश का सहयोग देने की काग्रेस की उत्कठा बहुत ही तीव्र हो गई थी ।

व्यक्तिगत सत्याग्रह के बदियो की रिहाई से गाधीजी को, जैसाकि उन्होने कहा भी था, "न तो प्रसन्नता हुई, न प्रशसा का ही भाव मन मे आया ।" लेकिन घटनाचक्र बहुत तेजी से चल रहा था । दिसबर, १९४१ और जनवरी १९४२ की उन सर्दियो मे मित्र-राष्ट्रो की स्थिति उतनी ही सकटपूर्ण थी, जितनी १९४० की गर्मियो मे फ्रास के पतन के बाद हो गई थी । सी० राजगोपालाचार्य के नेतृत्व मे काग्रेस का एक वर्ग तुरत समझौता करके जापानियो के खिलाफ ब्रिटिश सरकार मे सयुक्त मोर्चा बनाने के पक्ष मे था । अधिकाश काग्रेसी नेता जापानी खतरे के खिलाफ सरकार की मदद करने को तैयार थे, लेकिन चाहते थे कि पहले सरकार अपनी ओर से सद्भावना का सकेत करे ।

उधर ब्रिटिश सरकार के विचारो मे भी युद्धजन्य परिस्थिति के कारण काफी परिवर्तन हो गया था । चर्चिल प्रधान मत्री थे । वह भारत की स्वाधीनता के कट्टर विरोधी थे । दिसबर १९४१ मे जब उन्होने अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट से वाशिगटन मे भेट की और रूजवेल्ट ने भारत की समस्या का उल्लेख किया तो चर्चिलसाहब को जैसे ततैया ने डक मार दिया । स्वय उन्हीके शब्दो मे—"मैं इस कदर नाराज हुआ कि फिर उन्होने उस सवाल को छेडा ही नही ।" लेकिन उन्ही चर्चिल साहब

को अब भारत का राजनैतिक संकट हल करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा। सिंगापुर के पतन के दस दिन बाद २५ फरवरी को उन्होंने अपने युद्धकालीन मंत्रिमंडल की एक उपसमिति भारतीय समस्या का अध्ययन करने और उसका हल सुझाने के लिए नियुक्त की। इस समिति के सदस्यों में साइमन और एटली विधि-आयोग के सदस्य रह चुके थे। जेम्स ग्रिग और जान एंडरसन उपनिवेश-विभाग की भारतीय शाखा में उच्च पदों पर थे, स्टैफर्ड क्रिप्स प्रायः सभी महत्वपूर्ण भारतीय नेताओं से मिल चुके थे, भारतीयों की स्वतंत्र होने की अभिलाषा से सहानुभूति रखनेवाले और भारतीय राजनीति के अच्छे जानकार थे एवं एमरी ब्रिटिश सरकार के भारत-मंत्री थे। ११ मार्च को चर्चिल ने हाउस आव कामन्स को यह सूचना दी कि उनका मंत्रिमंडल भारतीय समस्या पर एक सर्व-सम्मत निर्णय कर चुका है और सदन के नेता स्टैफर्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से चर्चा करने के लिए शीघ्र ही भारत-यात्रा करनेवाले हैं।

स्टैफर्ड क्रिप्स निश्चय ही इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे। वह जब २२ मार्च को ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव लेकर नई दिल्ली पहुंचे तो बहुत ही आशावान थे। उन्होंने भारतीय संकट को हल करने के लिए प्रमुख अधिकारियों एवं विभिन्न भारतीय नेताओं से जिन सुझावों पर चर्चा की वे संक्षेप में इस प्रकार थे—युद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद प्रांतीय कौंसिलों का चुनाव होगा और उन कौंसिलों के निम्न सदन एक विधान-निर्मात्री परिषद का चुनाव करेंगे। रियासतें उसमें अपने नामजद प्रतिनिधि भेजेंगी। यह परिषद 'भारतीय संघ' का, जो दूसरे उपनिवेशों के समकक्ष 'स्वतंत्र उपनिवेश' होगा, संविधान बनायेगी। उस भारतीय संघ को, यदि वह चाहे तो, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अलग होने का, अधिकार भी होगा। ब्रिटिश सरकार उस संविधान को इस शर्त पर जारी करेगी कि "यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत नये विधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का पूरा अधिकार रहे, किंतु साथ ही यह व्यवस्था भी रहे कि वह प्रांत यदि बाद में विधान में आना चाहे तो आ सके।" मिस्टर एटली ने इन सुझावों को बड़ा ही "साहसपूर्ण कदम" और "इनके निर्माताओं के लिए प्रशंसनीय काम" कहा था।

लेकिन भारतीय नेताओ को ये प्रस्ताव एकदम निराशाजनक और निस्सार प्रतीत हुए थे। गाधीजी ने (क्रिप्स ने उन्हे तार देकर वर्धा से मिलने के लिए बुलाया था। क्रिप्स से कहा था, "यदि आपके यही प्रस्ताव थे तो आपने यहा आने का कष्ट क्यो उठाया ? मै आपको सलाह दूगा कि आप अगले ही हवाई जहाज से ब्रिटेन लौट जाय।" जवाहरलालजी स्वीकार करते है कि जब उन्होने पहली वार उन प्रस्तावो को पढा तो उनका "दिल बुरी तरह बैठ-सा गया", "और ज्यो-ज्यो मैने उनको पढा, मेरी निराशा बढती गई।" यह सच है कि भारतीयो के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया था और उस अधिकार को कार्यान्वित करने का ढग और समय भी साफ शब्दो मे निश्चित कर दिया गया था, लेकिन प्रातो और रियासतो को अलग होने का अधिकार देकर देश के बीसियो "स्वतत्र राज्यो' मे विभाजित करने की व्यवस्था भी कर दी गई थी, जिससे भारत की राजनैतिक और आर्थिक एकता के टुकडे-टुकडे हो जाते। यह तो दूसरे रूप मे मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माग को स्वीकार कर लेना था। क्रिप्स ने अपने एक रेडियो भाषण मे कहा भी था— "जो लोग आपके साथ एक ही कमरे मे प्रवेश करना न चाहे, उन्हे राजी करते हुए यह कहना कि भीतर जाने के बाद आप बाहर निकल नही सकते, बुद्धिमानी की बात नही।" कुल मिलाकर काग्रेसी नेताओ की प्रतिक्रिया यही रही कि जिन्ना की बटवारे की माग को स्वीकार करने मे क्रिप्स-योजना लिनलिथगो की १९४० अगस्त की घोषणा से एक कदम आगे है। १९४० मे पाकिस्तान एक कल्पना-मात्र था, मार्च १९४२ मे वह एक राजनैतिक सभावना बन गया था।

काग्रेसी नेता क्रिप्स-योजना के सवैधानिक पक्ष से सहमत न हो सके, लेकिन उन्होने उसके भारत की रक्षा-सबधी तात्कालिक सुझावो पर विचार करके समझौते का कोई रास्ता निकालने की उत्सुकता अवश्य प्रदर्शित की। क्रिप्स और वाइसराय के साथ भारतीय नेताओ की कई बैठके हुई और उनमे वाइसराय की कौसिल के भारतीय रक्षा-सदस्य के उत्तरदायित्वो और अधिकारो के सबध मे विशद चर्चाए हुई। इन चर्चाओ मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट के निजी दूत कर्नल लुई जानसन भी हिस्सा ले रहे थे। लेकिन

ये चर्चा वार्ताएं भंग हो गई। भंग होने का कारण भारतीय रक्षा-सदस्य के कर्त्तव्यो और अधिकारो के सबंध मे मतभेद उतना नही था, जितना कि अंतरिम सरकार के स्वरूप और अधिकारो के सबंध मे।[1]

इंग्लैड पहुचने के बाद क्रिप्स ने कहा कि उन्होने तो सभी मिलनेवालो के सामने शुरु मे ही यह बात साफ कर दी थी कि नये विधान के लागू होने से पहले कोई वैधानिक परिवर्तन न किया जा सकेगा। हो सकता है कि क्रिप्स का शुरू मे यही इरादा रहा हो, लेकिन काग्रेसी नेताओ पर तो उनकी बातो का कुछ दूसरी ही तरह का असर हुआ था। समझौता वार्ताओ के दौरान उन्होने 'राष्ट्रीय सरकार' और 'मंत्रि-परिषद' आदि शब्दो का जब प्रयोग किया था, जिससे काग्रेसी नेताओ को यह आशा हो चली थी कि वाइसराय के वैधानिक नेतृत्व मे मंत्रिपरिषद के पूरे अधिकारोवाली नई सरकार शीघ्र ही काम करने लगेगी। इस गलतफहमी के लिए काग्रेसी नेताओ की वे धारणाए भी जिम्मेदार हो सकती है, जिनका क्रिप्स-योजना के सुझावो मे कोई उल्लेख नही था। नेहरूजी ने भी बाद मे इस ओर संकेत करते हुए लिखा था कि "हो सकता है कि समझौता के लिए काग्रेसी नेताओ की उत्सुकता ने उनको कुछ झूठी आशाए बधा दी हो।"

२४ अप्रैल १९४२ को लखनऊ के 'नेशनल हेरल्ड' ने क्रिप्स-समझौता-वार्ता को 'अमरीका का दबाव' बताते हुए उसकी असफलता पर यह टिप्पणी की थी—"यह विश्व-जनमत को अपने अनुकूल बनाने और असफलता के लिए पूरी तरह भारतीयो को जिम्मेदार ठहराने का ब्रिटेन का एक निरा तमाशा था।" इससे भारतीयो के गुस्से और निराशा का पता तो चल जाता है, लेकिन ब्रिटिश सरकार के साथ न्याय नही होता। जिस सरकार के प्रधान मंत्री ने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के

---

१ क्रिप्स योजना के अन्तर्गत भारत की रक्षा और युद्ध में सहयोग के संबंध में यह सुझाव था 'भारत के सम्मुख जो संकटकाल उपस्थित है, उसके दौरान में और जबतक नया विधान लागू न हो तबतक सम्राट की सरकार भारत की रक्षा, नियंत्रण और निर्देशन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में रखेगी। भारतीय जनता के सहयोग से सम्पूर्ण सैनिक, नैतिक तथा आर्थिक साधनो को संगठित करने की जिम्मेदारी भारत सरकार पर रहेगी।'

लिए पदारूढ है, उसका दिवाला निकालने के लिए नही, उसी सरकार के द्वारा भारत के आत्मनिर्णय की स्पष्ट स्वीकारोक्ति बहुत बडी बात थी। गलती यही हुई कि वैधानिक सुझावो मे दोनो को खुश करने की कोशिश की गई। भारत मे जनवादी सरकार की स्थापना की बात कहकर काग्रेस को, और उसे बीसियो छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यो मे विभक्त करने की बात कहकर मुस्लिम लीग, रियासतो एव अन्य निहित स्वार्थों को। जिन्नासाहब के विचारो और तरीको के कारण भारत के राजनैतिक भविष्य का प्रश्न इस बुरी तरह उलझ गया था कि ब्रिटेन की युद्धकालीन मन्त्रिपरिषद की एक उपसमिति के जल्दी-जल्दी तैयार किये हुए प्रस्ताव से वह सुलझ नही सकता था। फिर उस प्रस्ताव मे सशोधनो की कोई गुजायश भी नही रह गई थी। "जैसा है वैसा स्वीकार करो या अस्वीकार कर दो" वाली शर्त ने तो उसकी सफलता की सभावनाओ को और भी कम कर दिया था।

युद्ध ऐसे खतरनाक मोड पर पहुच गया था कि सवैधानिक सुझावो से असहमत होते हुए भी काग्रेसी नेता उस जटिल समस्या को स्थगित कर बढ चले आ रहे जापानी खतरे के खिलाफ देश को सगठित करने के लिए तैयार हो गये थे। लेकिन जिस युद्ध मे भारतीयो का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से क्रिप्स-समझौता-वार्ता शुरू की गई थी वह दुर्भाग्य से युद्ध मे सहयोग देने के ही तरीको को लेकर भग हो गई और वह भी ऐसे समय जब काग्रेसी नेता जापानियो से लडने के लिए नई सेनाए बनाने और ग्राम तथा नगर-रक्षा-दल सगठित करने को सबसे ज्यादा उत्सुक थे।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट को नई दिल्ली की पल-पल की खबरे उनके निजी दूत द्वारा भेजी जा रही थी। समझौता-वार्ता भग हो जाने से उन्हे बडा धक्का लगा और उन्होने हापकिन्स के द्वारा चर्चिल को यह सदेश भेजा कि अमरीकी जनता की यह समझ मे नही आता कि यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध के बाद भारतीय प्रातो और रियासतो को साम्राज्य से पृथक होने का अधिकार देने को तैयार है तो अभी उन्हे स्वशासन का अधिकार देने से क्यो इनकार कर रही है ? उन्होने 'सार रूप मे हमारे ही ढग की' राष्ट्रीय सरकार भारत मे स्थापित करने के लिए फिर से प्रयत्न करने का सुझाव भी चर्चिल को दिया, जो कार्यान्वित नही हुआ, क्योकि क्रिप्स भारत से चल

पडे थे। चर्चिल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है—"भगवान को धन्यवाद कि घटनाओ के कारण ऐसा पागलपन सभव न हुआ।"

काग्रेस अध्यक्ष ने क्रिप्स को लिखा था—"भारत की सुरक्षा ही हमारे और सभी भारतवासियो के निकट सबसे मुख्य प्रश्न है।" भारत की सुरक्षा के ही लिए भारतीय जनता राष्ट्रीय सरकार चाहती थी, लेकिन ऐसे समय भी ब्रिटिश सरकार भारत के राजनैतिक दलो के हाथ मे सत्ता सौपने को तैयार न हुई और अपनी जिद पर अडी रही। भारत सरकार के अधिकाश केद्रीय और प्रातीय अधिकारियो को युद्ध मे काग्रेस के सहायता-प्रयत्नो पर जरा भी विश्वास न था। फिलिप वुडरफ के शब्दो मे—"काग्रेस की मदद से न तो कोई रगरूट, न एक जोडी जूता और न बम का एक गोला ही मिल सकता था।" चर्चिल ने भी १९४२ की जनवरी मे कहा था कि काग्रेस के हाथ मे सत्ता सौप देने मे युद्ध के प्रयत्नो मे कुछ अधिक सहायता मिल जाने की आशा निरी दुराशा ही सिद्ध होगी। "परस्पर विरोधी दलो के हाथ मे देश की सुरक्षा का भार देने से तो सारा काम ही चौपट जायगा।" मार्च १९४२ मे चर्चिल क्रिप्स-प्रस्ताव के लिए राजी तो हो गये, परतु काग्रेस के प्रति उनका (और उनके प्रति काग्रेस का) अविश्वास बराबर बना रहा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के समझौता-वार्ता को फिर से शुरू करने के सुझाव को अस्वीकृत करने के सबध मे उनका कहना था कि "यदि इस सकट की घडी मे सारे मामले को खटाई मे डाला गया तो वह भारत की सुरक्षा की जिम्मेदारी लेने को तैयार नही हो सकेगे।"

इग्लैड पहुचकर क्रिप्स ने अपनी असफलता का सारा दोष गाधीजी के सिर मढ दिया। उन्होने तो यहातक कह दिया कि काग्रेस की कार्य-समिति ने प्रस्ताव को स्वीकार करने सबधी प्रस्ताव भी कर लिया था, लेकिन गाधीजी ने उसे रद्द करवा दिया, जबकि सचाई यह थी कि पहले तो गाधीजी दिल्ली आने को ही तैयार न थे। क्रिप्स के आग्रह पर राजी हुए तो उनके सुझावो मे अपना सदेह प्रकट किया और समझौता-चर्चा को आरम्भिक स्थिति मे ही छोडकर वर्धा लौट गये। अतिम निर्णय तो कार्य-समिति ने ही किया था और उसके सदस्यो को गाधीजी की राय मालूम थी, लेकिन साथ ही वे यह भी जानते थे कि वे जो भी निर्णय करेंगे, गाधीजी

उसके बीच मे नही आयगे ।

ऐसा कहा जाता है कि गाधीजी ने क्रिप्स-प्रस्ताव को दिवाला निकालती हुई बैंक के नाम बाद की तारीख का चेक[1] बताया था। गाधीजी का कहना है कि "मैंने ऐसी तो कोई बात नही कही, लेकिन सच देखा जाय तो वह प्रस्ताव बाद की तारीख का चेक ही था। ब्रिटिश सरकार के रुख ने, भविष्य पर जोर देने और वर्तमान को योही छोड देने की नीति ने उन्हे हतोत्साह कर दिया था। वर्तमान मे होनेवाले परिणामो के आधार पर ही वह नीतियो के गुण-दोप को परखने के आदी थे। यदि ब्रिटेन ने भारत के स्वतत्र होने के अधिकार को वास्तव मे स्वीकार कर लिया था, या यदि गाधीजी की ही भाषा मे कहे कि उसका हृदय-परिवर्तन हो गया था तो उसके सकेत वह रोजमर्रा के प्रशासन मे भी देखना चाहते थे, न कि केवल सरकारी दस्तावेजो मे। लेकिन उन्हे इस तरह का कोई सकेत नही दिखाई दे रहा था।

३७
भारत छोड़ो

क्रिप्स-योजना मे गाधीजी ने कोई खास रुचि नही दिखाई थी, लेकिन फिर भी उसकी असफलता से उन्हे बडी निराशा हुई। स्टैफर्ड क्रिप्स-जैसा भारत का मित्र भी काग्रेस की स्थिति को गलत समझ सकता है और उसकी गलत व्याख्या कर सकता है, इससे अधिक बडा आघात और क्या हो सकता था! अब तो बिल्कुल साफ दिखाई दे रहा था कि युद्ध-काल मे कोई समझौता नही हो सकेगा। सरकार युद्ध-जन्य परिस्थितियो से निपटने मे लगी थी। भारतीय सेना का काफी विस्तार कर दिया गया था। ब्रिटिश और अमरीकी शस्त्र-सरजामो से उसे लैस करने के साथ-ही-साथ सैनिको तथा दस्तो की सख्या भी बहुत बढा दी गई थी।

एक लम्बे-चौडे विशाल देश मे सीमाओ से बहुत दूर अदरूनी हिस्सो से सामना करने का क्या अर्थ होता है, इसे जापान ने चीन मे और जर्मनी ने

---

[1] 'ए पोस्टडेटेड चेक आन ए क्रैशिंग बैंक'

रूस ने भारी कीमत चुकाकर खूब अच्छी तरह समझ लिया था। भारत-जैसे विशाल देश पर शीघ्रता से अधिकार कर लेना सरल काम नहीं था। लेकिन भारत में चीन और रूस में एक बुनियादी अन्तर यह था कि यहां युद्ध साधारण जनता की देशभक्ति को जगा नहीं सका था। यहां की सरकार और जनता में उद्देश्यों और विचारों की कोई एकता नहीं थी। अंग्रेजों पर लोगों का जरा भी विश्वास नहीं रह गया था। सरकार का सम्पर्क सिर्फ युद्ध के ठेकों और मुनाफों पर मुटानेवाले मुट्ठी-भर लोगों से ही था, जबकि गांधीजी का हाथ जनता की नब्ज पर था। वह जानते थे कि देश संकट को चुनौती देने की स्थिति में नहीं है। देश की जनता डरी हुई, निराश और असहाय थी। भारत को बर्मा और मलाया की-सी स्थिति से बचाने के लिए तुरंत कुछ-न-कुछ करने की आवश्यकता थी। गांधीजी का विश्वास था कि यदि ब्रिटिश सरकार अब भी भारत की स्वाधीनता की फौरन घोषणा कर दे तो लोगों को देश-रक्षा के लिए संगठित किया जा सकता था।

लार्ड हार्डिंग ने एक बार गोखले से पूछा था कि मान लीजिये मैं आपको यह बता सकूं कि सारे ब्रिटिश अधिकारी और सैनिक इस्ने एक ही महीने में भारत छोड़कर चले जायंगे तो आपको कैसा लगेगा? "मुझे बहुत खुशी होगी," गोखले ने कहा था, "लेकिन आप लोगों के अदन पहुंचने के पहले ही हमें आप लोगों को वापस लौट आने का तार करना होगा।" तबसे अब-तक जनता के विचारों में बहुत प्रगति हो गई थी, फिर भी विश्व-व्यापी युद्ध के दौरान सारे अंग्रेजों को भारत से हटा देने की बात तो अब भी नहीं सोची जा सकती थी और न गांधीजी की यह मांग ही थी। वह तो केवल इतना चाहते थे कि राजनैतिक सत्ता भारतीयों को सौंप दी जाय। जो यह कहते थे कि यह समय इस काम के लिए उपयुक्त नहीं है, उन्हें गांधीजी का यह जवाब था, "भारत की स्वाधीनता को मान लेने का मनोवैज्ञानिक क्षण तो यही है। तभी और केवल तभी जापानी आक्रमण के प्रतिरोध में जनता को खड़ा किया जा सकता है।"

गांधीजी को यह कहते हुए बीस बरस से भी ज्यादा समय हो गया था कि हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना भारत को स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती।

लेकिन साप्रदायिकता अपना घिनौना सिर बार-बार उठाती रही और अन्त मे वह इस नतीजे पर पहुचे कि स्वतत्रता के वातावरण मे ही विभिन्न जातियो और सप्रदायो के परस्पर विरोधी दावो को सही ढग से निपटाया जा सकता है। इस तरह गाधीजी का 'भारत छोडो'-आदोलन एक साथ दो खतरो का हल था—जापानी आक्रमण से देश की रक्षा और आतरिक फूट को मिटाकर स्थायी एकता स्थापित करना। जो 'भारत छोडो' को निराशा, पराजय और जापानियो के स्वागत-सत्कार की नीति कहते है, उनके बारे मे यही कहना होगा कि उन्होने गाधीजी के विचारो को सही रूप मे समझने की जरा भी कोशिश नही की। फरवरी, १९४२ मे जब जापान सुदूर पूर्व मे विद्युत् वेग से बढ रहा था तो यह आशका प्रकट की जाने लगी थी कि निकट भविष्य मे ही इग्लैड का पतन हो जायगा। गाधीजी ने सार्वजनिक रूप मे ऐसी आशकाओ की भर्त्सना करते हुए लिखा था कि ब्रिटेन को पहले भी अनेक युद्धो मे पीछे हटना पडा है। लेकिन सकट का सामना करने और हर बाधा को सफलता की सीढी बना लेने की उसमे अद्भुत क्षमता है। शासको और स्वामियो की अदला-बदली के सम्बन्ध मे उन्होने बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे कहा था, "ब्रिटिश राज्य को किसी भी दूसरे परदेशी शासन से बदलने के लिए मैं जरा भी तैयार नही हू। जिस दुश्मन को मैं नही जानता उससे तो वही दुश्मन अच्छा, जिसे मै कम-से-कम जानता तो हू। धुरी राष्ट्रो के मित्रता के दावो की असलियत मैं जानता हू और इसीलिए मैंने उन्हे कभी महत्व नही दिया।"

भारत मे धुरी राष्ट्रो के महत्वपूर्ण सहयोगी या समर्थक कभी रहे भी हो तो उनमे गाधीजी तो कदापि नही थे। कुछ विदेशी सवाददाताओ ने इस तथ्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया था कि यदि भारत से सारी ब्रिटिश सेनाए एकबारगी हटा ली गई तो भारत पर जापानी आक्रमण का मार्ग एकदम खुल जायगा और चीन की सुरक्षा भी काफी हद तक खतरे मे पड जायगी। उन्होने स्वीकार किया था कि "जापानियो को रोकने का कोई सुस्पष्ट तरीका मेरे पास नही है।" उसके बाद जवाहरलालजी से काफी विचार-विनिमय करने के बाद अतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की ठोस वास्तविकताओ के अनुरूप अग्रेजो को भारत से हटाने का प्रस्ताव उन्होने तैयार किया

था। उन्होंने युद्ध-काल मे मित्र-राष्ट्रो की सेनाओ को भारत मे रखने की बात स्वीकार कर ली थी और कहा था कि धुरी राष्ट्रो के खिलाफ रक्षात्मक कारवाइयो के लिए सयुक्त राष्ट्र से सधि करना भारत की राष्ट्रीय सरकार का पहला काम होगा।

सितम्बर १९३९ की 'विदेशी आक्रमण के अहिसात्मक प्रतिरोध' की स्थिति से गाधीजी काफी दूर निकल आये थे। अहिसात्मक प्रतिरोध के प्रश्न पर वह दो बार काग्रेस से अलग भी हो चुके थे। अहिसा उनका मूल मत्र था, इसलिए यदि इस बार वह काग्रेस से सहमत हो गये और प्राणो से भी प्यारे सिद्धात से थोडा दूर हट गये तो यही मानना होगा कि युद्ध-जन्य सकट की उस घडी मे देश को स्वतत्र करने की आकाक्षा एकदम दुर्दमनीय हो उठी थी।

१४ जुलाई, १९४२ की वर्धा की अपनी बैठक के बाद काग्रेस कार्य-समिति ने घोषणा की कि "भारत मे ब्रिटिश राज्य का तुरत अत होना चाहिए।" समिति की राय मे क्रिप्स मिशन की असफलता के परिणाम-स्वरूप अग्रेजो के प्रति दुर्भावना और जापान की सैनिक सफलताओ के प्रति सद्भावना और सतोष मे निरतर वृद्धि होती जा रही थी। अत मे "भारत का सयुक्त प्रयत्न मे बराबरी का हिस्सेदार बनाने के लिए देश को स्वतत्र करने' की माग करते हुए समिति ने घोषणा की थी, यदि ब्रिटिश राज्य को भारत से तुरत हटा लेने के उसके अनुरोध पर ध्यान नही दिया गया तो गाधीजी के नेतृत्व मे सविनय अवज्ञा आदोलन शुरू कर दिया जायगा। इस महत्वपूर्ण मसले पर अतिम फैसला काग्रेस की महासमिति ने बबई की अपनी ७ अगस्त की ऐतिहासिक बैठक मे किया।

१९४२ के अगस्त महीने मे सरकार और काग्रेस दोनो के मिजाज एक-से बिगडे हुए थे। लार्ड लिनलिथगो, अपने विचारो के अनुसार, पूरे तीन साल तक काफी धीरज और शाति से काम लेते रहे थे। १९४१ के दिसबर मे सभी सत्याग्रही बदियो को रिहा करके उन्होने अपनी सद्भावना का परिचय भी दिया था, लेकिन काग्रेस का सहयोग उन्हे फिर भी न मिला। 'भारत छोडो'-प्रस्ताव ने देश के राजनैतिक वातावरण को एकदम गरम कर दिया था। यदि सविनय अवज्ञा आदोलन शुरू कर ही दिया गया तो

सामान्य शासन ठप्प होने के साथ-साथ सारे युद्ध-प्रयत्न भी खतरे मे पड जायगे। वाइसराय ने कडे हाथ से काम लेने का फैसला किया। ब्रिटिश मन्त्रिमडल के समर्थन का उन्हे पूरा और पक्का विश्वास था।

गाधीजी, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद[१] आदि काग्रेसी नेताओ को ९ अगस्त को बडे सवेरे ही गिरफ्तार कर लिया गया। इन गिरफ्तारियो की देश मे बडी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई, खास तौर पर बगाल, बिहार, सयुक्त प्रात और बबई मे जनता ने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ बगावत का झडा खडा कर दिया। डाकघर, थाने, अदालते, रेल के स्टेशन आदि ब्रिटिश राज्य से सबधित सभी सस्थाओ को जलाया जाने लगा। रेल की पटरिया उखाड दी गई और डिब्बो को तोडा-फोडा गया। टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काट दिये गए। महासमिति के समक्ष दिये गए अपने अतिम भाषण मे गाधीजी ने शुरू की जानेवाली लडाई के अहिसात्मक रूप पर काफी जोर दिया था, लेकिन सरकार के घनघोर दमन से विक्षिप्त और क्रुद्ध जनता ने इस सलाह पर कोई ध्यान नही दिया। यह सच है कि अग्रेज अफसरो ने १८५७ के विद्रोह की याद ताजा कर दी थी, लेकिन यह भी मानना होगा कि १९४२ की घटनाए स्वय-स्फूर्त और आत्मघाती हिसा का परिणाम भी थी। सरकार ने आदोलन पर पूरी शक्ति से वार किया। भीड को बिखेरने के लिए गोलीबारी ही नही की जाती थी, हवाई जहाजो से मशीनगने भी चलाई जाती थी।

चर्चिल ने हाउस आव कामन्स मे कहा कि "काग्रेस ने अब अहिसा की उस नीति को, जिसे गाधीजी एक सिद्धात के रूप मे अपनाने पर इतने दिनो से जोर देते आ रहे थे, त्याग दिया है और क्रातिकारी आदोलन का रास्ता अपना लिया है।" देश और विदेशो मे यह धुआधार प्रचार किया जाने लगा कि यह सारी तोड-फोड, हिसा और आगजनी काग्रेसी नेताओ द्वारा तैयार किये हुए षडयन्त्र का ही परिणाम है। गिरफ्तारी के एक सप्ताह बाद गाधीजी ने आगाखा-महल से, जहा उन्हे बद किया गया था, वाइसराय को पत्र लिखकर शिकायत की कि तोड-फोड की घटनाओ के बारे मे सरकारी वक्तव्य "सत्य की हत्या" ही है। उन्होने कहा कि यदि मुझे गिरफ्तार न कर

[१] मौलाना साहब उस समय काग्रेस के अध्यक्ष थे।

लिया जाता तो सरकार से समझौता करने की कोई कोशिश बाकी नहीं छोड़ता। आंदोलन में हिंसा को प्रोत्साहन देने और किसी षड्यंत्र में उनका या उनके सहयोगियों का हाथ होने के आरोप को उन्होंने बिल्कुल ही गलत बताया और नेताओं की अप्रत्याशित गिरफ्तारी के द्वारा संकट को गहरा करने के लिए उलटे सरकार को ही जिम्मेदार ठहराया। गांधीजी अभी महा-समिति को अपनी पूरी योजना समझा भी नहीं पाये थे कि सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। स्वतंत्रता की तीव्र उत्कंठा और युद्धकाल में सरकार को परेशान न करने की अभिलाषा में संतुलन बनाये रखने की वह सतत कोशिश करते रहे थे। यदि वह गिरफ्तार न कर लिये जाते तो आंदोलन का रूप कुछ दूसरा ही होता—उसमें सरकार को युद्धकाल में परेशान न करने-वाली बात ही अधिक होती। यदि आंदोलन हिंसात्मक हो ही जाता तो वह उसे रोकने में अपनी पूरी शक्ति, यहांतक कि प्राणों की बाजी भी, लगा देते। उत्तेजित जन-समुदाय को वश में करने का रामबाण उपाय—उपवास तो उनके हाथ में था ही।

'१९४२ के उपद्रवों' की जिम्मेदारी के संबंध में आगाखां-जेल में गांधीजी और वाइसराय तथा उनकी सलाहकार परिषद् के बीच काफी लंबा और कुछ उग्र पत्र-व्यवहार होता रहा। लार्ड लिनलिथगो ने (जिन्हें गांधीजी अपना मित्र समझते थे) जब अहिंसा में उनकी आस्था और उनकी ईमानदारी में ही संदेह प्रकट कर दिया तो महात्माजी से बर्दाश्त न हो सका। इस घोर आत्मिक कष्ट से शांति पाने के लिए उन्होंने १० फरवरी-१९४३ से इक्कीस दिन का उपवास आरंभ किया। भारत सरकार जिस उपवास से डर रही थी वह आखिर शुरू हो ही गया। जेल में गांधीजी की मृत्यु की जोखिम उठाने को वह कभी तैयार नहीं हुई थी, लेकिन इस बार उसका रुख इतना कड़ा था कि वह यह खतरा और इसके परिणामों के लिए भी तैयार हो गई। गांधीजी के उपवास शुरू करते ही सारे देश में उथल-पुथल मच गई। डाक्टरी बुलेटिनों के शोकजनक समाचारों से सारा देश शोकाकुल और उद्विग्न होने लगा। वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के तीन सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया। विभिन्न पार्टियों और दलों के नेता एक होकर गांधीजी की रिहाई और उनकी प्राण-रक्षा के लिए वाइसराय से

'अपीले करने लगे। लेकिन ब्रिटिश मत्रिमडल की शह पाकर वाइसराय और अकड गये, वह टस-से-मस न हुए, उलटे उन्होने गाधीजी के उपवास को 'राजनैतिक धौस'[१] कहकर लाछित किया। महात्माजी को इस तरह लाछित कर वाइसराय को जो भी सतोप मिला हो, वही जाने, लेकिन उनके प्रति देश की नाराजी तो और वढी ही।

"यह उनकी गलती नही, हमारा सौभाग्य ही था कि गाधीजी और उनके साथियो को वडी होशियारी से रखे हुए पलीते मे निर्धारित समय के पहले आग लगाने को विवश होना पडा।" १९४२ के उपद्रवो के सबध मे यह दोपारोपण किया था वाइसराय की कार्यकारी कौसिल के अग्रेज गृह सदस्य मर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने और यह उस सरकारी प्रचार का एक अग था, जिसके द्वारा गाधीजी और काग्रेस को जापान के खिलाफ मित्र-राष्ट्रो की लडाई मे वाधक और तोडफोड करनेवाला वतलाकर दुनिया की निगाह मे बदनाम किया जा रहा था। इस भ्रामक प्रचार का कुछ असर तो जरूर हुआ, लेकिन वह ज्यादा दिन टिक न सका। नवबर, १९४२ मे फील्ड मार्शल स्मट्स ने लदन की एक प्रेस-कान्फ्रेस मे इस प्रचार की वखिया उधेडकर रख दी। उन्होने कहा—"महात्मा गाधी को पचमागी कहना निरी वकवास है। वह महान है। दुनिया के महापुरुपो मे से एक है।" अखवारो मे चित्र छापने और नाम का उल्लेख करने पर भी रोक लगाकर गाधीजी के राजनैतिक अस्तित्व को समाप्त करने की कोशिश मे भी सरकार कामयाव न हो सकी। जिस साहस से उन्होने सरकार का सामना किया, जिस अदम्य विश्वास से उन्होने अहिसा का ऐसे समय, जवकि चारो ओर हिसा विजयी हो रही थी, पक्ष प्रवल किया, जिम दृढता से उन्होने १९४२ के उपद्रवो के बारे मे सरकारी भ्रमजाल को छिन्न-भिन्न किया, उसने करोडो भारतवासियो की दृष्टि मे उनके स्थान और सम्मान को वहुत ऊचा कर दिया। वह रक्त-रजित परतु अपराजेय राष्ट्र-प्रेम के प्रतीक हो गये।

आज इतने वर्पो के वाद १९४२ की घटनाओ को उनके वास्तविक रूप मे ज्यादा अच्छी तरह देखा और समझा जा सकता है। १९३४ से ही

---

१ पोलिटिकल ब्लैकमेल—अपनी माग मजूर करवाने के लिए वदनाम करने की धमकी देना।

गाधीजी जनता को अहिसा व्रत मे दीक्षित करने पर जितना जोर देते रहे थे, युद्ध से पहले के वर्षो मे अनुशासनहीनता और हिसा की चतुर्दिक वृद्धि पर जो चिता उन्हे होती रही थी और १९४०-४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह को उन्होने जितना सीमित और नियत्रित रखा था उस सबको देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि उस समय के उत्तेजनापूर्ण वातावरण मे उन्होने इतना खतरनाक कदम उठाने की इजाजत कैसे दे दी ! विश्वव्यापी युद्ध के समय जब जापान भारत की सीमाओ पर ताक लगाये खडा था, जन-आदोलन के सभावित खतरो मे वह अनभिज्ञ रहे हो, यह तो नही कहा जा सकता। लेकिन जनता की घोर निराशा जनित निष्क्रियता और उसके जापानी आक्रमण-कारी की शरण मे चले जाने की सभावना मे भी वह अपरिचित नही थे। देश की जनता को घृणा अथवा हिसा का सहारा लिये बिना अपने राष्ट्रीय गौरव की स्थापना के लिए उद्यत करना चमत्कार कर दिखाना था। लेकिन ऐसे चमत्कार वह पहले भी कर चुके थे। १९३० मे कुछ ही महीनो मे गाधी-जी ने देश मे राजनैतिक जागृति की बिजली भर दी थी और जातीय कटुता एव हिसा को जरा भी पनपने न दिया था। लेकिन बारह बरस बाद हालत बहुत बदल चुकी थी। सरकार भरी बैठी थी और जनता भी। युद्ध का भविष्य इतना अस्थिर था कि आगे की घटनाओ तक प्रतीक्षा करने का धैर्य सरकार मे रह नही गया था और जनता तो असतोष से उबल ही रही थी। १९४२ मे देश की राजनैतिक स्थिति १९३० की अपेक्षा १९१९ के समय की स्थिति से ज्यादा अनुरूप थी। १९१९ की ही भाति १९४२ मे भी गाधीजी ने जनता की नब्ज को बिलकुल ठीक पहचाना था, लेकिन उन्हे विश्वास था कि वह सत्याग्रह-आदोलन के द्वारा उसे घृणा और हिसा भावना से मुक्त करने मे सफल हो जायगे। परन्तु काग्रेसी नेताओ के गिरफ्तार होते ही जनता की ओर से तोड-फोड, आगजनी और विध्वस एव सरकार की ओर से क्रूर दमन और लोमहर्षक आतक का जो दौर चला, उसमे सत्याग्रह के लिए कोई गुजाइश ही नही रह गई थी।

गाधीजी को यह आशा करने का कोई अधिकार नही था कि जनता उनके निर्धारित रास्ते पर चलेगी और सरकार को भी यह अधिकार नही था कि वह अपनी नीति और अपने कृत्यो के परिणाम का दोष गाधीजी पर लगाये।

लार्ड लिनलिथगो ने अनुभवी ब्रिटिश प्रशासको की गाधीजी के आदोलन को आरभिक अवस्था मे ही कुचल देने की नीति का अनुसरण किया। लार्ड विलिगडन की सफलता का कारण भी यही नीति समझी गई थी। लेकिन ऐसी नीति के परिणाम सदैव क्षणस्थायी होते है। दमन के परिणामस्वरूप जो कटुता पैदा होती है, वह दमन-कर्त्ताओ को ही ले बैठती है। १९३२ मे लार्ड विलिगडन ने समझा था कि उन्होने काग्रेस को कुचल दिया, लेकिन पाच साल बाद इडिया एक्ट, १९३५ के अतर्गत पहले चुनाव मे वही काग्रेस प्रबल बहुमत से विजयी हुई। १९४२ मे लार्ड लिनलिथगो का भी कुछ ऐसा ही खयाल था, अपनी समझ मे उन्होने भी कागेस को पूरी मात दे दी थी, लेकिन १९४७ मे ब्रिटिश राज्य का सदा के लिए अत हो गया और उसके स्थान पर काग्रेस ही पदारूढ हुई। इसे इतिहास की विडबना ही कहना होगा कि भारत के राष्ट्रीय आदोलन पर प्रबलतम प्रहार करनेवाले दो वाइसराय लार्ड लिनलिथगो और लार्ड विलिगडन अनचाहे और अन-जाने ही भारतीय स्वाधीनता के उत्प्रेरक तत्त्वो का काम करते रहे।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से १९४२ की घटनाए एक दुखदायी विरासत ही साबित हुई। देश-प्रेम की सर्वथा मिथ्या धारण के वशीभूत पहली बार इतने बडे पैमाने पर तोड-फोड और आगजनी की कार्रवाइया की गई थी। इससे सामूहिक आचरण का स्तर तो गिरा ही, १९४६-४७ मे जब उत्तेजित जनता पर देश-भक्ति की जगह साप्रदायिकता हावी हो गई तो १९४२ के उत्पातो को आदर्श मानकर अशोभनीय भीषण लोमहर्षक काड किये गए।

३८

अपराजेय आत्मा

आगाखा-महल मे नजरबद किये जाने के एक सप्ताह के अदर ही गाधीजी को अपने निजी सचिव और सहायक महादेव देसाई से सदा के लिए बिछुड जाना पडा। सुयोग्य, परिश्रमरत, विनयशील और सदा मुस्क-राते रहनेवाले 'म० दे०' पिछले पच्चीस वर्षो से छाया की तरह गाधीजी

के साथ रहे थे। बबई विश्वविद्यालय से वकालत पास करके और थोडे दिनो इधर-उधर काम करने के बाद महादेवभाई १९१७ मे गाधीजी के सहायक बने, सो जीवन के अतिम दिन तक उनकी सेवा और सहायता करते रहे। गाधीजी ने एक बार उनके सबध मे कहा था, "महादेव मेरा बेटा, सचिव और मुझपर जान देनेवाला है।" सुदर लिखावट, सतर्कता, फुर्ती और अटल भक्ति—सुयोग्य सचिव के ये आवश्यक गुण महादेवभाई मे कूट-कूटकर भरे थे। महात्मा गाधी के निजी सचिव का काम निरी मुशीगिरी तो हो नही सकती थी। उसके लिए कुछ और भी होना आवश्यक था। प्रथम असहयोग-आदोलन से पूर्व, जब गाधीजी इतने प्रख्यात नही हुए थे, उनके देशव्यापी दौरो मे महादेवभाई ही अकेले साथी हुआ करते थे और उनकी सुख-सुविधाओ का पूरा ध्यान रखते थे, सचिव का काम करने के अतिरिक्त वह उनका बिस्तर लगाते और समेटते, खाना पकाते और कपडे भी धोते थे। जैसे-जैसे गाधीजी का सार्वजनिक काम बढता गया, महादेवभाई के काम का बोझ भी उसी अनुपात मे अधिक होता गया। वह गाधीजी के नाम आनेवाली सैकडो चिट्ठियो को पढते और उनका जवाब देते थे, अतिथियो-आगतुको का स्वागत-सत्कार करते थे इस बात का ध्यान रखते कि अनचाहे आगतुक गाधीजी का मूल्यवान समय नष्ट न करे, पाई-पाई तक का पूरा हिसाब रखते, यात्राओ का कार्यक्रम बनाने के लिए नक्शो और निर्देशिकाओ पर झुके रहते, गाधीजी के भाषणो और वार्तालापो को लिपिबद्ध करते और साप्ताहिको का सपादन भी करते थे। लिखने का अधिकाश काम चलती रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे मे ही करना पडता था, इसलिए वह हमेशा मोमबत्ती साथ रखते थे कि यदि कही रेल की बिजली बत्ती गुल हो जाय तो भी प्रेस मे समय पर 'कापी' पहुचाई जा सके।

महादेवभाई अकेले हाथो पूरे सचिवालय का काम करते थे—महात्माजी के आदेशो और सूचनाओ को कार्यान्वित करने के साथ-साथ दूसरो के लिए उनकी व्याख्या भी करते थे। सैकडो कार्यकर्ताओ से सपर्क बनाये रखने और गाधीजी का समय और श्रम बचाने के लिए यथासभव जो भी बनता करते थे। हमेशा जी-तोड परिश्रम करते रहे। अगस्त, १९४२ मे उनकी आकस्मिक मृत्यु का कारण 'भारत छोडो'-प्रस्ताव के बाद की उथल-पुथल और उससे पैदा

मानसिक तनाव ही नही, यह व्याकुलता भी थी कि कही महात्माजी जेल मे आमरण अनशन शुरू न कर दे।

आगाखा-महल मे गाधीजी पर दूसरा वज्रपात हुआ कस्तूरबा की मृत्यु के कारण। वह पिछले कुछ दिनो से बीमार चली आती थी। हालत बिगडती ही गई। डॉ० गिल्डर, डॉ० दिनशा, डॉ० सुशीला नय्यर आदि पारिवारिक चिकित्सको ने इलाज किया, फिर पजाब के प्रसिद्ध वैद्य शिव शर्मा ने भी दवा-दारू की, लेकिन वह बच न सकी। २२ फरवरी, १९४४ को उन्होने बापू की गोद मे प्राण त्याग दिये। अत समय उन्होने कहा, "हमने कई सुख-दु ख साथ देखे, साथ भोगे, अब मै जा रही हू।" उनकी अतिम अभिलाषा यह थी कि उनका दाह-सस्कार बापू के काते हुए सूत की साडी मे किया जाय।[1]

लार्ड वेवल के समवेदना-सूचक पत्र के जवाब मे गाधीजी ने उन्हे लिखा था—"हम सामान्य दपती से भिन्न थे।" उन दोनो का बासठ वर्ष का विवाहित जीवन सतत विकासशील जीवन था। दोनो के बौद्धिक विकास मे गहरा अतर होते हुए भी गाधीजी कस्तूरबा की राय की कद्र करते थे और उनके स्वतत्र निर्णय की मर्यादा-रक्षा भी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के अतिम चरण मे वह अपनी इच्छा से जेल गई थी। भारत मे कई बार सत्याग्रह-आदोलनो के सिलसिले मे जेल गई और जेल मे ही उनकी मृत्यु हुई।

राजनैतिक क्षेत्र मे उन्होने कोई बडा काम और नाम नही किया था। उनका सच्चा क्षेत्र तो घर और परिवार था। बापू के विशाल शिष्य-सप्रदाय और सहयोगियो-साथियो की वह 'बा' अर्थात् सच्ची मा थी। यही उनका परिवार और आश्रम उनका घर था। बापू के भोजन के समय बैठकर पखा झलना या वह लेटे हो तो पाव दबाना—ये उनके जीवन के सबसे सुखी क्षण हुआ करते थे। वह गुजराती लिख-पढ लेती थी और दक्षिण अफ्रीका मे उन्होने अग्रेजी बोलने का काम-चलाऊ अभ्यास कर लिया था।

---

[1] बा की मृत्यु पर गाधीजी ने कहा था, "बा के बिना जीवन की मै कल्पना नही कर सकता। उसकी मृत्यु से जो स्थान खाली हुआ है, वह कभी नही भरेगा। हम दोनों बासठ वर्ष तक साथ रहे और वह मेरी गोद में मरी इससे अच्छा क्या हो सकता है।"

एक बार जब बंदीगृहों के यूरोपियन अधीक्षक ने यह शिकायत करनी चाही की कि कम खाकर कमजोर होने के लिए गांधीजी खुद ही जिम्मेदार हैं, तो उन्होंने अंग्रेजी मे जवाब दिया था "आई नो माई हस्बैंड ही आलवेज मिसचिफ।" आगाखां-महल में गांधीजी ने उनकी शिक्षा की कमी को दूर करने के प्रयत्न फिर से प्रारंभ कर दिये थे। चौहत्तर वर्ष की बा जेल के अपने कमरे मे घूम-घूमकर भूगोल और सामान्य ज्ञान की बाते रटा करती थी। लेकिन जब पाठ सुनाने का वक्त आता तो सब भूल-भाल जाती थी। लाहौर को वह कलकत्ते की राजधानी बना देती।

अपने दो प्रियजन, सचिव और पत्नी की मृत्यु के बाद आगाखां-महल की नजरबंदी गांधीजी को विपण्ण और उद्विग्न ही करती रही। उनका स्वास्थ्य खराब हो गया, जिससे १९४४ के आरंभ मे तो सरकार भी चिंतित हो गई। मलेरिया हो गया था और तेज बुखार रहने लगा था। इस बीच युद्ध का पासा पलट चुका था और मित्र-राष्ट्रों की जीत-पर-जीत होती जा रही थी। अब सरकार के लिए उनकी रिहाई उनके जेल में मर जाने से कम परेशानी का कारण होती। लेकिन गांधीजी को अपनी रिहाई (६ मई १९४४) से कोई खुशी नही हुई। जेल मे बीमार पडने के लिए वह शर्मिंदा ही थे। उन्हे बंबई के निकट जुहू के समुद्र-तट पर स्वास्थ्य-लाभ के लिए रखा गया। पता चला कि वह मलेरिया के बाद की अलामातों से ही नही, उदर मे कृमि-कष्ट और रक्तातिसार से भी पीडित थे। अपने समस्त रोगों का कारण उन्होंने ईश्वर पर विश्वास की कमी को ही माना। उस 'महा चिकित्सक' पर आस्था और दवाई-मात्र से बैर के कारण उनका इलाज काफी मुश्किल हो गया। लेकिन धीरे-धीरे देश के कामों में ध्यान देने लायक शक्ति उनमे आती गई।

अधिकारियों मे उनकी वह पहले-जैसी प्रतिष्ठा नही रह गई थी, स्वयं उनकी और कांग्रेस की ईमानदारी मे संदेह किया जाता था। चर्चिल के प्रधान मंत्री-पद पर रहते हालत मे सुधार होने की कोई संभावना दिखाई नही देती थी। इन सब बातों को जानते हुए भी गांधीजी ने सरकार और कांग्रेस के बीच पैदा हो गये राजनैतिक गतिरोध को तोडने की दिशा मे

---

१ "मैं अपने पति को जानती हूं। वह हमेशा शैतानी किया करते हैं।"

स्वय ही पहल की। १७ जून, १९४४ को उन्होने लार्ड वेवल को पत्र लिखकर कार्य-समिति के सदस्यो से भेट करने की इजाजत मागी।[1] वाइसराय ने गाधीजी की इस प्रार्थना को ठुकरा दिया, क्योकि "दोनो के दृष्टिकोण मे जो उग्र मतभेद है, उसे देखते हुए अभी हमारे मिलने से कोई लाभ न होगा।" गाधीजी ने फिर एक प्रयत्न किया। 'न्यूज क्रॉनीकल' के प्रतिनिधि स्टुअर्ट गेल्डर को उन्होने एक वक्तव्य प्रकाशित करने के लिए नही, वाइसराय तक पहुचाने के लिए दिया। उस वक्तव्य का सार यह था कि केद्रीय विधान-मडल के निर्वाचित सदस्यो की राय से केद्र मे राष्ट्रीय सरकार की, (जिसका गैर-सैनिक शासन-प्रबध पर पूरा नियत्रण रहे) स्थापना के सुझाव पर विचार किया जाना चाहिए। लार्ड वेवल ने यह प्रस्ताव भी "सम्राट की सरकार को बिलकुल ही स्वीकार नही हो सकता।" कहकर ठुकरा दिया।

राजनैतिक गतिरोध को तोडने मे असफल होने के बाद गाधीजी ने जिन्नासाहब से समझौते के प्रयत्न प्रारभ किये। दो राष्ट्रो के सिद्धात मे उनका विश्वास नही था, लेकिन जिस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मे मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग ने इस सिद्धात को अपनाया था उसे वह अवश्य स्वीकार करते थे। गाधी-जिन्ना-भेट का आधार श्री राजगोपालाचार्य का निम्न सुझाव था, जो इतिहास मे 'राजाजी फार्मूला' के नाम से प्रसिद्ध है—मुस्लिम लीग काग्रेस की भारतीय स्वाधीनता और युद्ध-काल मे अस्थायी सरकार स्थापित किये जाने की माग का समर्थन करे और भारत के उत्तर-पश्चिम एव उत्तर-पूर्व मे एक दूसरे से जुडे मुस्लिम बहुमतवाले जिलो के सीमाकन और वहा के समस्त बालिग निवासियो के मतसग्रह के द्वारा उन प्रदेशो की स्वतत्र सयुक्त भारत मे रहने या अपना अलग राज्य बनाने-सबधी राय को मालूम करने की मुस्लिम लीग की माग का काग्रेस समर्थन करे, और यदि अत मे देश का बटवारा ही तय पाया जाय तो दोनो राज्य रक्षा, सचार,

[1] उस समय गाधीजी पूना के नेचर क्योर क्लिनिक मे थे और यह पत्र वहा से लिखा गया था। कार्य समिति के सभी सदस्य जेलों मे बद थे। गाधीजी ने कार्य-समिति के सदस्यों से मिलने से पूर्व वाइसराय से भी मिल लेने की इच्छा अपने उस पत्र मे प्रकट की थी।—अनुवादक

वैदेशिक मवर आदि महत्वपूर्ण मामलों में पारस्परिक समझौते करें।

गांधी-जिन्ना-वार्ता ९ सितम्बर, १९४४ को आरम्भ होकर २७ सितम्बर को समाप्त हुई। उस समय देशव्यापी उत्साह और आशा की लहर इसलिए नहीं थी कि लोगों को दोनों नेताओं में समझौता हो जाने का विश्वास था। असल में जनता राजनैतिक गतिरोध से थक गई थी और वह चाहती थी कि जैसे भी हो कांग्रेस-लीग में समझौता हो जाय। पहले दिन भेंट करने के बाद गांधीजी से पूछा गया कि आपको जिन्नासाहब से क्या मिला, तो उन्होंने कहा था—"फूल।" बाद की मुलाकातों के भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकले। सबसे पहले तो जिन्ना ने यह जानना चाहा कि महात्माजी किसकी ओर से और किस अधिकार से चर्चा के लिए आए हैं। गांधीजी ने १९३४ में कांग्रेस छोड़ दी थी और तबसे उसके साधारण सदस्य भी नहीं थे, लेकिन जिन्नासाहब इस बात को भी बहुत अच्छी तरह जानते थे कि कांग्रेस के सदस्य अथवा पदाधिकारी न होते हुए भी गांधीजी का उस संगठन में कितना महत्व और वजन है। जिन्नासाहब का रुख बड़ा ही अव्यावहारिक था। वह चाहते थे कि गांधीजी मुस्लिम लीग को भारत के समस्त मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था स्वीकार कर लें। वह यह भी चाहते थे कि पाकिस्तान के सिद्धांत को पहले मान लिया जाय, उसकी भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण और अन्य विवरणों पर बाद में चर्चा होती रहेगी। मुस्लिम बहुमतवाले प्रांतों के गैर-मुस्लिमों को अपने भाग्य निर्णायक मत-संग्रह में भाग लेने का अधिकार देने को भी वह तैयार नहीं थे। उन क्षेत्रों में आत्मनिर्णय के अधिकार का उपयोग केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखना चाहते थे।

गांधीजी का सुझाव था कि सीमांकन और मत-संग्रह को सिद्धांतिक रूप में भले ही पहले तय कर लिया जाय, लेकिन यदि बटवारा होना ही है तो वह हस्तांतरण के बाद ही होना चाहिए। उनको आशा थी कि अंग्रेजों के भारत से चले जाने के बाद स्वतन्त्रता के वातावरण में दोनों सम्प्रदाय मिल-जुलकर रहना सीख लेंगे और बटवारे की जरूरत ही नहीं पड़ेगी और जिस बात की गांधीजी को आशा थी, उसीसे जिन्नासाहब को डर लगता था। वह कोई खतरा नहीं उठाना चाहते थे, इसलिए देश की आजादी

से पहले बटवारे की बात पर अड गये। दोनो स्वतत्र राज्यो मे सुरक्षा, सचार, वैदेशिक सबध आदि मामलो मे पारस्परिक समझौतो और सयुक्त सवियो के प्रस्ताव को भी उन्होने अस्वीकार कर दिया। गाधीजी को धर्म के आधार पर दो अलग-अलग राज्यो के निर्माण की सभावना से इसलिए घबराहट होती थी कि "उनमे सिवा शत्रुता के और कुछ हो ही नही सकता था।" सास्कृतिक और आर्थिक स्वाधीनता की बात तो उचित थी, लेकिन दोनो राज्यो मे हथियारबदी की दौड और सशस्त्र सघर्ष की रोक-थाम के लिए कोई व्यवस्था कर लेना आवश्यक था।

गाधीजी के लिए ये चर्चाए शिक्षात्मक थी, जिन्नासाहब के लिए उनकी राजनैतिक शक्ति और स्थिति को दृढ करनेवाली। अकेली इसी बात से कि गाधीजी उनसे मिलने गये, जिन्नासाहब की प्रतिष्ठा मे बहुत वृद्धि हो गई। पिछले चार वर्षो मे वह मार्च, १९४० की अपनी स्थिति से एक इच भी इधर-उधर नही हुए थे। अपनी बात पर जमे रहने का आज उन्हे फल मिल रहा था। राजाजी-फार्मूला जिन्नासाहब की सब मागो से सहमत नही था, लेकिन उसने देश के बटवारे की सभावना को तो कम-से-कम स्वीकार कर ही लिया था। जो गाधीजी बटवारे को पाप कहा करते थे, वह आत्म-निर्णय के अधिकार को कार्यान्वित करने के तरीके पर चर्चा करने की हद तक उतर आये थे, यह क्या जिन्नासाहब की कम जीत थी। देखा जाय तो पाकिस्तान बनाने की दिशा मे गाधी-जिन्ना-वार्ता, अगस्त १९४० की लार्ड लिनलिथगो की घोषणा और मार्च, १९४२ के क्रिप्स-प्रस्ताव से आगे ले जानेवाला महत्वपूर्ण कदम था।

भारतीय नेताओ के परामर्श से अपनी कार्यकारी कौसिल का पुनर्गठन करने के प्रश्न पर ब्रिटिश मत्रिमडल की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए लार्ड वेवल इग्लैड गये हुए थे। १९४५ की गर्मियो मे वह स्वीकृति प्राप्त करके लौट आये और अपने प्रस्ताव पर चर्चा करने के लिए उन्होने भारतीय नेताओ का सम्मेलन[1] शिमला मे आयोजित किया। गाधीजी उसमे प्रतिनिधि की हैसियत से तो सम्मिलित नही हुए, परतु वाइसराय और काग्रेस

---

[1] १४ जून, १९४५ के अपने रेडियो भाषण के बाद लार्ड वेवल ने कार्य-समिति के सदस्यो की रिहाई के आदेश दिये और २५ जून को देश के प्रमुख नेताओं को परा-

कार्य-समिति दोनो ने उनसे सलाह-मशविरा किया। लार्ड वेवल का सुझाव वाइसराय की कार्यकारी कौंसिल मे सवर्ण हिंदुओ और मुस्लिम-सदस्यो की संख्या बराबर-बराबर रखने का था, लेकिन सम्मेलन के समाप्त होते-होते जिन्नासाहब ने अपनी माग बढाकर यह दावा पेश कर दिया कि मुसलमान सदस्यो की संख्या शेष सभी सप्रदायो की सम्मिलित सदस्य-संख्या के बराबर होनी चाहिए। उसके बाद जिन्नासाहब इस बात पर अड गये कि कौंसिल के सभी मुस्लिम सदस्यो को नामजद करने का एकमात्र अधिकार मुस्लिम लीग को ही होना चाहिए। उनकी इस जिद पर सम्मेलन भग कर देना पड़ा। काग्रेस अपने राष्ट्रीय स्वरूप और दृष्टिकोण के कारण इस अनुचित माग को कभी भी स्वीकार नही कर सकती थी। जिन्नासाहब की जिद से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हे समझौते की कोई चिन्ता नही थी और जब वह सरकार से ज्यादा पा सकते थे तो काग्रेस से समझौता करने को राजी भी क्यो होते!

युद्ध का अंत समीप दिखाई देने लगा था, इसलिए भारतीय गतिरोध को भग करने की आवश्यकता इग्लैड मे नये सिरे से महसूस की गई और शिमला सम्मेलन उसीका परिणाम था। मई मे यूरोप मे युद्ध समाप्त हुआ और अगस्त मे जापान ने भी हथियार डाल दिये। जुलाई मे इग्लैड मे युद्धोत्तर चुनाव हुए, जिसमे टोरियो को हराकर मजदूर-दल (लेबर पार्टी) विजयी हुआ। १० जुलाई को मजदूर सरकार की स्थापना हुई। लार्ड वेवल को फिर लदन बुलाया गया। वह २५ अगस्त को लदन पहुचे। उनकी वापसी से पहले ही भारत मे केन्द्रीय और प्रातीय कौंसिलो के आम चुनावो की घोषणा की गई। १८ सितबर को लदन से लौटकर वाइसराय ने अपने भाषण मे कहा कि "सम्राट का इरादा क्रिप्स-प्रस्तावो के अनुसार यथाशीघ्र एक विधान-निर्मात्री परिषद का आयोजन करने का है।" लेकिन नई मजदूर सरकार के प्रस्ताव इतने अपर्याप्त, अस्पष्ट और असतोषजनक थे कि देश ने उसमे कोई उत्साह नही दिखाया। इसपर नये भारत-मत्री लार्ड पेथिक लारेंस ने २३ सितबर को ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावो का

मर्श के लिए शिमला बुलाया। गाधीजी प्रतिनिधि के रूप में तो नहीं, लेकिन परामर्श के लिए शिमला आमत्रित किये गए थे।—अनुवादक

स्पप्टीकरण करते हुए कहा कि "हमारा आदर्श तो यह है कि भारत और ब्रिटेन वरावरी के पद द्वारा साभेदारी की भावना से वध जाय।" और मजदूर मन्त्रिमडल ने पार्लमिट का एक सर्वदलीय शिप्ट-मडल भारत की स्थिति का अध्ययन करने और भारतीयो को यह विश्वास दिलाने को कि उनकी आजादी अव दूर नही है, भेजने का निश्चय किया।

३९
स्वाधीनता का आगमन

जनवरी १९४६ की बात है। गाधीजी सुप्रसिद्ध नरमदली नेता श्रीनिवास शास्त्री को, जो मरणासन्न अवस्था मे विस्तरे पर पडे थे, देखने के लिए गये हुए थे। वातचीत मे ब्रिटिश पार्लमिट के शिष्टमडल का जिक्र आ गया, जो उन दिनो भारत का दौरा कर रहा था। शास्त्रीजी ने कहा, "कुछ होना-हवाना तो है नही। भारत के सवाल पर, टोरी हो या मजदूर, दोनो एक ही थैली के चट्टे-वट्टे है।" जव सत्ता के हस्तातरण की वाते जोरो पर हो, अग्रेज़ो के दोस्त समझ जानेवाले एक वुजुर्ग नेता का अग्रेजो क इरादो के वारे मे ऐसा मतव्य केवल यही सावित करता है कि ब्रिटिश राज्य के भारत के शोघ्र विदा होने के आसार लोगो को दिखाई नही दे रहे थे।

ऊपर-ऊपर से देखने पर तो दूसरे महायुद्ध के वाद भारत मे अग्रेजो की स्थिति काफी मजबूत ही दिखाई देती थी। भारत मे उस समय ब्रिटिश सेनाए भी इतनी सख्या मे पडी हुई थी जितनी अग्रेज़ो के पूरे शासनकाल मे पहले कभी नही रही थी। काग्रेस गैर-कानूनी कर दी गई थी और एक गाधीजी को छोड, शेप सारे राष्ट्रीय नेता जेलो मे वद थे। मुस्लिम लीग पाकिस्तान का आदोलन कर रही थी, जो ब्रिटिश सरकार के उतना नही, जितना काग्रेस के खिलाफ था। छ प्रातो मे कोई प्रतिनिधि सरकार नही थी। शेप प्रातो मे अग्रेज़ो के मित्र या समर्थक मत्री सत्तारूढ थे। छ वरस तक मेज पर कलम-घिसाई करते-करते अग्रेज़ अफसर तग आ गये थे। १९४२ के उपद्रवो को दवाने मे जौहर दिखाने का मौका मिला तो उन्होने

छुटकारे की सांस ली और पिल पड़े। बड़ा मेहनती होता था अंग्रेज साहब बहादुर और अपनी समझ के माफिक ड्यूटी अंजाम देता था। लेकिन जैसा कि गोखले ने १६०५ में कहा था—"उनकी समझ बड़ी सादी होती है और वर्तमान शासन-प्रणाली के कारण केवल मामूली-सी कार्य-कुशलता संभव हो पाती है और उस स्तर तक भी अभी हाल में ही पहुंचा जा सका है।" गोखले के बाद चालीस साल में तो दुनिया बदल गई थी। राष्ट्रीय जागरण और आर्थिक परिवर्तनों ने क्रांति ही कर दी थी। इन बदले हुए संयोगों में कार्य-कुशलता का स्तर और गिर गया था। जो अपनेको बहुत होशियार अफसर समझते थे, उन अंग्रेज अधिकारियों को भी १६४५ में यह पता नहीं था कि उनकी प्रिय, परिचित और उनके हाथों निर्मित पुरानी शासन-प्रणाली में घुन लग गया था और वह धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही थी।

युद्ध ने क्षय की इस प्रक्रिया को और तेज कर दिया। कुछ तो युद्ध के के कारण मालामाल हो गये, लेकिन लाखों-करोड़ों की तबाही आ गई—चीजों की कमी और महंगाई ने सामान्य भारतवासी की कमर ही तोड़ दी। भारत में युद्ध महंगाई और अभाव का पर्यायवाची बन गया। भीषण अकाल ने सारे बंगाल को श्मशान-भूमि बना दिया। वह अकाल प्रकृति-प्रकोप के साथ-साथ मुनाफाखोरों के लोभ का भी नतीजा था। बंगाल प्रांतीय सरकार मंत्रिमंडल की घोर लापरवाही और भ्रष्टाचार एवं केंद्रीय सरकार की निष्क्रियता और उपेक्षावृत्ति ही अकाल की उस भीषणता के लिए जिम्मेदार थी, लेकिन सरकार में जवाब-तलब करने-वाला कोई नहीं था। अन्न और वस्त्र की सारे देश में कमी हो गई थी। वितरण की दिशा में कंट्रोल और राशन से उपभोक्ताओं के कष्ट तो कुछ खास कम न हुए, उलटे जमाखोरी और भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा मिला। युद्ध के कारण लोगों का नैतिक स्तर भी बहुत गिर गया था। चार दिनों की युद्धजन्य तेजी में जिसे देखो, मुनाफा बटोरने के लिए दौड़ पड़ा था।

फिर युद्ध के बाद आनेवाली समस्याएं भी कुछ कम गंभीर नहीं थीं। सेना की संख्या ही १,८६,००० से बढ़ते-बढ़ते २२,५०,००० हो गई थी। इन साढ़े बाईस लाख सैनिकों का विसैन्यीकरण ही अपने-आपमें खासा बड़ा और मुश्किल काम था और समय भी चाहता था। जब मोर्चे ने

लौटा हुआ भारतीय सैनिक वहुत वदल चुका था। वह पहलेवाला गाव का डरा हुआ भोला रगरूट नही था। मलाया, वर्मा, मध्यपूर्व और इटली के मोर्चे मारा हुआ निडर सैनिक था, जिसने साम्राज्यो को ध्वस होते देखा था और जो वडे वेढव सवाल करना भी सीख गया था।

लेकिन यह स्वीकार करना पडेगा कि इन सारी कठिनाइयो के वावजूद भारत-स्थित अधिकाश ब्रिटिश अफसरो का मनोवल वहुत दृढ था और यहा अभी कई वरसो तक राज्य करने की अपनी योग्यता मे उनका विश्वास डिगा नही था। इसलिए युद्ध की समाप्ति पर यदि एक ही वर्ष के अदर भारत स्वाधीनता की अपनी मजिल पर काफी आगे वढ आया तो उसका कारण 'सम्राट्' के प्रतिनिधियो की कमजोरी नही, भारतीयो से समझौता करने का एटली सरकार का पक्का इरादा और इग्लैड का वदला हुआ राजनैतिक वातावरण भी था।

अग्रेज इतिहासकार १९४७ की घटनाओ को अगस्त १९१७ की घोषणा मे निर्धारित नीति का ही अवश्यभावी परिणाम मानने के पक्ष मे रहे है। उस घोषणा के समय लार्ड चेम्सफोर्ड ने, भारत के वाइसराय की हैसियत से, कहा भी था कि "इसे दूरवर्ती लक्ष्य ही समझा जाय।" भारत को तुरत स्वराज्य देने के पक्ष मे ब्रिटेन की कोई सरकार कभी थी ही नही। मार्ले ने गोखले के वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था—"भारत मे औपनिवेशिक स्वराज्य की अपनी अभिलाषा उन्होने साफ शब्दो मे व्यक्त की तो मैंने भी अपना यह विश्वास स्पष्ट शब्दो मे कह-सुनाया कि हमारे जीवन-काल के वाद भी अनेक वर्षो तक यह निरा सपना ही रहेगा।" लायड जार्ज और माटेगू, मैकडोनल्ड और वेन, वाल्डविन और होर, चर्चिल और एमरी कोई भी अपने जीते-जी भारत को स्वतत्र करने के लिए तैयार न था। सभीका यही कहना था कि "मेरे जीवन मे नही।" इग्लैड मे ही पार्लमेट और गणतत्र की स्थापना मे काफी समय लग गया था और कडे सघर्ष करने पडे थे। कनाडा और आस्ट्रेलिया-जैसे गोरे उपनिवेशो को भी राजनैतिक स्वतत्रता प्राप्त करने मे वरसो लग गये थे। इसलिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की दृष्टि मे भारत-जैसे नाना धर्मो और सस्कृतियो के एशियाई देश मे और भी अधिक समय लगना एक स्वयसिद्ध तथ्य ही था।

१९१७ के बाद से इंग्लैंड की सभी सरकारों की नीति भारत को 'किस्तों में स्वराज्य' देने की रही। लेकिन उस नीति का सबसे बड़ा दोष यह था कि स्वराज्य की किस्त दी जाने से पहले ही पुरानी हो जाती थी। १९१९ में जो सुधार किये गए वे १९०९ के भारत की राजनैतिक स्थिति के उपयुक्त थे, १९३५ के सुधारों का भारतीय जनता संभवत १९१९ में स्वागत कर सकती थी और क्रिप्स-योजना १९४२ के बदले १९४० में प्रस्तुत की जाती तो भारत-ब्रिटेन-संबंधों का नया अध्याय शुरू हो सकता था और तब न कांग्रेस तथा सरकार के और न हिंदू-मुसलमानों के पारस्परिक संबंधों में उतना बिगाड़ हो पाता।

१९२० में गांधीजी का "एक साल में स्वराज्य" का नारा किस्तवारी स्वराज्य की ब्रिटिश नीति के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। उनका यह नारा दिखावा या मनबहलाव नहीं, वस्तुगत परिस्थितियों की ठोस वास्तविकता था। दासता उनके निकट सबसे पहले मन की एक अवस्था थी। स्वतंत्र होने के संकल्प के साथ ही राष्ट्र की स्वाधीनता की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती थी। सत्याग्रह ने अंग्रेज सरकार को खासी मुसीबत में डाल दिया था। उपेक्षा करने से आंदोलन जोर पकड़ता था। दबाने से देश विदेश की सहानुभूति और समर्थन उसे प्राप्त हो जाता था। दमन का एक तो स्थायी परिणाम नहीं होता था और दूसरे वह इंग्लैंड की जनवादी विचारधारा के अनुकूल भी नहीं था। भारत के मामलों में यों तो ब्रिटिश जनता कभी छठे-छमाहे ही दिलचस्पी लेती थी, लेकिन चालीस करोड़ भारतवासियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन करना आम तौर पर इंग्लैंड की उदारवादी परंपराओं के प्रतिकूल समझा जाता था। हर सत्याग्रह-आंदोलन ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारत के राष्ट्रीय विरोध की शक्ति का पैमाना हुआ करता था, जिसमें उसे मुट्ठी-भर लोगों का गलत असंतोष कहने के सरकारी प्रचार की कलई खुल जाती थी।

दूसरे महायुद्ध ने दुनिया का नक्शा और शक्तियों का संतुलन ही नहीं आदमी के मन और मस्तिष्क को भी बदल दिया था। भारत के प्रश्न पर ब्रिटिश जनमत में भी युद्ध के बाद जबर्दस्त परिवर्तन हुआ। जिन बौद्धिक बलों और वैचारिक क्रांति ने १९४५ में मजदूर-दल को पदारूढ़ किया,

उसी जन-शक्ति ने भारत के सबध मे परपरागत टोरी-नीति को ठुकराने मे भी सहायता की। मजदूर सरकार नई नीति को अपनाने के लिए उद्यत थी ही, भारत की विस्फोटक परिस्थिति ने उसे और भी शीघ्रता करने के लिए विवश कर दिया। १९४५ के नवबर और दिसबर मे, भारत की स्थिति के सबध मे हाउस आव कामन्स मे, ६ मार्च, १९४७ को भाषण करते हुए, इग्लैड के मजदूर मन्त्रिमडल के सदस्य और भारत मे सत्ता के हस्तातरण से घनिष्ठ रूप से सबधित मि० अलेक्जेडर ने कहा था, "उस समय भारत सरकार बारूद के ढेर पर बैठी हुई थी, जो युद्ध के बाद की परिस्थितियो के कारण किसी भी क्षण भभक सकता था।"

१९४६ के शुरू महीनो की घटनाओ को देखने से मि० अलेक्जेडर के मूल्याकन की सत्यता असदिग्ध हो जाती है। लोगो मे इतना गुस्सा और असतोष घर कर गया था कि हिंसात्मक उपद्रव के लिए जरा-सा बहाना काफी होता था और कई बार तो बिना किसी बहाने के ही तोड-फोड की कार्रवाइया शुरू हो जाती थी। फरवरी, १९४६ मे आजाद हिंद फौज के एक मुसलमान अफसर को दी गई कोर्ट-मार्शल की सजा के खिलाफ कलकत्ते मे मुसलमानो के जलूस ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कई दुकाने लटी गई और बसे तथा ट्राम गाडिया जला दी गई। वायु-सेना मे अनुशासनहीनता और हुक्म-उदूली की कई घटनाए सामने आई और बबई मे नाविको ने बगावत कर दी, यहातक कि पुलिस के सिपाहियो मे भी असतोष बढने लगा था और हडताल एव जलूसो के द्वारा वे उसे व्यक्त करने लगे थे। सेना और पुलिस के जिस मुख्य आधार पर ब्रिटिश शासन भारत मे टिका हुआ था, वही चरमराने लग गया था।

ऐसे समय प्रशासन-तत्र को अधिक शक्तिशाली और सक्षम करने की आवश्यकता थी, लेकिन युद्ध के जमाने मे जहा काम और महकमे बहुत बढ गये थे, विश्वस्त और उच्चपदस्थ अग्रेजो की सख्या निरतर कम होती गई थी। लडाई के सारे जमाने मे आई० सी० एस० और भारतीय पुलिस सेवा मे कोई भी आला अग्रेज अफसर भर्ती नही किया जा सका था और जो थोडे-बहुत यूरोपियन काम कर रहे थे, उनमे से अधिकाश की सेवा-निवृत्ति का समय समीप आ गया था।

समस्या के व्यावहारिक पक्ष पर जोर देने के ब्रिटिश स्वभाव से ही कारण इग्लैंड के मत्रिमडल ने प्रशासन की दुर्बलता और अक्षमता का बार-बार इतना अधिक उल्लेख किया, लेकिन विश्व-इतिहास मे ब्रिटेन द्वारा भारत को सत्ता हस्तातरित किये जाने का महत्व केवल व्यावहारिक और राजनैतिक आवश्यकता को स्वीकार कर लेने की दृष्टि से ही नही है, असल मे उस दृष्टि से तो उसका कोई महत्व है भी नही। वास्तव मे प्रधान मत्री एटली ने १९४६-४७ मे जिस नीति का अनुसरण किया, वह केवल घटना-चक्र की बाध्यता का ही परिणाम न थी, उसके मूल मे एक आदर्शवादी वैचारिक दृष्टिकोण भी था। सत्ता का हस्तातरण मूलत ब्रिटेन और भारत के पारस्परिक सबधो को सुधारने की ब्रिटिश सरकार की अभिलाषा से ही प्रेरित हुआ था और यह गाधीजी की बहुत बडी जीत थी। पूरे तीन वर्ष मे वह दोनो देशो के पारस्परिक सबधो को सुधारने का ही प्रयत्न करते रहे थे। ह्यूम और वेडरबर्न, सी० एफ० एडरूज और होरेस अलेक्जेडर, ब्रेल्सफोर्ड और ब्राकवे, लास्की और कार्ल हीथ, म्यूरियल लीस्टर और आगाथा हेरीसन आदि अनेक ब्रिटिश पुरुष और महिलाए भी दोनो के पारस्परिक सबधो को सुधारने की जोरदार सिफारिशे करते आये थे। भारतीयो की स्वतत्र होने की आकाक्षा के प्रति सदैव सहानुभूतिशील ये अग्रेज महानुभाव अपने समय मे इग्लैंड के नगण्य अल्पमत को ही प्रभावित और अभिव्यक्त कर सके थे, लेकिन कालातर मे उचित अवसर आने पर उनके विचारो के ही अनुरूप उनके देश की राष्ट्रीय नीति निर्मित हुई।

ब्रिटिश नीति मे परिवर्तन के जो भी कारण रहे हो, मार्च १९४६ मे, जो केबिनेट मिशन भारत आया, उसने यहा के लोगो को ब्रिटिश सरकार की सद्भावना और तत्परता का विश्वास दिलाने मे कोई प्रयत्न बाकी न छोडा। केबिनेट मिशन के तीन मत्रियो मे लार्ड पैथिक लारेंस और सर स्टैफर्ड क्रिप्स से गाधीजी बहुत अच्छी तरह परिचित थे। 'मिशन' ने, जब-तक वह भारत मे रहा, गाधीजी से औपचारिक और अनौपचारिक दोनो ही तरह से अनेक बार सलाह-मशविरा किया। उन्होने सब मिलाकर ४७२ 'नेताओ' से भेट की, यद्यपि राजनैतिक दलो के रूप मे निर्णयात्मक महत्व

केवल काग्रेस और लीग का था, और मुख्य प्रश्न भी भारत की एकता अथवा विभाजन से ही सबधित था। काग्रेस विभाजन के पक्ष मे नही थी, अधिक-से-अधिक सास्कृतिक, आर्थिक और प्रादेशिक स्वायत्तता (स्वशासन) को स्वीकार कर सकती थी। परिणाम यह हुआ कि शिमला-सम्मेलन मे भी काग्रेस और लीग के आपसी मतभेदो को मिटाया न जा सका। तब १६ मई को केबिनेट मिशन ने अपनी समझौता-योजना पेश की। सार-रूप मे उस योजना के मुख्य अश ये थे—भारत का स्वतत्र राज्य-विधान सघ के ढग का होगा, जिसमे रियासते भी सम्मिलित होगी। सघ-सरकार विदेशी मामलो को, सुरक्षा और यातायात आदि को सभालेगी। सारे अवशिष्ट अधिकार प्रातो और रियासतो के हाथ मे होगे। एक-जैसे प्रातीय विषयो के सबध मे प्रात चाहे तो अपने समूह अथवा गुट बना सकेगे। प्रातो और रियासतो के प्रतिनिधियो से निर्मित विधान-परिषद प्रारभिक कार्रवाई के बाद तीन समूहो मे बट जायगी। पहले समूह मे मदरास, बबई, सयुक्त प्रात, बिहार और उडीसा, दूसरे समूह मे पजाब, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रात और तीसरे समूह मे बगाल और आसाम रहेगे। ये समूह अपने-अपने प्रातो का गुट बनाने का और यदि गुट बनाया गया तो उसकी कार्य पालिका और विधान मडल को सौपे जानेवाले विषयो का फैसला भी करेगे।[1]

केबिनेट मिशन की विदाई के बाद देश की अस्थिर और उलझी हुई

---

[1] इसके बाद सब समूह फिर एकत्र होकर रियासतो के प्रतिनिधियो के साथ मिलकर भारतीय सघ का विधान तैयार करते। विधान परिषद मे ३८९ प्रतिनिधि रखे गये थे। पहले समूह में १६७ आम और २० मुस्लिम, दूसरे समूह में ६ आम, ४ सिख और २२ मुस्लिम, तीसरे समूह मे ३४ आम और ३६ मुस्लिम, रियासतों के ९३ और दिल्ली, अजमेर-मेरवाडा, कुर्ग और ब्रिटिश बिलोचिस्तान का १-१, इस प्रकार सदस्य थे। इस योजना मे रियासतों की सार्वभौकिता स्वीकार की गई था और नया विधान लागू होने पर प्रातों को समूह से पृथक हो जाने का अधिकार भी दिया गया था। नया विधान बनने और प्रचलित होने तक देश के विभिन्न दलों की अतरिम सरकार बनाने का अधिकार वाइसराय को दिया गया था। —अनुवादक

राजनैतिक परिस्थिति को समझने के लिए सत्ता के हस्तातरण के प्रति ब्रिटिश सरकार, काग्रेस और लीग के रुखो को बहुत थोडे मे समझ लेना आवश्यक है। ब्रिटिश प्रधान मत्री एटली शासन सौंपने का काम अपनी पहल को बनाये रखकर शीघ्र और शातिपूर्वक करना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार के निकट यह एक राजनैतिक समस्या थी, जो समझौते और विचार-विनिमय से हल की जा सकती थी। इसलिए किसी एक ही हल पर उसका कोई आग्रह नही था। काग्रेस और लीग आपस मे मिलकर जो भी व्यावहारिक हल पेश करती, उसे वह स्वीकार करने को तैयार थी।

गाधीजी का दृष्टिकोण भिन्न था। वह सत्ता के हस्तातरण को जल्दी-जल्दी जोड-तोड करके निपटाया जानेवाला प्रश्न नही, न्याय और नैतिक समाधान का प्रश्न मानते थे। वह यह तो अवश्य चाहते थे कि अल्पसख्यको की आशकाओ का निर्मूल किया जाय लेकिन बटवारे की धमकी उन्हे किसी भी शर्त पर स्वीकार नही थी, क्योंकि आगे चलकर इसमे उन्हे भारत और हिंदू-मुसलमानो का अहित ही होता दिखाई देता था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जिन्नासाहब को नाराज न करने की बात उनकी समझ मे आती तो थी, परन्तु साथ ही उससे चिंता भी होती थी। वह इस पक्ष मे नही थे कि काग्रेस जल्दबाजी मे ऐसी कोई तजवीज स्वीकार कर ले, जिसके लिए बाद मे पछताना पडे। काग्रेस-जनो पर सरकार के कोप को वह इससे लाख गुना अच्छा समझते थे। लेकिन काग्रेसी नेताओ को उनकी यह सलाह बिल्कुल पसद नही थी। ब्रिटिश सरकार की ही तरह उनके लिए भी यह एक राजनैतिक समस्या थी, जिसके समाधान मे देर या हिचकिचाहट से देश मे गृह-युद्ध छिड जाने की आशका थी।

गाधीजी को ऐसा लगता था कि ब्रिटिश सरकार की घोषणा के बावजूद अधिकाश भारतीयो को यह विश्वास नहीं हो रहा था कि अग्रेज सचमुच ही चले जायगे। ब्रिटिश सेनाओ को भारत से तत्काल हटा लेने या रियासतो को दिये गए सरक्षण तुरत समाप्त कर देने-जैसी किसी बडी घटना से ही विभिन्न राजनैतिक दलो और सर्वसाधारण जनता को अग्रेजो के जाने का विश्वास हो सकता था। जबसे गाधीजी को अग्रेजो के भारत छोडने का विश्वास हुआ था, यह प्रश्न उनकी चिंता का विषय बन बैठा

था कि सदियो की गुलामी के वाद देशवासी आजादी के धक्के को सह भी पायेगे या नही ? अप्रैल, १९४६ मे ब्रिटिश पत्रकार ब्रेल्सफोर्ड से उन्होने कहा भी था, "मुझे विश्वास है कि इस वार अग्रेज सच ही कह रहे है। लेकिन क्या भारत आजादी के इस आकस्मिक धक्के को सह पायगा ? मेरी हालत जहाज के उस यात्री-जैसी हो रही है, जो तूफान के समय डेक पर रखी वास की कुर्सी पर बैठे रहने के वाद उठकर चलने मे गिर-गिर पडता है और प्रयत्न करके भी सभल नही पाता।"

कुछ तो १९४२ के उत्पातो के प्रभाव के कारण और कुछ युद्धोत्तर-काल के नैतिक स्खलन के परिणामस्वरूप लोग दिनो-दिन अनुशासनहीन और उच्छृंखल होते जा रहे थे, जिससे गाधीजी की चिता बहुत वढ गई थी। फरवरी १९४६ मे 'हरिजन' के सपादकीय मे उन्होने लिखा भी था, "चारो ओर घृणा छा गई है और अगर हिंसा से आजादी को समीप लाया जा सके तो उतावले देशभक्त खुशी-खुशी घृणा से फायदा उठाने को तैयार हो जायगे।" घृणा और हिंसा के खतरे गाधीजी को स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, जिनकी अभिव्यक्ति लोगो की ब्रिटिश-विरोधी भावनाओ अथवा साप्रदायिक दगो के रूप मे हो रही थी। वडे शहरो मे दगे बार बार होने लगे थे और हिंदू मुसलमानो को और मुसलमानो हिदुओ को और दोनो मिलकर गुडो को इसके लिए दोषी ठहराते थे। "लेकिन गुडे है कौन ?" गाधीजी ने पूछा और फिर स्वय ही जवाब दिया था—"हमी तो उन्हे बनाते है।" जब पढे-लिखे शरीफ लोग जहर उगलते और उत्तेजना फैलाते थे तभी तो गुडो को खुल खेलने का मौका मिलता था। १९३८-३९ की तरह शाति दल बनाने पर वह फिर ज़ोर देने लगे। ऐसे अहिसाव्रतियो को आगे आना चाहिए, जो प्राणो पर खेलकर दगाग्रस्त क्षेत्रो मे जाय और शाति स्थापना करे और जरूरत पडने पर हँसते-हँसते मौत को भी गले लगाये। साथ ही, उन्होने लोगो को वोलने और लिखने मे समझ से काम लेने की सलाह दी, जिससे सत्ता के हस्तातरण का महान अनुष्ठान शातिपूर्वक सपन्न किया जा सके।

लेकिन यह देश का दुर्भाग्य ही था कि जिन कारणो से गाधीजी और काग्रेस राजनैतिक तापमान को गिराना चाहते थे, जिन्ना और लीग

के लिए तो, 'चूके तो गए' वाली बात थी। कैबिनेट मिशन से नयी चर्चाओं
के दौरान यह बिलकुल साफ हो गया था कि कांग्रेस ही नहीं, [illegible] स-
कार भी पाकिस्तान के विरुद्ध थी। अब तो गृह-युद्ध या उसकी धमकी
देकर ही कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार को बटवारे के लिए मजबूर किया जा
सकता था। कैबिनेट मिशन के सदस्य अभी इंग्लैंड पहुंच भी न पाये थे कि
प्रांतों के समूह बनाने और अंतरिम सरकार के स्वरूप को लेकर मामला
फिर गरमा-गरमी पर पहुंच गया।

२७ जुलाई, १९४६ को मुस्लिम लीग की केन्द्रीय समिति ने कैबिनेट
मिशन की योजना का अपना समर्थन वापस ले लिया, विधान-परिषद के
बहिष्कार का निर्णय किया और पाकिस्तान बनाने के लिए 'सीधी कार्रवाई'
की घोषणा कर दी। जिन्नासाहब ने कहा कि जब मुसलमानों ने वैधानिक
उपायों को छोड़ दिया है। "हमने पिस्तौल गढ़ ली है और उसका इस्तेमाल
करना भी जानते हैं।" जब उनसे पूछा गया कि आपका आंदोलन हिंसात्मक
होगा अथवा अहिंसात्मक, तो उन्होंने 'नीतिशास्त्र' पर बहस करने से इन-
कार कर दिया। लीग के कुछ नेता तो उनसे भी बढ़कर निकले। उन्होंने
साफ-साफ कह दिया और जिस गुस्से और बेसब्री से 'सीधी कार्रवाई'
की बात कही और तैयारियां की गई थीं, उससे तो उसके शांतिपूर्ण होने की
कल्पना सपने में भी नहीं की जा सकती थी।

जब तनाव बढ़ रहा हो तो केंद्र में मजबूत और ताकतवर सरकार का
होना बहुत जरूरी था। कैबिनेट मिशन अंतरिम राष्ट्रीय सरकार स्थापित
करने में सफल नहीं हुआ था। अब जुलाई में वाइसराय लार्ड वेवल ने पुन
इस दिशा में प्रयत्न आरंभ किये और प० जवाहरलाल नेहरू को केंद्र में अंत-
रिम सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। नेहरूजी ने जिन्नासाहब को
भी अंतरिम सरकार में सम्मिलित करना चाहा परंतु उन्होंने सहयोग देने से
इनकार ही नहीं किया, जहर भी उगला, "सवर्ण हिंदुओं की फासिस्ट कांग्रेस
और उसके पिट्ठू अंग्रेजी संगीनों की मदद से मुसलमानों और अन्य अल्प-
संख्यकों पर हावी होकर उन्हें दबाना और उनपर हुकूमत करना चाहते
हैं।"

देश को संकट में से सही-सलामत निकाल ले जाने के लिए जब पूं-

सयम से काम लेने की आवश्यकता हो, इस तरह की कटुता और विष-वमन कितना अनिष्टकारी हो सकता है ! १६ अगस्त को मुस्लिम लीग ने जो 'सीधी कार्रवाई दिवस' मनाया, उससे एक के बाद एक बारूद की ढेरिया इस तरह सुलगती चली गई कि साल-भर तक देश मे धमाके-पर-धमाके और जन-धन को अपार हानि होती रही।

: ४० :

ज्वालाओं का शमन

मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त, १९४६ को 'सीधी कार्रवाई दिवस' मनाया। उस दिन कलकत्ता मे ऐसा भीषण दगा, खून-खच्चर और मारकाट हुई, जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है। चार दिन तक शहर पर गुडो का आतक छाया रहा। शातिर गुडो की टोलिया बल्लम, भालो, फरसो तल-वारो, लाठियो और बदूक-पिस्तौलो तक से लैस शहर-भर मे मार-धाड और लूट-खसोट करती रही। 'स्टेट्समेन' अखबार ने उन चार दिनो के उत्पातो को 'कलकत्ता की जबर्दस्त खूरेजी' कहा था। उस नरमेध मे पाच हजार व्यक्ति मारे गए और पद्रह हजार से भी अधिक घायल हुए थे।

उस समय बगाल मे लीगी मत्रिमडल का शासन था और एच० एस० सुहरावर्दी प्रधान मत्री थे। स्टेट्समेन का कहना है कि "दगे के पहले लीग के रवैये से यही नतीजा निकाला जायगा—और सो भी केवल उसके विप-क्षियो के द्वारा ही नहीं—कि दगा न करने के सबध मे उसके सदस्यो मे मतैक्य नही था।" और लीगी मत्रिमडल पर तो खुल्लमखुल्ला यह आरोप लगाया गया कि उत्पात हो सकते है, यह मालूम होते हुए भी उसने पहले से रोक-थाम की कोई कोशिश नही की। और जब दगा शुरू हो गया तो सुहरावर्दी ने पुलिस को तत्परता और निष्पक्षता से अपना काम करने से जान-बूझकर रोका।

पाकिस्तान के प्रति मुसलमानो की प्रबल भावना को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से लीग ने जो दगा करवाया था, वह दुधारी तलवार सिद्ध हुआ।

शुरू में तो कलकत्ता की गैर-मुस्लिम आबादी पिट गई, लेकिन अपने संख्या-बल के कारण सम्भलकर उसने और भी निर्ममता से जवाबी हमला कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बंगाल में लीगी मन्त्रिमंडल के बावजूद कलकत्ता के शक्ति-परीक्षण में बाजी हिंदुओं के ही हाथ रही। इसका बदला पूर्वी बंगाल के एक मुस्लिम-प्रधान जिले नोआखाली में चुकाया गया। सभ्यता के केंद्र से बहुत दूर होने के कारण यहां उपयुक्त सचार-सुविधाएं भी नहीं थीं। धर्मांध मौलवियों और मौका-परस्त नेताओं ने ऐसी आग भड़काई कि गुंडों को खुल खेलने का मौका मिल गया। फिर तो सारे जिले में विनाश की तांडवलीला ही शुरू हो गई। हिंदुओं के घर जला दिये गए, उनकी फसलें लूट ली गईं, मंदिर भ्रष्ट और तहस-नहस कर डाले गए, हजारों की संख्या में हिन्दू औरतें उडाई गईं और बहुतों को जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया। हिंदू अपने पुश्तैनी घर और गांव छोड-छोडकर भागने लगे। उच्छृंखलता और अराजकता के उस दौर-दौरे में जो-कुछ कलकत्ते में हुआ था, उससे कहीं भीषण कांड नोआखाली में हुए। धर्म के नाम पर और राजनैतिक उद्देश्य के लिए कितनी जघन्यता और पशुता की जा सकती है, यह संसार के सामने आ गया।

गांधीजी उस समय दिल्ली में थे। स्त्रियों पर किये गए अत्याचारों के सम्वादों ने उन्हें और भी व्यथित कर दिया। अपने सारे कार्यक्रम रद्द करके उन्होंने पूर्वी बंगाल जाने का फैसला किया। मित्रों ने उन्हें रोकने की कोशिश की। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। बहुत-से महत्त्वपूर्ण राजनैतिक मामलों में उनकी सलाह की जरूरत पड सकती थी। लेकिन उन्होंने एक न सुनी। "मैं नहीं जानता कि वहां जाकर क्या कर पाऊंगा।" उन्होंने कहा, "लेकिन वहां गये बगैर मुझे शांति न मिलेगी।"

अगस्त के दंगों में क्षत-विक्षत कलकत्ता की हालत देखकर "मनुष्य को पशु बना देनेवाले पागलपन के विचार से" उनकी छाती बैठने लगी थी। पूर्वी बंगाल में भय, घृणा और हिंसा का बोलबाला था। गांधीजी ने अपने-आपको वहां, जैसा कि उन्होंने एक वक्तव्य में कहा था, "झूठ और अतिशयोक्तियों" के बीच पाया। "मैं सचाई का पता नहीं लगा सकता। पारस्परिक अविश्वास की कोई सीमा नहीं है। पुराने रिश्ते और दोस्तियां सब

खत्म हो गई। साठ वर्ष तक मेरे जीवन के आधार बने रहनेवाले सत्य और अहिसा की जैसे आज समाप्ति ही हो गई। सत्य और अहिसा से अधिक अपनी परीक्षा के लिए मै श्रीरामपुर गाव जा रहा हू "

नौआखाली जिले के श्रीरामपुर गाव के दोसौ हिंदू परिवारो मे से दगो के बाद सिर्फ तीन बचे थे। गाधीजी ने अपने दल के सदस्यो को आस-पास के गावो मे भेज दिया। प्यारेलाल, सुशीला नैयर, आभा कनु गाधी और सुचेता कृपलानी अलग-अलग एक-एक गाव मे जा बसे। श्रीरामपुर मे गाधीजी के साथ रह गये उनका स्टेनोग्राफर परशुराम, दुभापिया का काम करनेवाले बगाली प्रोफेसर निर्मलकुमार बोस और मनु गाधी। अगले छ सप्ताह तक चटाई बिछा लकडी का तख्त दिन मे उनके कार्यालय का और रात मे बिस्तरे का काम देता रहा। वह रोज सोलह-सोलह और कभी-कभी तो चौबीस घटे काम करते थे। न उन्हे खाने की सुध थी, न सोने की। थोडा-बहुत पेट मे डाल लेते और बहुत थोडी-सी देर के लिए सो लेते थे। अपने सारे काम स्वय करते, खुद अपने कपडो की मरम्मत करते, अपने हाथ मे खाना पकाते और अकेले हाथो भारी-भरकम डाक से निपटते थे। लोगो से मिलना-जुलना और गाव के मुसलमानो के घर मिलने जाना आदि तो लगा ही हुआ था। लीगी अखबार पिछले कई वर्षो से उन्हे मुसलमानो का सबसे बडा दुश्मन करार देते रहे थे। वे अपने बारे मे श्री-रामपुर के मुसलमानो को खुद फैसला कर लेने देना चाहते थे।

दोनो सप्रदायो मे पारस्परिक विश्वास फिर से पैदा करना बडा ही मुश्किल और देर से होनेवाला काम था। फिर भी नौआखाली मे उनकी उपस्थिति ने पूर्वी बगाल के गावो को ढाढस देने और हिम्मत बधाने का काम किया। लोगो का गुस्सा और तनाव कम होने लगा और दिलो मे नरमी आती गई। यदि लीगी अखबार उनके खिलाफ धुआधार विषैला प्रचार न कर रहे होते और उनके 'शाति-प्रयत्नो की' 'राजनैतिक' चाल कहकर निदा न की गई होती तो उन्हे और भी अधिक सफलता मिलती। स्थानीय लीगी नेताओ और शायद लीगी हाईकमाड के भी दबाव के कारण मुख्य मत्री सुहरावर्दी बगाल मे उनकी उपस्थिति के प्रति सशक हो उठे और उनके तत्काल बगाल छोड जाने का समर्थन करने लगे। गाधीजी को लीगियो के

इस चतुर्दिक विरोध से जरा भी विस्मय न हुआ। लोगों नेताओं के इस अविश्वास के लिए उन्होंने अपने-आपको ही दोषी माना! लगभग आत्म-दंड की सीमा तक उन्होंने आत्म-परीक्षण किया। २ जनवरी, १९४७ को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—"रात दो बजे से जाग रहा हूं। ईश्वर की कृपा ही मुझे थामे हुए है। जरूर मेरे अंदर ही कोई खामी है, जिसकी वजह से यह सब हो रहा है। मेरे चारों तरफ गहरा अंधेरा है। ईश्वर कब मुझे इस अंधेरे से उबारकर अपनी शरण में लेगा?"[1]

उसी दिन वह श्रीरामपुर के आस-पास के गांवों का दौरा करने के लिए चल पड़े। चंडीपुर गांव पहुंचकर उन्होंने चप्पलें भी उतार दीं, धर्म-प्राण तीर्थ-यात्रियों की भांति वहां से नंगे पांव आगे बढ़े। गांव के ऊबड़-खाबड़ रास्ते फिसलन-भरे होते और कोई दुष्ट उनपर कांटे और कांच के टुकड़े तक बिछा जाता। नदी नालों की चरमराती मकड़ी-सी बेंत-पुलिया बोझ-तले टूटने-उलटने को हो जाती। मार्ग में मिलती टूटी दीवारें, खंडहर मकान, ढही छतें, जलते शहतीर, दहकते मलबे, नंगी ठठरियां और विकृत लाशें—धर्मोन्माद का हस्तलाघव था वह सब और आंखों में आंसू भरे, हृदय में हाहाकार लिये वह संत उस विनाश-लीला के बीच अकेला, सर्वथा एकाकी, चला जा रहा था। महाकवि रवींद्र का गीत 'एकला चलो रे' उसकी एकाकी यात्रा को नहीं, उसकी गहन मनोव्यथा को भी सही-सही अभिव्यक्त करता था। शायद इसीलिए यह गीत गांधीजी को उन दिनों इतना प्रिय हो गया था

यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे।
एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे॥
यदि केउ कथा ना काय, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि सबाई थाके मुख फिराये सबाई करे भय—
तबे परान खुले
ओ तुई मुख फुटे तोर मनेर कथा एकला बोलो रे॥
यदि सबाई फिरे जाय, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि गहन पथे जाबार काले केउ फिरे ना जाय—

---

[1] प्यारेलाल 'महात्मा गांधी, दि लास्ट फेज', जिल्द १ पृष्ठ ४७०

तवे पथेर काटा
ओ, तुई रक्त माखा चरण तले एकला दलो रे॥
यदि आलो ना धरे, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि झड वादले आधार राते दुआर देय धरे—
तवे वज्रानले
आपन वुकेर पाजर ज्वालिये निये एकला ज्वलो रे।'

२ मार्च १९४७ को गाधीजी विहार के लिए रवाना हुए। वहा के हिंदू किसानो ने नौआखाली का वदला लेने के लिए अपने यहा के मुस्लिम अल्प-सख्यको के साथ वही किया जो पूर्वी वगाल मे वहा के मुसलमान हिंदुओ के साथ कर चुके थे। विहार के दगो की खवर गाधीजी को सवसे पहले उस समय मिली थी, जव वह अक्तूवर १९४६ के अतिम सप्ताह मे नौआखाली की ओर जा रहे थे। उन्होने उसी समय घोपणा करदी कि यदि तुरन्त शाति स्थापित न हुई तो आमरण अनशन कर देगे। गाधीजी की घोपणा तो थी ही, विहार सरकार ने भी सख्ती से काम लिया और जवाहरलालजी ने दगा-ग्रस्त क्षेत्रो का दौरा किया, जिससे विहार मे तुरत शाति स्थापित हो गई।

---

१ यदि तेरी पुकार सुन कोई न आये तो अकेला चल।
अकेला चल, अकेला चल, अकेला ही चल॥
यदि कोई वात न करे, अरे ओरे अभागे,
यदि सव रह न ह फिराये, सभी करें भय—
तव साहस मे
ओरे, तू मु ह खोल अपने मन की वात कह अकेला ही॥
यदि सव लौट जाय, अरे ओ रे अभागे,
यदि दुर्गम पथ पर जाते, कोई फिरकर न ताके—
तव पथ के काटे
ओ रे तू रक्तरजित चरणतले राद अकेला ही॥
यदि दीप जलाए न जले, अरे ओ रे अभागे,
यदि झडी वरसती अध रात में, द्वार मु दे हों घर के
तव वज्रानल से
अपनी छातीपजर ज्वलित कर तू जल अकेला ही॥

बगाल की तरह बिहार मे भी गाधीजी ने वही बात कही —बहुसख्यको को अपने कृत्यो के लिए पश्चात्ताप कर अपनी भूल सुधारनी चाहिए, अल्पसख्यको को चाहिए कि वे माफ कर दें, मन मे कीना न रखें और अपने घरो को लौट जाय। जो भी हुआ था, उसके लिए वह कोई बहाना सुनने को तैयार न थे। जिन लोगो ने बिहार की घटनाओ को पश्चिम बगाल का बदला कहकर उचित ठहराने की कोशिश की, उन्हे गाधीजी ने बुरी तरह फटकारा। उनका कहना था कि सभ्यता का व्यवहार हर व्यक्ति और समुदाय का फर्ज है और उसके पालन मे यह नही देखा जाता कि दूसरे ने कब, कहा और क्या किया। बिहार की हालत सुधरने लगी और यदि १९४६-४७ का साप्रदायिक तनाव उस समय की अस्थिर और विद्वेषपूर्ण राजनीति की प्रतिक्रिया न होता तो निश्चय ही बिहार मे बहुत शीघ्र स्थिति काबू मे आ जाती।

गाधीजी उधर बगाल और बिहार के गावो मे लगे रहे और इधर देश के राजनैतिक वातावरण मे बहुत तेजी से काफी चिंताजनक परिवर्तन हो गये। लीग के 'सीधी कार्रवाई-दिवस' के बाद सारे देश मे साप्रदायिक दगो की आग भडक उठी। लार्ड वेवल इस देशव्यापी अराजकता मे बुरी तरह घबरा गये और स्थिति पर काबू पाने की दृष्टि से उन्होने लीग को भी अतरिम सरकार मे सम्मिलित कर लिया। केंद्र मे लीग-काग्रेस का सयुक्त मत्रिमडल देश की सभी राजनैतिक व्याधियो की रामबाण औषधि समझा जाता था। पिछले सात बरस से बराबर इसीपर जोर दिया जा रहा था, लेकिन काग्रेस-लीग का सयुक्त मत्रिमडल भी राजनैतिक विवाद को हल न कर सका, उलटे वह और भी उग्र होता चला गया। ९ दिसबर मे विधान-परिषद् की बैठकें होनेवाली थी। मुस्लिम लीग ने यह घोषणा करदी कि उसके प्रतिनिधि उसमे भाग नही लेंगे। वैधानिक सकट इतना गहरा हो गया कि नवबर १९४६ के अतिम सप्ताह मे ब्रिटिश सरकार ने वाइसराय, नेहरूजी, जिन्नासाहब, लियाकत अली खा और सरदार बलदेवसिंह को विचार-विमर्श के लिए लदन बुला भेजा। वहा भी आपसी चर्चाओ का कोई परिणाम नही निकला और समझौते का प्रयत्न एक बार फिर विफल हुआ। तब ब्रिटिश सरकार ने प्रातो के समूह बनाने-सबधी केबिनट-मिशन-योजना की विवादास्पद धारा का स्पष्टीकरण करते हुए ३ दिसबर, १९४६ को एक

वक्तव्य दिया। इस स्पष्टीकरण से लीग की बहुत-सी आपत्तियो का निरा-करण हो गया, लेकिन फिर भी वह विधान-परिषद् मे भाग लेने को राजी न हुई।

१९४७ के आरभ मे देश का राजनैतिक भविष्य पूर्णत तिमिगाच्छन्न था। सारा भारत, यहातक कि हर नगर और हर गाव, गृहयुद्ध की-सी स्थिति मे था। केंद्रीय सरकार ऊपर से लेकर नीचे तक स्वय इस तरह बटी हुई थी कि वह प्रातीय सरकारो को दृढता और सश्लिष्ट रूप से काम करने को प्रेरित नही कर सकती थी। कभी काग्रेस और कभी लीग के दबाव के कारण लार्ड वेवल का कोई बस चल नही पाता था। प्रयत्न करके भी वह स्थिति को सुलझाने या उसपर काबू पाने मे असमर्थ ही रहे थे। अराजकता को रात के अधेरे की तरह बढते देख वह इतना घबरा गये कि क्रमश एक-एक प्रात से अग्रेजो को हटाने का सुझाव तक कर बैठे। ब्रिटिश प्रधान मत्री एटली ने समझ लिया कि नई नीति और नया वाइसराय ही भारत मे हालत को और अधिक बिगडने से रोक सकेगा। २० फरवरी, १९४७ को उन्होने हाउस आव कामन्स मे घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का जून १९४८ मे भारत छोडने का इरादा बिलकुल पक्का है और यदि उस समय तक भारतीय राज-नैतिक दल अखिल भारतीय विधान के सबध मे एकमत न हो सके तो "ब्रिटिश भारत मे किसी भी तरह की केंद्रीय सरकार को या कुछ क्षेत्रो की तत्कालीन प्रातीय सरकारो को या भारतीय जनता के हित मे जो भी उचित और उपयुक्त प्रतीत होगा, उस तरह सत्ता हस्तातरित कर दी जायगी।" उसके साथ ही लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउटबेटन को भारत का वाइसराय नियुक्त किये जाने की घोषणा की गई थी।

ब्रिटिश प्रधान मत्री के २० फरवरी के वक्तव्य को नेहरूजी ने "समझदारी और साहसपूर्ण" कहा था। जिन्नासाहब उस ऐतिहासिक वक्तव्य मे निहित अतुलित आस्था और साहस से तो प्रभावित नही हुए, लेकिन तत्कालीन प्रातीय सरकारो को "जून १९४८ मे सत्ता हस्तातरित किये जाने की सभावना से उन्हे अवश्य प्रसन्नता हुई। लीग यही चाहती भी थी। विधान-परिषद् मे सम्मिलित हुए बिना और अखिल भारतीय विधान को खटाई मे डालकर उसे पूर्व और पश्चिम के प्रातो मे जहा वह पाकिस्तान बनाना

चाहती थी, सत्ता मिली जा रही थी। पूर्व और पश्चिम के इन प्रातो मे बगाल और सिंध मे तो लीगी मत्रिमडल थे ही, मुस्लिम जनसख्या प्रधान बिलोचिस्तान केंद्र-प्रशासित प्रदेश था। आसाम और पश्चिमोत्तर सीमा प्रात मे काग्रेसी मत्रिमडल थे और पजाब मे काग्रेस, अकाली दल और यूनियनिस्टो की सयुक्त सरकार थी। लीग ने आसाम, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रात और पजाब के मत्रिमडलो को अपदस्थ कर वहा लीगी मत्रिमडल बनाने का फैसला कर लिया। तुरन्त इन तीनो प्रातो मे सीधी कार्रवाई जोर-शोर से शुरू कर दी गई। इसका परिणाम खास तौर पर पजाब के लिए बडा ही भयानक हुआ। पश्चिमी पजाब के हिंदू और सिख अल्पसख्यको को वही कष्ट भुगतने पडे, जो पूर्वी बगाल के हिंदू अल्पसख्यक तथा बिहार के मुस्लिम अल्पसख्यक भुगत चुके थे।

पजाब के उपद्रवो के समाचार गाधीजी को बिहार मे मिले। अक्तूबर १९४६ से वह हिंसा की आग को बुझाने की व्यर्थ कोशिश मे एक प्रात से दूसरे प्रात मे भटकते रहे थे। एक प्रात का काम सभल भी न पाता था कि दूसरे प्रात मे आग धधक उठती थी। कुछ लोग तो निरुपाय होकर यहातक कहने लगे थे कि अग्रेज ही थे, जो हिंदू-मुसलमानो को एक दूसरे का गला काटने से रोके रहे। उनके जाते ही दोनो की आपस मे ठन गई।

१९४६-४७ की हिंसात्मक कार्रवाइयो ने गाधीजी को कडे आघात पहुचाने के साथ-साथ बुरी तरह व्यथित भी कर दिया था। विश्व के समक्ष भारत की अहिंसा का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वह जीवन-भर परिश्रम करते रहे थे। लेकिन अपनी आतरिक अभिलाषा और आखो के सामने प्रत्यक्ष दिखनेवाली वास्तविकता ने उन्हे पूर्णत निराश कर दिया था। उन्हे ऐसा लग रहा था, मानो जीवन के सारे प्रयत्न ही विफल हो गये। इन सबके लिए उन्होने अपनेको ही दोषी माना। कही मेरी कार्य-शैली ही तो गलत नही ? क्या मैने असतर्कता, लापरवाही, अन्यमनस्कता और जल्द-बाजी से तो काम नही लिया ? अग्रेजो से अहिंसात्मक लडाई लडनेवालो के मन मे दबी-छिपी हिंसा को देख पाने मे मै कही असफल तो नही हुआ ? साप्रदायिक हिंसा अहिंसा का जबानी समर्थन करनेवालो के मन मे धधकती हिंसा का ही व्यक्त रूप तो नही है ?

अपने सिद्धातो और विचारो की रोशनी मे एव अपने दृष्टात से चालित भारत के स्वाधीनता-सग्राम मे इस व्यापक बुराई की जडे खोजने का उनका प्रयत्न स्वाभाविक ही था। सारी परिस्थिति का सिहावलोन करने के बाद तो यही लगता है कि अहिंसा की असफलता के लिए सारा दोप अपने सिर लेना उनकी ज्यादती ही थी। अकेला एक नेता, वह कितना ही महान क्यो न हो, चाहे तीस बरस की अवधि मे ही सही, एक विशाल देश के चालीस करोड निवासियो को घृणा और हिंसा की भावना से मुक्त कर सकेगा, यह आशा निरी दुराशा ही कही जायगी। यही क्या कम महत्वपूर्ण और प्रशसनीय है कि उनके द्वारा सचालित देशव्यापी सामूहिक सत्याग्रहो मे हिंसा की मात्रा लगभग नगण्य रही और देश के राष्ट्रीय जागरण मे नवजागृत राष्ट्र-वाद के साथ अन्यथा जुडी रहनेवाली हिंसा का लेश भी न आने पाया।

हो सकता है कि अगस्त १९४२ मे काग्रेसी नेताओ की गिरफ्तारी के बाद देश की जनता अपना आपा खोकर जो उच्छृखल हुई तो फिर सत्याग्रह का अनुशासन न अपना सकी। लेकिन १९४६-४७ की हिसात्मक कार्रवाइयो का मुख्य कारण वह नही, वास्तव मे पाकिस्तान के पक्ष-विपक्ष मे किये जानेवाले प्रचार और आदोलन से पैदा हुई उत्तेजना और तनाव ही थे। इस सारे आदोलन की बुनियाद ही इस गलत और विद्वेषपूर्ण धारणा पर रखी गई थी कि हिंदू और मुसलमानो मे न कभी एकता थी, न आज है और न आगे कभी हो सकेगी। देश की काफी बडी जनसख्या झूठी आशाओ से प्रतारित और झूठे भयो से व्यथित होती रही थी। कोई निश्चयपूर्वक नही कह सकता था कि भारत एक और अखड रहेगा या दो अथवा अधिक राज्यो मे विभाजित हो जायगा, पजाब और बगाल एक रहेगे अथवा उनका अग-भग हो जायगा, रियासते स्वतत्र भारत का अविभाज्य अग होगी अथवा स्वाधीन राज्य बन जायगी ? आसाम की नागा जाति और मध्य-भारत (सेंट्रल इडिया) के आदिवासियो ने कभी स्वतत्रता की माग नही की थी, लेकिन अब उनके भी स्वतत्र राज्यो के दावेदार खडे हो गये थे। दक्षिण मे द्राविडस्थान बनाने और पाकिस्तान के पूरब-पश्चिम के हिस्सो को जोडनेवाले हजार मील लबे गलियारे की अफवाहे भी गरम थी। बल-कान राष्ट्रो की भाति भारत को छोटे-छोटे हिस्सो मे बाटने की जो बात

कभी अमंगलसूचक समझी जाती थी, वह एक वास्तविक खतरा बन गई थी। लोग व्यग्र होकर तरह-तरह की और मन-उपजाई बाते सोचने लगे थे। उपद्रवकारी तत्व यह सोच-सोचकर खुश हो रहे थे कि सत्ता के हस्तांतरित होते ही देश की ठीक वही हालत हो जायगी जो १८वी शताब्दी मे मुगल साम्राज्य के पराभव के समय थी और तब उन्हे लूट खसोटने की मन-मांगी मुराद मिलेगी।

ऐसी नाजुक घडी मे सरकार और प्रशासन-तंत्र का हाल और भी बुरा था। केंद्रीय सरकार के मंत्रियो मे न विचारो की एकता थी, न कार्य की। सभी दलो के प्रतिनिधि अपनी डफली पर अपना राग अलाप रहे थे। प्रांतीय सरकारो का लगभग अध पतन हो चुका था। निकट भविष्य मे ही अपनी सेवाओ की समाप्ति के विचार से कुछ अंग्रेज अफसरो के दिल खट्टे हो रहे थे और फिर चारो ओर धधकती साप्रदायिकता की आग को बुझाने की उनमे न इच्छा थी और न सामर्थ्य ही। अधिकाश भारतीय अफसर साप्रदायिक विष मे अछूते न रह सके थे और जो थोडे-बहुत रह भी थे, वे अपने मातहतो को विजातियो पर अत्याचार करने मे रोक नही पाते थे। कई राजनैतिक दलो ने अपने-अपने सैनिक संगठन बना लिये थे। मुस्लिम लीग का नेशनल गार्ड था। हिंदुओ का राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ था। और भी कई थे। ऐसा लगता था जैसे कानून और व्यवस्था मे जनता का कोई विश्वास ही न रह गया हो।

देश की इस विस्फोटक स्थिति को गाधीजी से अधिक अच्छी तरह और कौन समझ सकता था ! लीग के 'सीधी कार्रवाई दिवस' के कलकत्ता उपद्रवो पर टिप्पणी करते हुए उन्होने कहा था, "अभी गृहयुद्ध तो नही छिडा है, लेकिन उसमे देर भी नही है।" अक्तूबर १९४६ मे जब वह दिल्ली से नौआखाली के लिए रवाना हुए तबसे धार्मिक उन्माद का शमन ही उनका खास काम हो गया था। वह जानते थे कि यदि राजनैतिक दलो मे समझौता हो गया तो स्थिति काफी हदतक सामान्य हो जायगी, लेकिन समझौते की कोई संभावना दिखाई नही दे रही थी और उन्हे तो यह आशका भी थी कि कही हिसा राजनैतिक समझौते पर हावी न हो जाय। उनका कहना था कि यदि नेता समझौता नही कर सकते तो क्यो

न जनता को उसके लिए राजी किया जाय, लेकिन वह नही जानते थे कि जनता राजी हो भी जायगी अथवा नही। बगाल और बिहार के अपने दौरो मे उन्होने लोगो को काफी समझाया-बुझाया था, लेकिन अब मुस्लिम मध्यम वर्ग पर उनका वह असर नही रह गया था, जो पहले कभी हुआ करता था। हिंदू भी बहुत बेचैन थे और उनकी नीति को 'एकपक्षीय निर-स्त्रीकरण' की नीति कहकर उसमे सदेह प्रकट करने लगे थे। यदि जिन्ना-साहब पूर्वी बगाल अथवा पश्चिमी पजाब का दौरा करते तो उससे दगो की रोक-थाम मे काफी मदद मिल जाती। लेकिन उपवास और पद-यात्राओ को घृणा की दृष्टि से देखनेवाले जिन्नासाहब ऐसे किसी प्रस्ताव को स्वी-कार करने के लिए राजी ही क्यो होते! यह सब उनकी राजनैतिक शान और रुतबे के खिलाफ जो था।

जिन्नासाहब वकील और विधान-शास्त्री थे, इसलिए सहसा विश्वास नही होता कि वह हिसा का समर्थन करते रहे हो। लेकिन यह तो निर्विवाद है कि हिसात्मक कार्रवाइयो की धमकी देना उन्हे खूब आता था और शायद इसमे उनका विश्वास भी था। 'कलकत्ते की जबर्दस्त खूरेजी' और बगाल एव बिहार के उपद्रवो के बाद पाकिस्तान के पक्ष मे साप्रदायिक उत्पात ही उनका सबसे सबल तर्क था। वह कहने लगे थे कि यदि भारत का विभाजन नही किया गया तो जो हो चुकी है उनसे भी भीषण घटनाए होगी। वेवल और माउटबेटन का अनुरोध स्वीकार कर वह शाति की अपीलो पर अपने हस्ताक्षर तो कर देते थे, परतु आग उगलनेवाले अपने सहयोगियो को रोकने की कोई कोशिश नही करते थे। खुद उनके वक्तव्य उपद्रवो और उत्पातो की भर्त्सना करने के बदले लीपा-पोती के प्रयत्न होते थे।

: ४१ :

पराजित की विजय

मि० एटली को भारत के सबध मे सबसे अधिक डर गृहयुद्ध का था। अपने सस्मरणो मे उन्होने कहा भी है कि भारत मे सत्ता के शातिपूर्ण

हस्तातरण की सभावनाए अधिक तो नही थी, पर एक व्यक्ति था, जो "शायद गाडी को खीच ले जाता।" वह व्यक्ति रियर-एडमिरल लार्ड माउंट-बेटन थे, जो मार्च १९४७ मे लार्ड वेवल के बाद भारत के वाइसराय बने।

नये वाइसराय का सबसे पहला काम था गाधीजी को चर्चा के लिए आमन्त्रित करना। गाधीजी उस समय बिहार मे शाति-स्थापना के सिल-सिले मे पद-यात्रा कर रहे थे। वाइसराय का तार मिलते ही उन्होने अपने सारे कार्यक्रम रद्द कर दिये और ट्रेन से दिल्ली पहुचे। उन्होने लार्ड माउंट-बेटन को, काग्रेस-लीग की सयुक्त सरकार भग कर उसके स्थान पर जिन्ना साहब को नई सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करने की सलाह दी। इसके द्वारा गाधीजी काग्रेस और हिंदुओ के बारे मे जिन्नासाहब के सदेहो को एकबारगी मिटा देना चाहते थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार को यह सुझाव उपयुक्त नही लगा। काग्रेसी नेता भी सारे सूत्र लीग के हाथ मे सौपने को तैयार नही थे। अतरिम सरकार मे वे अपने लीगी साथियो के रुख और रवैये से खूब परिचित हो चुके थे। फिर सद्भावना-सकेतो का जमाना भी अब नही रह गया था। जब जिन्नासाहब ने लार्ड माउंटबेटन से भेट की तो बटवारे की अपनी उसी पुरानी माग पर उन्होने फिर जोर दिया।

अब काग्रेस ने भी बटवारे के प्रश्न पर अपनी नीति और दृष्टिकोण मे कुछ परिवर्तन किया, जिससे वाइसराय का काम बहुत सरल हो गया। अभी तक काग्रेस इस बात पर अडी हुई थी कि यदि बटवारा होना ही है तो वह स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हो, पहले नही जैसा कि मौलाना आजाद ने उस समय कहा था, "शादी पहले, तलाक उसके बाद।" लेकिन अतरिम सरकार मे कुछ महीने लीगियो के साथ काम करके काग्रेसी नेता इस नतीजे पर पहुचे थे कि एकता मुश्किल ही है। १९४७ के फरवरी-मार्च महीने मे तो हालत यह हो गई कि या तो विभाजन स्वीकार करें या देश को अराजकता के भवर मे फस जाने दे। काग्रेसी नेताओ ने देश के तीन-चौथाई भाग को अबाधुधी की गिरफ्त मे बचाने के लिए विभाजन का आजादी से पहले ही मजूर कर लेना ठीक समझा।

इस प्रकार ३ जून, १९४७ की योजना सामने आई, जिसके अनुसार १५ अगस्त, १९४७ को ब्रिटेन द्वारा दो उत्तराधिकारी राज्यो को सत्ता

सौपने की वात तय रही। इस योजना पर काग्रेस और लीग की सम्मिलित स्वीकृति प्राप्त करने के लिए समभौता-वार्ताओ मे वाइसराय को पूरे दस हफ्ते और अपना समस्त बुद्धि-कौशल लगा देना पडा था। यह योजना काग्रेस और लीग के बीच समभौते का ऐसा लघुतम अश थी, जिसपर दोनो पक्ष सहमत हो सके थे, यद्यपि अतिम फैसला तो जनवादी तरीके से अर्थात प्रातीय कौसिलो के सदस्यो के मतदान अथवा मत-सग्रह के द्वारा ही किया जाना था, लेकिन भारत और पजाव एव वगाल के वटवारे की वात पक्की हो गई थी।

गाधीजी को जिसका डर था, अव वही वात होने जा रही थी। भारत के वटवारे की वात पक्की हो गई थी, लेकिन विभाजन ऊपर से लादा नही जा रहा था। प० जवहारलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और काग्रेस कार्य-समिति के सदस्यो के बहुमत ने उसे स्वीकार किया था। इस वार की वार्ताओ मे गाधीजी ने भाग नही लिया था, लेकिन विभाजन के विरुद्ध वह थे, इसे सभी जानते थे। कारण भी वही थे, जिन्हे वह पहले अनेक वार वता चुके थे—"अग्रेजो के भारत पर शासन करते हुए हम मिल-जुलकर, सश्लिष्ट रूप से कभी कुछ सोच ही नही सकते। फिर भारत का नकशा वदलना ब्रिटिश सरकार का काम नही है। उसका काम तो है वादा की हुई तिथि को या उसके पहले 'भारत से हट जाना और देश को व्यवस्थित अथवा उथल-पुथल मे, जैसी भी स्थिति हो, छोड जाना।" जिन उत्पातो के डर के कारण काग्रेसी नेताओ और ब्रिटिश सरकार के निकट विभाजन नितात आवश्यक हो गया था, उन्ही उत्पातो और हिसा के कारण गाधीजी विभाजन का विरोध कर रहे थे। देश मे गृह-युद्ध के खतरे की वजह से विभाजन स्वीकार करने का अर्थ होगा "इस वात को मान लेना कि काफी तादाद मे हिसा और उत्पातो का सहारा लिया जाय तो हर चीज़ हासिल की जा सकती है।"

विभाजन के वारे मे इतना कडा रुख होने से यह खयाल किया जाता था कि शायद गाधीजी माउटवेटन-योजना का विरोध करेगे। खुद वाइस-राय को भी यही आशका थी। लेकिन जिस समभौते को काग्रेस और लीगी नेताओ एव ब्रिटिश सरकार ने मजूर कर लिया था, उसमे अडगा डालने

का गाधीजी का कोई इरादा नही था। काग्रेस की महासमिति जब माउंट-बेटन-योजना पर विचार करने बैठी तो गाधीजी ने विभाजन के विरुद्ध ने अपनी राय साफ-साफ बता दी, लेकिन पूरा जोर लगाया योजना को मजूर कर लेने के पक्ष मे। अपनी स्वतत्र राय को अक्षुण्ण रखते हुए भी इस आत्म-त्याग के द्वारा गाधीजी ने उस समय काग्रेस को फूट से बचा लिया।

पाकिस्तान बनने का अतिम रूप से फैसला हो जाने पर गाधीजी ने उसके बुरे नतीजो की रोकथाम की कोशिशे शुरू कर दी। पाकिस्तान के हिंदू अल्पसख्यको को बराबरी के अधिकार और सुविधाए देने के जिन्ना-साहब के वादे का उन्होने स्वागत किया और होनेवाले भारतीय सघ से अनुरोध किया कि 'बडा' होने के नाते उसे अपने यहा अल्पसख्यको के साथ न केवल न्यायोचित अपितु उदारता का व्यवहार करके अपने पडोसी के लिए एक उदाहरण पेश करना चाहिए।

१५ अगस्त, १९४७ को सत्ता के हस्तातरण का उत्सव राजसी ठाठ-बाट से मनाने का फैसला किया गया था, लेकिन गाधीजी गाजे-बाजे के जरा भी पक्ष मे नही थे। जिस दिन के लिए वह जीवन-भर परिश्रम करते रहे थे, उसके आगमन पर उनके मन मे कोई उमग नही थी। एक तो आजादी के लिए देश की एकता की बलि चढानी पडी थी और फिर काफी बडे क्षेत्रो की जनता अपने भविष्य को लेकर चितित और व्यग्र थी। अगस्त के आरभ मे कश्मीर जाते हुए पश्चिमी पजाब मे दगो से बर्बादी के चिह्न उन्होने देखे और फिर उन्हे तुरत पूर्वी बगाल चले जाना पडा जहा पाकिस्तान बन जाने के कारण नोआखाली के हिंदुओ के लिए साप्रदायिक उपद्रवो का खतरा फिर बढ गया था।

कलकत्ता पहुचे तो वहा की हालत बहुत बिगडी हुई थी। साप्रदायिक उप-द्रव अपनी चरम सीमा तक पहुच चुका था। पिछले पूरे एक साल से कल-कत्ता शहर ऐसी ही तबाही से गुजर रहा था। जब लीगी मत्रिमडल के सत्ता छोड देने और अधिकाश मुस्लिम अफसरो एव पुलिस अधिकारियो के पाकिस्तान चले जाने के कारण हिंदू उपद्रवकारियो की बन आई थी। लगता था कि कलकत्ता के हिंदू वहा के मुसलमानो से पिछली सारी बातो का बदला लेकर ही रहेगे। सुहरावर्दी अब मुख्य मत्री नही थे, शायद उन-

लिए उनके दृष्टिकोण मे भी कुछ परिवर्तन हो गया था। वह गाधीजी से मिले और अनुरोध किया कि नौआखाली जाने से पहले कलकत्ता मे शाति स्थापित करते जाय। गाधीजी इस शर्त पर राजी हो गये कि सुहरावर्दी भी उनके साथ कलकत्ते के एक ही मकान मे रहे और हिंदू अल्पसख्यको की रक्षा के लिए पूर्वी वगाल के मुस्लिम जनमत को प्रभावित करने मे उनकी सहायता करे। गाधीजी ने अपने रहने के लिए वेलीघाटा मे एक मुसलमान मजदूर का घर चुना। यह मुहल्ला उन दिनो मुसलमानो के लिए असुरक्षित समझा जाता था। १३ अगस्त को गाधीजी उस घर मे रहने के लिए पहुचे ही थे कि कुछ हिंदू युवक उनके शाति-प्रयत्नो के खिलाफ प्रदर्शन करने को आ धमके। गाधीजी ने वडी शाति से उन्हे अपने शाति-प्रयत्नो का अभिप्राय समझाया और वताया कि भाई-भाई की इस लडाई को रोकना क्यो आवश्यक है और यह भी कहा कि हिसा और तोड-फोड से तो किसी को भी लाभ न होगा, उलटे हिंदुओ का ही नुकसान होगा। उनकी मधुर, करुण, प्रेमभरी वाणी ने युवको के रोप और उत्तेजना को पानी-पानी कर दिया। वही हाल हुआ जो वर्पा की फुहारो से वैशाख-जेठ की तप्त भूमि का होता है। बगाली युवक वदले हुए मन-मस्तिप्क लेकर अपने घरो को लौट गये। यह एक चमत्कार था। महात्माजी के इस जादू से कलकत्ते की हालत मे रातोरात परिवर्तन हो गया। दगा रुक गया। आजादी की अगवानी का दिन १४ अगस्त, दोनो कौमो ने सयुक्त रूप से साथ मिलकर मनाया। हिंदू और मुमलमान, एक-दूसरे से निर्भय, सडको पर निकल आये, गले मिले और साथ नाच-गाकर आजादी का उत्सव मनाने लगे। अगस्त १९४६ से नगर पर छाये हुए साप्रदायिकता के घनघोर बादल छट गये थे। ईद के दिन हिंदुओ ने अपने मुसलमान भाइयो को गले लगाया और मुवारक-वाद दी। लगता था, जैसे १९२०-२२ के खिलाफत आदोलनवाले दिन लौट आये हो। तीन-तीन, चार-चार लाख आदमी गाधीजी की प्रार्थना-सभाओ मे शामिल होने लगे और उन सभाओ मे भारत तथा पाकिस्तान के झडे साथ लगाये जाते। गाधीजी अपने प्रयत्नो के परिणाम से वडे ही सतुष्ट और प्रसन्न दिखाई देते थे। उन्होने कहा भी था—"हमने घृणा का विप पिया, इसलिए भाई-चारे का यह अमृत और भी मीठा लगता है।"

लेकिन यह मैत्री भाव मुश्किल से पंद्रह दिन निभ पाया होगा कि पंजाब के हत्याकांडो और वहां से हिंदुओं के भागने के समाचारों ने फिर आग लगादी। ३१ अगस्त की रात को हिंदुओं की एक भीड़ गांधीजी के बेलीघाटावाले मकान पर चढ दौड़ी। क्रुद्ध, हिंस्र और उत्तेजित भीड़ ने घर के खिड़की-दरवाजे तोड़ डाले और लोग अंदर घुस गये। महात्माजी के समझाने और शांत करने का कोई असर उन लोगो पर न हुआ। भीड़ में से किसीने उनपर पत्थर फेंका, किसीने लाठी खींचकर मारी, लेकिन दोनों ही बार वह बाल-बाल बच गये। उसके बाद कलकत्ता फिर दंगों की गिरफ्त में आ गया।

गांधीजी के शांति-प्रयत्नों को इससे गहरा धक्का लगा। उन्होंने पहली सितंबर से अनशन शुरू करने की घोषणा करदी—जबतक कलकत्ते में शांति स्थापित न होगी, वह अपना उपवास नहीं तोड़ेंगे। "जो मेरे कहने से न हुआ, वह शायद मेरे उपवास से हो जाय।" उपवास की घोषणा ने सारे कलकत्ते को हिला दिया, मानो बिजली ही छू गई हो। मुसलमान विचलित हो उठे और हिंदू लज्जा से नतमस्तक, यहांतक कि कलकत्ता के गुंडों की भी हिम्मत गांधीजी का खून अपने हाथों पर लेने की न हुई। उपद्रवकारियों ने खुद होकर कई ट्रक गैर-कानूनी हथियार अधिकारियों के पास जमा करवा दिये। दोनों कौमों के नेताओं ने आपस में शांति बनाये रखने की प्रतिज्ञा की और गांधीजी से प्रार्थना की कि वह अपना अनशन समाप्त करदें। गांधीजी ने इस शर्त के साथ उपवास तोड़ा कि यदि फिर शांति भंग हुई तो वह आमरण अनशन कर देंगे।

कलकत्ते के उपवास ने जादू का-सा काम किया। 'लंदन टाइम्स' के संवाददाता ने कहा था कि जो काम सेना के कई डिविजनों से न हो पाता, उसे एक उपवास ने कर दिखाया। उसके बाद कलकत्ता और बंगाल में कोई गड़बड़ी न हुई। कम-से-कम वहां से तो सांप्रदायिकता का भूत उतर चुका था।

अब गांधीजी ने अपना ध्यान पंजाब की ओर लगाया। १९४७ के मध्य अगस्त में पंजाब में जो दंगे हुए, वास्तव में वे मार्च १९४७ के दंगों का ही एक सिलसिला था। पंजाब के शहर और गांव आगा, निगाना और आगका

मे झकझोरे खाते और साथ ही लडाई की तैयारिया भी करते रहेथे। साप्रदायिक आधार पर सरकारी कर्मचारियो की अदला-बदली के कारण प्रशासन-तत्र एकदम निकम्मा और कमजोर हो गया था। अगस्त महीने के अत तक पुलिस और फौज पर साप्रदायिक तत्त्वो के पूरी तरह हावी हो जाने के कारण हिंदुओ का पश्चिमी पजाब मे और मुसलमानो का पूर्वी पजाब मे रहना असभव हो गया।

पचास लाख हिंदू और सिखो की पश्चिमी पजाब से पूर्वी पजाब की ओर एव लगभग इतने ही मुसलमानो की पूर्वी पजाब से पश्चिमी की ओर भगदड ने मानवी कष्टो और तबाही का जो दृश्य उपस्थित किया, समसामयिक इतिहास मे उसका उदाहरण मिलना मुश्किल है और सबसे बडा खतरा तो यह था कि जब शरणार्थियो के काफले मजिल पर पहुचकर आप-बीती के दु खभरे किस्से सुनाते तो वहा भी हिसा और उत्तेजना फैल जाती थी। सितबर के पहले सप्ताह मे दिल्ली मे ठीक हुआ भी यही। जब गाधीजी दिल्ली पहुचे तो भीषण साप्रदायिक उपद्रवो के कारण वहा का सारा काम-काज ठप्प हो गया था। दिल्ली को साप्रदायिक आग की लपटो मे जलता छोड पजाब जाने का कोई तुक गाधीजी की समझ मे न आई। सरकार ने स्थिति को सभालने मे काफी मुस्तैदी दिखाई थी। लेकिन पुलिस और सेना के जोर से थोपी हुई शाति से गाधीजी भला कैसे सतुष्ट हो सकते थे। लोगो के दिलो से ही हिसा और घृणा को मिटाना होगा। काम बहुत ही कठिन था। राजधानी मे कई शरणार्थी कैप थे। कुछ मे पश्चिमी पाकिस्तान से भागकर आये हुए हिंदू और सिख शरणार्थी भरे हुए थे और कुछ मे दिल्ली से भागनेवाले मुसलमान सीमा के पार जाने के इतजार मे पडे थे।

हिंदू और सिख शरणार्थियो के मिजाज का पारा बहुत चढा हुआ था। घर, जमीन और रोजी-रोजगार से उखडे हुए इन लोगो मे से बहुत-से पहली बार असहनीय गरीबी का दु ख भोग रहे थे, कइयो को दगो मे अपने प्रियजनो से हाथ धोने पडे थे और गुस्सा तो सभीके दिलो मे था। सभी दिल्ली मे अपने लिए जगह बनाना और रोजगार पाना चाहते थे। सबकी आखे मुसलमानो द्वारा छोडे हुए मकानो और दुकानो पर लगी हुई

थी। पाकिस्तान मे छोडी हुई अपनी जायदाद के बदले मुसलमानो की भाग-स्थित जायदाद को पाना वे अपना हक समझते थे। महात्माजी की 'भूल जाने और क्षमा करने' की सलाह उनकी समझ मे नही आती थी। वे कहते कि जिनके हाथो अपार कष्ट सहने पडे, उनके लिए दिलो मे घृणा क्यो न होगी? बटवारे के लिए भी वे गाधीजी को ही जिम्मेदार ठहराते थे। महात्माजी की अहिंसा से पाकिस्तानियो की हिंसा बहुत तगडी साबित हुई थी। गाधीजी के यह कहने पर कि आप लोग एक दिन लौटकर पाकिस्तान मे अपने घरो को जा सकेंगे, वे अविश्वास से सिर हिलाकर रह जाते थे। उनका कहना था कि जो हमने देखा और सहा वह गाधीजी को भुगतना नही पडा, इसलिए ऐसी बाते कहते है। इधर गाधीजी लोगो को समझाने-बुझाने और आश्वासन देने मे दिन-रात एक किये दे रहे थे। दिल्ली मे बैठकर वह लोगो की शिकायते सुनते, मुसीबतो के हल निकालते, रोज के अनगिनत मुलाकातियो मे किसीकी पीठ ठोकते तो किसीको झिडकते, शरणार्थी कैपो का चक्कर लगाते और स्थानीय अधिकारियो से भी मिलते-जुलते रहते थे। यह सारा काम बुरी तरह थका देने और दिल तोडनेवाला था।

गाधीजी कभी गभीरता से और कभी मजाक मे कहा करते थे कि वह सवा सौ वर्ष की उम्र तक जीवित रहना चाहते है। उनके विचारो के अनुसार दीर्घ जीवन का यही भारतीय आदर्श था। लेकिन 'कलकत्ता की जबरदस्त खूरेजी' के बाद के दगो के कारण वह इतने त्रस्त और दुखी हो गये थे कि अक्सर कहा करते, "भाई-भाई की इस सत्यानाशी लडाई को देखते हुए जीवित रहने की अब जरा भी इच्छा नही होती।" उस बार अपने जन्म-दिवस पर बधाई देनेवालो से उन्होने कहा था, "बधाई कैसी, मातमपुर्सी ही करनी चाहिए।"

क्या उन्हे अपनी आसन्न मृत्यु का आभास मिल गया था, या यह उनकी उस समय की आत्म-पीडा और मनोव्यथा की प्रतिध्वनि ही थी, कौन जाने? 'जीवन और मृत्यु' को वे "एक ही सिक्के के दो बाजू" मानते थे। मृत्यु तो उनके निकट 'अनुपम मित्र' थी और जीवन मे ऐसे भी कई अवसर आये जब मौत से उनका साक्षात्कार हुआ। सत्ताईस वर्ष की उम्र

मे डरबन की सडको पर गोरो की उत्तेजित भीड ने उन्हे मार ही दिया होता। ग्यारह साल बाद जोहान्सबर्ग मे एक अक्खड पठान ने भी उनकी जान ले ही ली थी, १९३४ मे पूना के म्युनिसिपल हॉल की ओर जाते हुए बम के वार से वह बाल-बाल बचे थे। उपवासो मे तो हमेशा ही उनकी बाजी अपने प्राणो से लगी होती थी और दो लबे उपवासो मे उनका जीवित रह जाना एक चमत्कार ही था। अहिसा के सैनिक के रूप मे उन्होने जितनी बार अपनी जान और जीवन को खतरे मे डाला था वैसे तो किसी भी जनरल या कर्नल ने लडाई के मैदान मे खतरे का सामना न किया होगा।

१३ जनवरी, १९४८ को उन्होने उपवास आरभ किया था। इसके सबध मे उन्होने मीराबहन को लिखा था, "मेरा सबसे बडा उपवास।" यह उनका अतिम उपवास भी था। जबतक दिल्ली मे पूरी तरह शाति स्थापित नही हो जाती, वह उपवास नही तोडेंगे। राजधानी मे ऊपर से शाति हो गई। सरकार की कडी कार्रवाई के कारण हत्या और लूटमार की वारदाते बद हो गई थी। लेकिन गाधीजी पिछले साढे चार महीने से जिस शाति के लिए प्रयत्न कर रहे थे वह 'शमशान की शाति' नही, दिलो को मिलानेवाली शाति थी। उस सच्ची शाति का दिल्ली मे कही पता नही था। मुसलमान निडर और स्वतत्रतापूर्वक राजधानी की सडको और गलियो मे निकल नही सकते थे। गाधीजी को यह भी पता चला कि पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले हिदू शरणार्थी मुसलमानो को अपने घर से और दुकानो से निका-लने के लिए बुरे-से-बुरे उपायो का अवलबन कर रहे थे। इसके लिए यह दलील कि सारे पश्चिमी पाकिस्तान मे वहा के हिदुओ और सिखो के साथ यही बर्ताव किया जा रहा है, गाधीजी को बिलकुल ही स्वीकार नही थी।

गाधीजी के इस उपवास का पाकिस्तान पर कुल मिलाकर बहुत ही अच्छा प्रभाव पडा। पिछले दस वर्षो से लीग और उसके अखबार बराबर यही प्रचार करते चले आ रहे थे कि गाधी इस्लाम का दुश्मन है। इस उपवास से उस सारे प्रचार का भडाफोड हो गया। भारत को भी उनके इस उपवास ने झकझोर दिया। जिस समस्या के समाधान के लिए उन्होने अपने प्राणो की बाजी लगा दी थी उसपर नये सिरे से सोचने के लिए लोग बाध्य हुए। तत्काल कुछ करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जिससे उनके

प्राणो को वचाया जा सके। उनकी प्रेरणा से और सद्भावना-स्वरूप भारत सरकार ने पाकिस्तान को वह पचपन करोड रुपया चुका दिया, जो संयुक्त भारत की परिसपद (असेट्स) मे उसका हिस्सा था, लेकिन काश्मीर-विवाद के कारण रोक लिया गया था। १८ जनवरी, १९४८ को विभिन्न सप्रदायो और दलो के नेताओ ने गाधीजी के समक्ष दिल्ली मे शाति वनाये रखने का जिम्मा लेते हुए एक सयुक्त प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये।

इस उपवास के वाद साप्रदायिक उपद्रवो का जोर बराबर घटता गया। इससे छुट्टी पाकर गाधीजी ने अपना ध्यान दूसरी समस्याओ की ओर लगाया। पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले शरणार्थियो को उन्होने आश्वासन दिया था कि जवतक एक-एक परिवार को अपने जन्म के गाव अथवा शहर मे फिर से न वसा देगे, वह चैन न लेगे, लेकिन पाकिस्तान सरकार की अनुमति के विना अब वह उस देश मे प्रवेश नही कर सकते थे। फिर उनका विचार शीघ्र-से-शीघ्र सेवाग्राम लौट जाने का भी था। इधर कई महीनो से उनकी पूरी शक्ति साप्रदायिक समस्या को हल करने मे लगी हुई थी। बहुत जटिल होते हुए भी हाल ही हुए स्वतत्र देश की प्रगति और उन्नति मे वह एक अवातर प्रसग ही था। भारत की वास्तविक समस्याए थी, यहा के देशवासियो की सामाजिक और आर्थिक उन्नति और यही गाधीजी का असली कार्यक्षेत्र था। सविधान वनाने का काम पूरा हो ही चला था। स्वतत्र भारत की सरकार अथवा सक्रिय राजनीति मे प्रवेश करने का गाधीजी का कोई विचार नही था। वह नई परिस्थितियो मे कुछ नये रचनात्मक काम करना चाहते थे। इसीलिए रचनात्मक काम मे लगे हुए सब सगठनो को एकतावद्ध करने की सभावनाओ पर उन्होने चर्चाए की, जिससे अहिसात्मक समाज-रचना का कार्य ज्यादा सुचारु रूप और सूक्ष्म ढग से किया जा सके।

राजनैतिक स्वाधीनता के वाद मुख्य काम सामाजिक और आर्थिक सुधारो का ही था और इन्हे कार्यान्वित करने के लिए गाधीजी अपनी अहिसात्मक शैली को नये ढग से सभालना चाहते थे।

लेकिन न तो उनका पाकिस्तान जाना वदा था और न रचनात्मक कार्यो को हाथ मे लेना ही। उनकी मृत्यु का पहला सकेत उस समय मिला जव २० जनवरी की शाम को वह विडला-भवन मे अपनी प्रार्थना-सभा को

सबोधित कर रहे थे। एक बम उनपर फेका गया, जिसका उनसे कुछ ही फुट के फासले पर विस्फोट हुआ। उन्होने कोई ध्यान नही दिया और शाति-पूर्वक भाषण देते रहे। दूसरे दिन जब उन्हे विस्फोट के समय निराकुल और निरुद्वेग रहने के उपलक्ष मे बधाइया दी गई तो उन्होने कहा, "सच्ची बधाई के योग्य तो मैं तब हूगा जब विस्फोट का शिकार होकर भी मुस्कराता रहू और हमला करनेवाले के प्रति मेरे मन मे ज़रा-सा भी विद्वेष न हो।" बम फेकनेवाले को उन्होने 'गुमराह जवान' कहा और पुलिस से आग्रह किया कि उसे 'कष्ट' न दिया जाय, प्रेम और धीरज से समझाकर सही मार्ग पर लाने की कोशिश की जाय। जो व्यक्ति पकड़ा गया वह मदनलाल नाम का एक पजाबी शरणार्थी युवक और गाधीजी की हत्या के षडयत्रकारी दल का बाकायदा सदस्य था। इन उत्तेजित जवानो का ऐसा खयाल था कि हिंदू धर्म के लिए इस्लाम बाहरी और गाधी भीतरी खतरा था। जब मदनलाल चूक गया तो दल का दूसरा षडयत्रकारी एक युवक नाथूराम गोडसे पूना से दिल्ली आया। जेब मे भरी पिस्तौल डाले वह बिडला-भवन के आस-पास, जहा गाधीजी की प्रार्थना-सभाए होती थी, मौके की ताक मे मडराता रहा।

अधिकारियो को कुछ शक तो जरूर हो गया था, इसलिए उन्होने निगरानी थोडी कडी कर दी। लेकिन गाधीजी इस बात के लिए राजी न हुए कि उनकी प्रार्थना-सभा मे आनेवालो की पुलिस द्वारा तलाशी ली जाय। उन्होने पुलिस-अधिकारियो से साफ-साफ कह दिया "अगर मरना ही बदा है तो मुझे प्रार्थना-सभा मे ही मरने दो। और यह खयाल बिलकुल गलत है कि आप लोग मेरी रक्षा कर सकते है। मेरा रक्षक तो ईश्वर है।" ३० जनवरी की शाम को वह बिडला-भवन के अपने कमरे से प्रार्थना-सभा की ओर रवाना हुए। कुल जमा दो मिनट का रास्ता था, लेकिन उस दिन सरदार पटेल के साथ चर्चा मे उन्हे कुछ देर हो गई थी। अपनी दो पोतियो आभा और मनु के कधो पर, जिन्हे वे अपनी लकडिया कहा करते थे, हाथ रखे हुए वह तेजी से चल रहे थे। उनको आते देख प्रार्थना-सभा मे आये हुए कोई पाचसौ लोग उन्हे रास्ता देने के लिए इधर-उधर हो गये। कुछ उठ खडे हुए और कुछ ने झुककर उन्हे प्रणाम किया। गाधीजी ने देर हो जाने के लिए खेद प्रकट किया और हाथ जोडकर नमस्कार किया। ठीक उसी

समय गोडसे भीड़ को धकियाता हुआ आगे आया, वह झुका मानो महात्माजी के चरण छू रहा हो और पिस्तौल निकालकर तावड़-तोड़ तीन फैर किये। गांधीजी 'हे राम' कहते हुए वहीं गिर पड़े।

इसे भाग्य की विडम्बना ही कहेंगे कि अहिंसा के पुजारी की ऐसी हिंसक मृत्यु हुई। लगा, जैसे घृणा की अध शक्तियां जीत गई हो, लेकिन वह केवल क्षणिक विजय थी। गांधीजी के हृदय को भेदनेवाली उन गोलियों ने करोड़ों के हृदय भेद दिये। उस घोर अपराध के दुष्कर्म ने निमिष-भर मे साम्प्रदायिक उन्माद की मूर्खता और व्यर्थता को उजागर कर दिया। ३१ जनवरी, १९४८ की शाम को यमुना के किनारे जिन ज्वालाओं ने गांधीजी के भौतिक शरीर भस्मीभूत किया, वे भारत और पाकिस्तान मे अगस्त १९४६ से धधक रही साम्प्रदायिक वैमनस्य की सत्यानाशी आग की अंतिम ज्वालाएं थी। जबतक जिये, गांधीजी उस आग मे बराबर लड़ते रहे। अंत मे उनकी मृत्यु ने ही वह आग शांत हुई।

. ४२ .

उपसंहार

दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पांच वर्ष के अंदर ही गांधीजी भारत के सार्वजनिक जीवन पर पूरी तरह छा गये। १९२० तक अधिकांश प्रमुख राजनैतिक उनके झंडे तले आ गये थे और बाकी किसी गिनती मे ही नहीं थे। ऐसी महान और परिपूर्ण राजनैतिक विजय दुर्लभ ही है। इसे गांधीजी का राजनैतिक चक्रवर्तीत्व ही कहना चाहिए। अगले तीस बरसों मे ऐसे भी कई अवसर आये जब गांधीजी को राजनीति से सन्यास लेते अथवा कांग्रेस से पृथक् होते देख उनके विरोधियों ने उन्हें खारिज मान लिया, लेकिन ये उनके मनोरथ ही थे, जो कभी पूरे न हुए। गांधीजी को जब-जब उचित लगा, वह उसी दम-खम से राजनीति मे पुनः अवतीर्ण हुए और उनका प्रभाव कम होने के बदले बढ़ता गया।

उनके राजनैतिक उत्कर्ष और चिरस्थायी प्रभाव का एक कारण जन-

साधारण पर उनके महात्मापन की छाप भी थी। इस महात्मापन के कारण उनके कष्टो का पार भी न था, खासकर यात्राओके समय वडी असुविधा होती थी, लेकिन एक वडा लाभ यह था कि उनके द्वारा सचालित आदोलनो की सफलता-असफलता के बावजूद उनकी प्रतिष्ठा, प्रभाव और यश अक्षुण्ण बने रहते थे।

इस उत्कर्ष के कुछ अन्य कारण भी थे। दक्षिणी अफ्रीका के सघर्ष ने उन्हे विकसित और जन-आदोलन की दृष्टि से प्रौढ कर दिया था। इग्लैड मे अध्ययन करते समय और भारत मे नई-नई वकालत जमाते वक्त उनमे जो झिझक और शर्मीलापन था, उससे वह मुक्ति पा चुके थे और प्रचड आत्मविश्वास को निरापद शालीनताए एव अत्यधिक विनम्रता से अभिव्यक्त करने की कला सीख चुके थे। उनसे प्रभावित होकर भिन्न रुचि के जिन प्रतिभावान नर-नारियो अपनी जीवन-धारा को बदल डाला था, उनमे सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू जैसे दिग्गज वकील और महान धारासभाशास्त्री प० मदनमोहन मालवीय और देशरत्न बाबू राजेद्रप्रसाद जैसे महापुरुष, सरदार वल्लभभाई पटेल और सी० राजगोपालाचार्य-जैसे घोर यथार्थवादी तो प० जवाहरलाल नेहरू और जयप्रकाश नारायण-जैसे आदर्शवादी भी थे। उन लोगो ने मन-प्राण से अनुभव किया कि उस काल की भाषणबाजी और बमबाजी के बीच हिचकोले खाती हुई भारतीय राजनीति को स्थिरता प्रदान करनेवाला सक्षम और व्यावहारिक विकल्प गाधीजी का अहिसात्मक तरीका ही था। सुख-चैन की जिदगी और व्यावसायिक महत्वाकाक्षाओ से नाता तोड वे महात्माजी के साथ हो लिये और अपने-अपने जीवन का वडा भाग उन्होने रेल या जेल मे विताया। वे गाधीजी के समस्त राजनैतिक और आर्थिक विचारो से सहमत नही थे, उनकी धार्मिक दृष्टि का तो शायद ही किसीने समर्थन किया हो, लेकिन फिर भी सब-के-सब उनकी स्नेह-डोर मे बधे हुए थे—मस्तिष्क से अधिक उनके हृदय गाधीजी से जुडे हुए थे। गाधीजी उनके नेता ही नही, बापू थे—श्रद्धास्पद प्रिय पिता। जनता से प्रगाढ प्यार और काग्रेसी नेताओ से स्नेह-सबध के कारण गाधीजी भारतीय राष्ट्र की एकता के प्रतीक ही बन गये थे और चौथाई शताब्दी तक राष्ट्रीय आदोलन को फूट और विच्छेद के

घातक मार्ग पर भटक जाने से रोके रहे। दूसरे राजनैतिक दलों और विरोधी व्यक्तियों से वह समानता और मैत्री के तत्त्व खोजा करते थे, विरोध और संघर्ष के नहीं। मतभेद रखनेवालों की भर्त्सना या उपहास कभी उनका अभीष्ट नहीं रहा। तीन प्रमुख नरमदली नेता तेजबहादुर सप्रू, एम० आर० जयकर और श्रीनिवास शास्त्री से वह पत्र-व्यवहार, विचार-विनिमय और परामर्श भी करते रहे। इन लोगों की राय की वह कद्र करते थे। श्रीनिवास शास्त्री को उन्होंने लिखा भी था—"आपके सहयोग की अपेक्षा आपकी सचाई का मेरे लिए अधिक महत्त्व है।" लीगी नेताओं से ऐसे संबंध न बन पाने का कारण गांधीजी की ओर से प्रयत्नों का अभाव नहीं था।

गांधीजी की दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का वास्तविक महत्व उसके अहिंसात्मक स्वरूप में निहित था। यदि कांग्रेस ने अहिंसा को नीति और सत्याग्रह को आचरण के रूप में न अपनाया होता तो गांधीजी की स्वाधीनता-आंदोलन में कोई रुचि भी न होती। वह हिंसा का विरोध केवल इसलिए नहीं करते थे कि सशस्त्र क्रांति में निहत्थी जनता के सफल होने की संभावनाएं बहुत कम थीं, बल्कि एक बड़ा कारण यह भी था कि हिंसा के उपयोग से और भी कई जटिल समस्याएं उठ खड़ी होतीं और पारस्परिक घृणा तथा कटुता इतनी अधिक बढ़ जाती, जिसके कारण दोनों का सच्चा मिलन कभी हो ही नहीं पाता।

अहिंसा पर गांधीजी का यह आग्रह उनके अंग्रेज और भारतीय दोनों ही आलोचकों को समान रूप से खलता था, यद्यपि दोनों के भिन्न-भिन्न कारण थे। अंग्रेज उनकी अहिंसा को धोखा और छल समझते थे, भारतीय आलोचक उसे निरी भावुकता। अंग्रेज भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को यूरोपीय इतिहास की दृष्टि से देखने के अभ्यस्त थे, इसलिए उन्हें अहिंसा की बात सच नहीं लगती थी और इसलिए आंदोलन की छिटपुट हिंसात्मक कार्रवाइयां तो तुरंत उनके ध्यान में आ जाती थीं, परंतु उसका वास्तविक शांत स्वरूप वे देख नहीं पाते थे। भारत के उग्र राजनीतिज्ञ फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों के एवं इतालवी और आयरी स्वाधीनता-संग्रामों के इतिहासों को घोटे बैठे थे, उन इतिहासों का कहना था कि हिंसा का मुका-

बला हिंसा से ही किया जा सकता है, काटे को काटे से ही निकाला जा सकता है, और हाथ आये राजनैतिक अवसर को नैतिक कारणो से छोड देना उनके मत से निरी मूर्खता ही थी।

मुश्किल यह थी कि गाधीजी के आलोचक उनके अहिंसात्मक आदोलनो को हिंसात्मक सघर्षो की कसौटी पर कसकर गुण-दोषो को परखा करते थे, जबकि सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी को 'कुचलना' अथवा किसी खास मामले मे 'जीत हासिल' करना नही, केवल हृदय-परिवर्तन करनेवाली शक्तियो को सक्रिय कर देना होता था। ऐसे रणकौशल मे लडनेवाला हर मोर्चे पर मात खाता हुआ भी युद्ध मे विजयी हो सकता था और गाधीजी होते भी रहे थे। सत्याग्रह-आदोलन के उद्देश्य को उसकी सफलता-विफलता या उसमे होनेवाली हार-जीत से नापना उचित भी नही है, वहा तो दोनो पक्षो के लिए एकमात्र सम्मानपूर्ण समझौते का ही महत्व है।

वास्तव मे गाधीजी के नेतृत्व मे लडी जानेवाली भारतीय स्वाधीनता की लडाई नैतिक, या कह सकते है कि मनोवैज्ञानिक, आधार पर ही लडी गई थी। जनवरी १९२० मे महात्माजी ने लिखा था—"अत्यत प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी दूसरो की अपेक्षा अग्रेजो को समझा-बुझाकर सही काम करने के लिए राजी कर लेना मैंने हमेशा आसान पाया।" और अग्रेजो का ही नही, भारतीयो का भी हृदय-परिवर्तन आवश्यक था। भारत मे ब्रिटिश राज्य के बारे मे गाधीजी ने बहुत कडी बाते कही थी, लेकिन भारत को विभाजित और खोखला करनेवाली कुरीतियो के बारे मे तो उन्होने और भी कडी बाते कही।

१९४७ मे सत्ता के हस्तातरण के कई राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय कारण थे—देश और दुनिया के अगणित बलो ने अपना काम किया था, लेकिन अग्रेजो के हटने का जो समय और तरीका था, उसपर गाधीजी के पिछले पच्चीस वर्षो के कार्यो और विचारो का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। थोडी गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि तीनो देश-व्यापी सत्याग्रह-आदोलनो मे—१९२०-२२ १९३०-३२ और १९४०-४२ दस-दस वर्ष का अतर रखकर गाधीजी ने हर बार अग्रेजो को सोचने का और हृदय-परिवर्तन का काफी अवसर दिया था, और यही उनका मुख्य

प्रयोजन भी था। परिणाम यह हुआ कि १६४८ में जहां भारतीयों ने छुट-कारे की सांस ली, वहीं भारत-स्थित अंग्रेजों ने भी पहली बार सही अर्थों में स्वतन्त्रता का अनुभव किया।

यों तो विश्व के सम्मुख उनका प्रमुख रूप भारत के राजनैतिक मुक्ति-दाता और उद्धारक का ही है, लेकिन वास्तव में देखा जाय तो गांधीजी का मुख्य क्षेत्र राजनीति नहीं, धर्म ही था। अपनी 'आत्मकथा' की प्रस्तावना में उन्होंने कहा भी है—'मेरा कर्तव्य तो, जिसके लिए मैं तीस वर्ष से भीज रहा हूं, आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी क्रियाएं इसी दृष्टि से होती हैं। मेरा सारा लेखन इसी दृष्टि से है और मेरा राजनैतिक क्षेत्र में आना भी इसी वस्तु के अधीन है।" धर्म और अध्यात्म ही उनका मुख्य प्रयोजन था। एक राजनैतिक शिष्टमंडल में उन्हें देखकर तत्कालीन भारत-मंत्री माटेगू ने कहा था, "आप, एक समाज-सुधारक, इन लोगों के साथ कैसे ?"

तब गांधीजी ने स्पष्टीकरण किया था कि उनकी राजनैतिक गतिविधि उनके सामाजिक कार्यों का ही विस्तारित रूप है—"सारी मानव-जाति से अभिन्नता ही मेरा धर्म है और मेरी राजनैतिक गति-विधि उस धर्म पर आचरण करने का तरीका। मनुष्य की गति-विधियों के क्षेत्र को आज विभा-जित नहीं किया जा सकता और न उसके सामाजिक, आर्थिक एवं शुद्ध धार्मिक कार्यों को एक दूसरे से विभक्त करनेवाली स्पष्ट सीमा-रेखाएं ही खींची जा सकती हैं।" मानवी क्रिया-कलापों के अतिरिक्त किसी धर्म को वह जानते नहीं थे। उनका कहना था कि धर्म और अध्यात्म का कोई सर्वथा निराला क्षेत्र नहीं होता, जीवन के सामान्य कार्यों के ही द्वारा उनकी निर-तर अभिव्यक्ति होती रहती है। सच्चे धर्म का पालन करने के लिए किसी को न तो हिमालय में जाने की जरूरत है न सन्यास लेने की, न आश्रम न रहने की और न किसी सम्प्रदाय-विशेष को अपनाने की।

लेकिन राजनीति और धर्म का, सदाचार और नीति का कुछ इस तरह पृथक्करण कर दिया गया है कि दोनों को मिलाना अधिकांश लोगों को सह्य नहीं होता। सत्य, दया और प्रेम आदि सद्गुण केवल पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रों में ही आचरण के उपयुक्त समझे जाते हैं। राजनीति

मे केवल उपयुक्तता और वाछनीयता को ही प्रयोजनीय माना जाता है। गाधीजी का सपूर्ण कृतित्व इस द्वैध आचरण के प्रति जीवत विद्रोह था। उन्होने धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष को कभी एक-दूसरे से विच्छिन्न नही किया। राजनीति से उनका लगाव सिर्फ इसलिए था, क्योकि वह सत्याग्रह के द्वारा उसमे धर्म का समावेश धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा करना चाहते थे। पश्चिमी विद्वानो ने अनेक बार जानना चाहा था कि गाधीजी सत है अथवा राजनीतिज्ञ ? वह सत ही थे—ऐसे महात्मा, जिसके महात्मापन को राजनीति मे आने मे कोई क्षति नही पहुचती थी।

स्वय गाधीजी सत-महात्मा आदि शब्दो को बडा ऊचा और पवित्र मानते थे और अपनेको उस पद के उपयुक्त नही समझते थे। वह तो 'सत्य के विनम्र शोधक' थे, जिसे 'महान ज्योति की एक मामूली-सी किरण' ही मिल पाई थी। उनके कथनानुसार वह जीवन के शाश्वत सत्यो का प्रयोग कर रहे थे, लेकिन फिर भी समाजशास्त्री और वैज्ञानिक होने का दावा नही कर सकते थे, क्योकि न तो वह अपने तरीको की वैज्ञानिकता के सबध मे कोई ठोस और स्थायी प्रमाण ही प्रस्तुत कर सकते थे और न आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगो की तरह के कोई निश्चित ठोस परिणाम ही। भूल और गलती न करने का उनका कोई दावा नही था, यहातक कि अपनी भूले दुनिया मे छिपाते भी नही थे। जब कभी वह यह कहते कि "ईश्वर ने मुझे यह करने या वह करने का आदेश दिया है" तो उनका यह अभिप्राय कदापि न होता था कि ईश्वर ने अपने सदेश के माध्यम के रूप मे केवल उन्हीका विशेष रूप से चुनाव किया है। उनका कहना था कि "मेरा तो ऐसा दृढ विश्वास है कि वह सभीको सदेश देता है, हमी अतरात्मा की उस क्षीण आवाज को नही सुनते, कान बहरे कर लेते है।" जब किसीने उन्हे भगवान कृष्ण का अवतार बताया तो वह अत्यत व्यथित हो गये और बोले, "इससे बडे पाप और धर्मद्रोह की तो मै कल्पना भी नही कर सकता।" जब उनके भक्तगण प्रशसा मे औचित्य का सीमोल्लघन करने लगते तो वह तुरत उन्हे वही-का-वही रोक दिया करते थे और बुरी तरह फटकारते भी थे। एक बार यात्रा करते हुए किसी गाव मे पहुचे तो ग्रामीणो ने कहा कि आपके शुभागमन का कैसा पुण्य फला कि हमारा सूखा कुआ लबालब भर गया। गाधी-

जी ने उन्हे फटकारा, "यह मूर्खता ही है न। चमत्कार-समझना कुछ नहीं, निरा संयोग ही समझना चाहिए। भगवान तक मेरी भी उतनी ही पहुंच है जितनी तुम्हारी। मान लो कि ताड़ का पेड़ गिरने ही वाला हो और कौआ उसपर बैठ जाय तो क्या तुम यह कहोगे कि उसके बोझ से पेड़ गिर गया ?"

विनम्रता उनका सहज-स्वाभाविक गुण था—आत्मसंयम के लिए बाल्यकाल से मृत्युपर्यन्त उनके सतत सघर्ष का नैसर्गिक प्रतिफलन, केवल दिखावे के लिए ऊपर से ओढ़ी हुई व्यवहार-कुशलता नहीं। महादेवभाई ने एक बार लिखा भी था—"बाह्य विरोधी की अपेक्षा अपने अंतर के विरोधी से उनका सघर्ष कहीं कड़ा और निर्मम होता है।" उन्होंने अपने-आपको हमेशा औसत से भी कम योग्यता का अति साधारण व्यक्ति ही माना। उन्होंने कहा भी था—"मैं मंजूर करता हूं कि मेरी बुद्धि बहुत कुशाग्र नहीं है, लेकिन मैं इसकी चिंता नहीं करता। बुद्धि के विकास की तो सीमा है, परंतु दिल के विकास की कोई सीमा नहीं होती।" बुद्धि पर हृदय की श्रेष्ठता की बात कहकर और अपने-आपको औसत से भी कम बुद्धि का व्यक्ति बतलाकर गांधीजी केवल अपनी बौद्धिक प्रखरता से इनकार ही कर रहे थे। किताबी पढ़ाई को वह अधिक महत्व नहीं देते थे, लेकिन अपनी बार-बार की जेल-यात्राओं मे उन्होंने सब मिलाकर बहुत सी किताबें पढ़ीं और उस पढ़ाई का सदुपयोग भी किया। उनकी 'आत्मकथा' और 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' उनकी तीव्र स्मरण-शक्ति के प्रमाण हैं और उनके सहयोगी और विरोधी दोनों ही उनकी बौद्धिक प्रखरता के गवाह। लेकिन यह भी सच है कि एक सीमा के बाद वह बुद्धि के नियंत्रण की अपेक्षा हृदय के नियंत्रण को ही शुभ और श्रेष्ठ मानते थे। गांधीजी जिस सत्य की शोध मे लगे हुए थे वह स्थिर, गतिहीन सत्य नहीं, सतत गतिशील और प्राणवान सत्य था, जो अपने अनेकविध रूपों को निरंतर उद्घाटित करता रहता था। विसंगतियों का आरोप लगानेवालों को उनका यह करारा जवाब हुआ करता था कि मेरी संगति सत्य के साथ है, भूत काल के साथ नहीं। नये प्रयोगों के अनुरूप वह अपने विचारों में परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन करते रहते थे, यहांतक कि उनकी दैनिक प्रार्थनाएं भी सतत विकासमान थीं। दक्षिण अफ्रीका मे उनकी दैनिक प्रार्थ-

नाए हिंदू और ईसाई धर्म-ग्रथो के पाठ से आरभ हुई थी, धीरे-धीरे उनमे जिदअवेस्ता, कुरान, बौद्ध और जापानी धर्म-ग्रथो के उपदेशो और भजनो का समावेश होता चला गया। नौआखाली यात्रा के समय उन्होने बगाली भाषा सीखना शुरू किया था, जिससे दगा-पीडित बगालियो की ज्यादा अच्छी सेवा कर सके और अपनी मृत्यु के कुछ ही घटे पहल बगाली का अपना अतिम पाठ लिखकर पूरा किया था। वह जीवन-भर विद्यार्थियो की विनम्रता और लगन को बनाये रहे।

हर विपय पर वह अपने विचारो को निरतर विकसित और परिष्कृत करते थे, इसलिए जाति, मशीने, खादी आदि पर उनकी पहले कही हुई बातो मे विसगतिया और विरोधाभास ढूढ निकालना बहुत आसान था। आज के प्रचार-युग मे उनका हर शब्द और सकेत जन-सामान्य की सपत्ति हो जाया करता था, लेकिन इस तथ्य को जानते हुए भी, वह कोई बात, यहातक कि सपने मे उदित हुआ विचार भी, अपने ही तक नही रखते थे, सब-कुछ जग-जाहिर कर दिया करते थे। टाल्स्टाय के बारे मे उन्होने इस सबध मे जो कुछ लिखा था, वह स्वय उनके अपने लिए भी उतना ही था। "टाल्स्टाय के विचारो की कथित विसगतिया उनके सतत विकास और सत्य की शोध के सबध मे उनकी तीव्र उत्कठा का ही सकेत थी। सतत विकासशील विचार-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उनकी पुरानी मान्यताए पिछड जाती थी और वर्तमान की स्थापनाओ से असगत प्रतीत होने लगती थी। उनकी विफलताओ को सारी दुनिया जान जाती थी, वह जग-जाहिर होती थी। उनके सघर्प और सफलताए सिर्फ उन्हीतक रहती थी, उनकी अपनी होती थी।"

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक अवसर पर गाधीजी के बारे मे कहा था और ठीक ही कहा था कि "वह विचारो से नही, मनुष्यो से प्रेम करते" हैं। गाधीजी हर समस्या को नैतिक परिप्रेक्ष्य मे देखना पसद करते थे, परन्तु अपने विचार उन्होने कभी किसीपर थोपे नही। उन्होने तो लोगो को यहातक सचेत कर दिया था कि "कहनेवाला महात्मा ही क्यो न हो, किसी भी बात को ध्रुव सत्य मत समझो।" 'हिंद स्वराज्य' मे उन्होने आधुनिक सभ्यता और उसकी उपज स्कूल, रेलवे, अस्पताल आदि की

कड़ी निंदा की, लेकिन इन विचारों को अपने अनुयायियों पर थोपने की कभी ज़रा-सी भी कोशिश नहीं की। स्वयं घुटनों तक की लुंगी पहनते थे, परन्तु यह आग्रह कभी नहीं रहा कि सभी वैसी ही लुंगी पहनें। आगाथा हैरीसन को रोज चाय की बुराइयां बताते थे, लेकिन जब भी वह उनके साथ यात्रा में होतीं, दुपहर ढले ठीक चार बजे बिलानागा उनको चाय पिलाई जाती थी। दुनिया-भर के कामों में फंसे रहने के बावजूद देश और विदेश के हजारों लोगों को, जो उनसे मिलने जाते या पत्र-व्यवहार करते थे, अपना स्नेह और सौजन्य देने में उन्होंने कभी कोताही नहीं की। लघुतमों, विपन्नों और दीन-हीनों से तादात्म्य ही उनकी एकमात्र महत्वाकांक्षा रही। नहाते, समय वह साबुन की जगह पत्थर से अपना शरीर मलते थे, चिट्टियों और पुर्जों पर पत्र लिखते थे, पेंसिल के इतने छोटे टुकड़ों का इस्तेमाल करते जिन्हें अंगुलियों में थामना भी मुश्किल होता था, देशी उस्तरे से खुद हजामत बनाते और टीन या लकड़ी के कटोरे में लकड़ी की चम्मच से खाना खाते थे। यह फकीरी उनकी अन्त वृत्ति के अनुरूप तो थी ही, उन्हें देश के उन करोड़ों गरीबों के समकक्ष भी बनाती थी, जिनकी गरीबी और तबाही एक क्षण के भी लिए उन्हें चैन न लेने देती थी। स्वेच्छा से अपनाई हुई यह गरीबी ही उनके समस्त राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाकलापों की प्रेरक शक्ति थी। गरीबी के इस बाने के ही कारण भारतीय जनता पर उनका इतना प्रभाव और शहर के बुद्धिजीवियों से कभी-कभी इतना विलगाव और पार्थक्य हो जाया करता था।

स्वेच्छा से अपनाई हुई गरीबी और त्याग ने गांधीजी को गुरु-गंभीर बना दिया हो, या उनकी स्वभावगत विनोदशीलता को मार दिया हो, सो बात भी नहीं। उनमें बच्चों-जैसी ही प्रफुल्लता और विनोदशीलता थी। जो भी मिलने जाता, उससे हंसी-मजाक की दो-एक बातें वह अवश्य करते थे। एक बार मिलने के लिए आई हुई किसी महिला ने उनसे पूछा था—"आप खीझने-झुंझलाते तो नहीं ?" "यह तो आप श्रीमती गांधी से पूछिये।" उन्होंने तपाक से उत्तर दिया था, "वह यही कहेंगी कि उनके अलावा मैं सारी दुनिया से बहुत अच्छी तरह पेश आता हूं।" 'मेरे पति तो मुझसे बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं।" उस महिला ने कहा था। इस नहले पर

गाधीजी ने फौरन दहला मारा, "ओह, मै समझ गया, उन्होने आपको जरूर तगडी रिश्वत दी है।" यह पूछे जाने पर कि आप शराब पीनेवालो पर इतने अनुदार क्यो हैं, उन्होने जवाब दिया था, "क्योकि मैं इस पाप का परिणाम भुगतनेवालो के प्रति उदार (दयावान) हू।" एक मल्लाह से गाधीजी ने पूछा था, "आपके कितने बच्चे है ?" "जी साहब, आठ—चार बेटे और चार बेटिया।" इसपर गाधीजी ने कहा था—"मेरे चार बेटे है, इस नाते आपसे बराबरी का तो नही पर आधा मुकाबला अवश्य कर सकता हू।" बुरी-से-बुरी स्थिति मे भी वह हँसी-मजाक की कोई-न-कोई बात खोज ही लिया करते थे। सितबर, १६३२ मे जब हिंदू नेता उनके आमरण अनशन के समय यरवदा-जेल मे मिलने के लिए गये तो सबके बीच मे बैठते हुए उन्होने किलककर कहा था, "मैं अध्यक्षता करता हू।"

मानवी सबधो मे अहिंसा को नियोजित करने और उसे परिपूर्णता देने मे गाधीजी ने अपना सारा जीवन खपा दिया था। अमरीका और यूरोप की यात्राओ के निमत्रण उन्होने कई बार इसीलिए अस्वीकार कर दिये कि जबतक भारत मे सफल उदाहरण प्रस्तुत नही कर दिया जाता, विदेशो मे जाकर अहिसा का उपदेश देना अनुपयुक्त ही होता। लेकिन जब भारत और इग्लैड के सबधो को, गाधीजी की ही उत्प्रेरणा के अनुरूप, समाम स्तर पर प्रस्थापित करने का समय आया और देश मे रक्तहीन क्राति होने को ही थी तो भारत साप्रदायिक उन्माद और खून-खच्चर के दुष्चक्र मे फस गया। राष्ट्रीय एकता के जिस महल का उन्होने इतने परिश्रम से निर्माण किया था और प्राणपण से जिसकी रक्षा की थी, उसे अपनी आखो के सामने ढहकर टूटते हुए भी देखा। हिसा के उन्माद को शाति की निर्मल धाराओ मे प्रवाहित करने का प्रयत्न और सघर्ष तो उन्होने किया, परतु साथ ही जीवन-कार्य के विफल हो जाने की व्यथा से व्याकुल भी होते रहे। उनकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता मे कोई कमी नही हुई। स्वतत्रता के उपरात वह 'राष्ट्रपिता' के विरुद से विभूषित किये गए। शासन-सूत्र सभालनेवाले नेताओ ने उन्हे सम्मानाजलि समर्पित की। उनकी सभाओ मे अब भी हजारो की सख्या मे जनता जुटकर 'महात्मा गाधी की जय' के नारे लगाती थी। अपनी जय बोले जाने से पीडा तो उन्हे हमेशा ही होती रही थी, अब तो

जैसे दिन पर छुरियां ही चलने लगी। जब भारत के कई हिस्सों में हिंसा और भय व्याप्त हो तो उनकी जय कहां से हो सकती थी ! इस दारुण दुःख की जड़ें कुछ तो भारत के सम-सामयिक इतिहास में और कुछ पाकिस्तान के हेतु धर्म को आधार बनाकर किये गए राजनैतिक आंदोलन में पनप रही थीं और जिसने कुछ समय के लिए मनुष्य-मात्र को विक्षिप्त कर दिया था। ऐसे समय में भी अपनी अहिंसात्मक कार्य-पद्धति की दो महान सफलताओं को गांधीजी ने स्वयं अपनी आंखों देखा—कलकत्ता और दिल्ली में उनके उपवासों के परिणाम-स्वरूप शांति स्थापित हुई और उनकी मृत्यु ने वह किया, जिसके लिए वह जीवन के अंतिम क्षण तक प्रयत्नशील थे—उप-महाद्वीपीय विस्तार के हिंदी-पाकिस्तान के इंसानों का पागलपन दूर हुआ और उनकी इंसानी समझ लौट आई।

लेकिन गांधीजी के निकट अहिंसा का मूल्य और महत्त्व उनकी अपनी सफलता विफलता में भी बंधा हुआ नहीं था—वह तो व्यक्ति की हार-जीत से सर्वथा निरपेक्ष और चिरंतन था। 'हिंद स्वराज्य' में उन्होंने पश्चिमी भौतिकवाद और सैन्यवाद की आलोचना प्रथम महायुद्ध के छः वर्ष पूर्व, जब यूरोप शक्ति और प्रतिष्ठा के शिखर पर था, की थी। पचास वर्ष पूर्व उनके ये विचार कइयों को शेखचिल्लीपन लगे थे, लेकिन आज तृतीय महायुद्ध के भय से विकंपित विश्व के लिए तो वे ऋषि की मंत्रदृष्टि ही हैं। आध्यात्मिक मूल्यों का विध्वंस करनेवाली भौतिक प्रगति की अव-हेलना और हिंसा का स्थायी रूप से परित्याग कर गांधीजी ने बीसवीं शताब्दी की दो प्रमुख विचारधाराओं, पूंजीवाद एवं साम्यवाद, से ठीक विपरीत दिशा में जानेवाले मार्ग का अवलंबन किया। उन्होंने एक ऐसे समाज की परिकल्पना और उसके लिए कार्य भी किया, जिसमें जन-समुदाय की अपरिहार्य आवश्यकताएं पूरी होंगी (उससे अधिक नहीं) और जहां अर्थव्यवस्था एवं राजनैतिक तंत्र के विकेंद्रीकरण के परिणाम स्वरूप आंत-रिक शोषण तथा बाह्य संघर्षों का कोई भय अथवा आशंका नहीं रह जायगी। गांधीजी के विचारानुसार ऐसी समाज-व्यवस्था में बल-प्रयोग पर आधारित आधुनिक राज-तंत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा समाज आंतरिक व्यवस्था के ही लिए नहीं, बाह्य आक्रमण से अपनी सुरक्षा

के लिए भी अहिसात्मक पद्धति पर निर्भर कर सकता है।

पता नही, गाधीजी का यह स्वप्न कभी सच भी होगा या नही। कम-से कम आज तो कह पाना मुश्किल ही है। राष्ट्र भी, व्यक्तियो की भाति, बधी लीक पर चल पाने का लोभ सवरण नही कर पाते, चाहे वह पिटा हुआ रास्ता उन्हे वद गली मे ही क्यो न पहुचा दे। अहिसा के स्वप्न को वास्त-विकताओ के ससार मे चरितार्थ करने की कठिनाइयो से गाधीजी खूब अवगत थे। लेकिन सिद्धातो के मामले मे, मूल प्रस्थापनाओ के प्रश्न पर, समझौता करने को वह कभी तैयार न थे। अत तक वह साध्य और साधन, दोनो की पवित्रता पर समान रूप से जोर देते रहे। अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बुरे उपायो का अवलवन उन्हे कभी स्वीकार न हुआ। वह सदैव इसी बात पर जोर देते रहे कि भय, लोभ और अहकार हमारे सबसे बडे शत्रु है। दूसरो को बदलने से पहले हमे अपने-आपको बदलना चाहिए। सत्य, प्रेम और उदारता के पारिवारिक नियम, समूहो, समुदायो और राष्ट्रो पर भी समान रूप से लागू होते है और सबसे बडी बात तो यह कि "जिस प्रकार पशुओ के लिए हिंसा का नियम और नीति है उसी प्रकार अहिसा का नियम और नीति हम मानवो के लिए है।" राष्ट्रो के भाग्य-नियताओ को गाधीजी के ये विचार स्पृहणीय होते हुए भी दुर्लभ और दूरगामी आदर्श प्रतीत हो सकते है, लेकिन अणु-परमाणु अस्त्रो के इस सहारक युग मे यदि मानवता को जीवित रहना है, सभ्यता को क्षत-विक्षत मास के लोथडो और पिघले सीसे मे परिवर्तित होने से बचाना है तो गाधी-विचारधारा की तात्कालिक प्रासगिकता निर्विवाद है।

•

अनुक्रमणिका

अजुमन इस्लामिया १९
'अटु दिस लास्ट' ('सर्वोदय') ६६ ६७
अबालाल साराभाई १२५, १३०
अम्बेडकर डॉ० २५०
असारी, डॉ० १९७, २२१
अखिल भारत ग्रामोद्योग सघ २५९, २६३
अखिल भारत चर्खा सघ २३८, २५९
अखिल भारत ट्रेड यूनियन काग्रेस १९३
अगस्त (१९४०) घोषणा २९६-९७
अगस्त (१९४२) आदोलन (भारत छोडो) ३०९-३१४
अजमल खा, हकीम १४२
अदन १४
अब्दुर्रहीम १९
अब्दुल्ला (सेठ) २६-२७, ३०-३३, ४७
अबीसीनिया २८९
'अलहिलाल' १४२
अली-बधु (मोहम्मद अली, शौकत अली, मौलाना) ११५-१६, १४१, १४३, १६४, १६६, १८०, १८६
अलेक्जेंडर, पुलिस सुपरिंटेंडेंट ५०,—की पत्नी ५०
अलेक्जेंडर, मि० ३२६
अलेक्जेंडर, होरेस ३२७
असहयोग (सत्याग्रह) आदोलन १५१-१७७
असहयोग के विचार की उत्पत्ति १४२
असहयोग कार्यक्रम की काग्रेस द्वारा स्वीकृति १८३,
अहमदाबाद १०२, १२५, २१२, २१३, २७७—के मिल-मजदूरो का सघर्ष १२५-२७
आक्सफोर्ड २१, २३०
आगा खा महल ३१०, ३१४, ३१६-१७
आजाद, मौलाना अबुल कलाम ११५-१६, १४२, १६६, ३१०, ३४३
आज़ाद हिंद फौज का मुकदमा ३२६
आयगार, श्रीनिवास १९०
आर्नोल्ड, सर एडविन १८, ५७
'आर्यन पाथ' २९०—९१
आलकाट ११०

'इग्लिशमैन' ४६-४७
'इडियन ओपिनियन' ६७, ७६, ७८, ८२, ८५, ८८, ११४, १४७
इडियन एग्लिकन मिशन ५२
इकबाल ११५
इमाम साहब २१५

इर्विन, लार्ड १९४, २०३-०५,२०७, २१७-२१, २२३ २४२, २७१
इलाहाबाद २१४, २१६,२३५,२९८,
ईसा मसीह २३२
ईस्ट इडिया कपनी १४५

उका ६, २४६

एडरमन जान ३०१
एडरूज, सी० एफ० ९४, १०६, १३८ १७२, १८६, २४७
एपायर नाटकशाला ७४, ७५, ७८
एक्ट (१९३५) गवर्नमेट ऑव इडिया २९१
एकता (दिल्ली) सम्मेलन १८६
एकादश व्रत १०३-०६
एटली, क्लीमेट १९८, ३०१, ३२७, ३२९, ३३८, ३४२
एडवर्ड, युवराज १६५
एमरी २९९, ३०१, ३२४
एल्गिन, लार्ड ११२
एल्फिस्टन, माउट स्टार्ट १०७
एस्कम्ब, हैरी ४८-४९

ओटोमान (तुर्क) साम्राज्य ११५,१४३
ओडायर, सर माइकेल १३७
औरेज फ्री स्टेट ३०, ३२, ४२-४३

कर-बदी आदोलन २३९
कराडी २१५
कलकत्ता ४४, ४६, १०२,—मे साप्रदायिक दगा ३३२-३३, ३४५, ३४७,—मे विदेशी कपडो की होली २०१-०२
कर्जन, लार्ड ११२-१३
कर्टिस, लायनल ४३, ७०
क्वेकर लोग ५८-५९, ९७
काग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय ३४,३६, —कलकत्ता - अधिवेशन ५४, ७४,—रगभेद के विरोध मे प्रस्ताव ७४,—पहला जलसा १०७,१११ —गरम और नरम दल का सघर्ष ११३, —कलकत्ता (१९०६) अधिवेशन ११३, —सूरत-अधिवेशन ११३,— लखनऊ - अधिवेशन ११९,— कलकत्ता (१९१६) अधिवेशन १२१,—अमृतसर (१९१९) अधिवेशन १४०, —नागपुर (१९२०) अधिवेशन १५३, १५६ १५७, —कलकत्ता (१९२०) अधिवेशन १५५, —अहमदाबाद (१९२१) अधिवेशन १६६,—महासमिति की बैठक (१९२२) दिल्ली मे १६६, —गया (१९२२) अधिवेशन १७९, —बेलगाम (१९२४) अधिवेशन १८२,—गौहाटी (१९२६) अधिवेशन १९९,—मदरास (१९२७) अधिवेशन १९९,— कलकत्ता (१९२८) अधिवेशन १९९-२००,—अमृतसर (१९२९) अधिवेशन २०७,—दिल्ली (१९३२) अधिवेशन २४०, —का चुनाव - घोषणा-पत्र २७३,—पदग्रहण २७४,—बबई (१९३४) अधिवेशन २५९,— फैजपुर, हरिपुरा, त्रिपुरी-अधि

वेगन २६४,—द्वारा पद-ग्रहण २७०,—कार्य-समिति की वर्धा (१४ जुलाई १९४२) बैठक ३०६,—महासमिति की बंबई (७ अगस्त १९४२) बैठक ३०६,—सरकार से समझौता-वार्ता ३२०-२८,—की अंतरिम सरकार ३३१,—द्वारा विभाजन स्वीकार ३४३-४४
कॉट, डा० वेस्ट १८३
काठियावाड़ १, २, १०, २५
कार्टराइट, मि० अलबर्ट ८०, ८२
कार्लाइल ६०
किचलू, डॉ० सैफुद्दीन २०८
किपलिंग १८७ २७१
क्रिप्स, सर स्टेफर्ड ३०१-०५ ३२७ योजना और समझौता वार्ता ३०२-०६, ३२०-२१, ३२५
कुंजरू, पं० हृदयनाथ १९४
कुतियाणा २
कुरान ६०
कूपलैंड, प्रोफेसर २३०
कूरलैंड ४७
कृपालानी, सुचेता ३३४
केबिनेट मिशन (योजना) ३२७-२८, ३३१, ३३७
केलकर, एन० सी० १५७, २५०
केलनबैक ८६-८७
केसरी ११३
कैम्ब्रिज २१
कैनिंग, लार्ड १०८
'केप टाइम्स' ४३
केपटाउन ८६
कोल, जी० डी० एच० २६०
क्रूगर, ट्रान्सवाल का प्रेसिडेंट ४२
कैडाक, सर रेजिनाल्ड ११८ १२१
कनाड्व २७१

खाँ, अब्दुल गफ्फार २३५
खाँ, लियाकत अली ३३७
खापर्डे १२६
खिलाफत १४२-४३, १४९, १५१ १५६, १६३, १६४
खीमाजी, राणा २-३
खेड़ा जिला किसान सत्याग्रह १२७-२८
खेर, बी० जी० २१४
गांधी, आभा ३३८, ३५२
गांधी, उत्तमचंद २-४, १२
गांधी, कनु ३३८
—गांधी, करमचंद २-४, ७, १०, ५६
गांधी, कस्तूरबाई (बा), विवाह ८,—बापू के साथ नेटाल-यात्रा ४७-४९—त्यागमय जीवन ६३, ६४, ६८,—सत्याग्रह और जेल ९०,—सद्रूक की चोरी १०५,—आश्रम-जीवन में स्थान १०५,—गांधीजी से दूध लेने का आग्रह १३१—बिहार में ग्राम-सुधार-कार्य में गांधीजी की सहायता १४८,—अंतिम बीमारी और मृत्यु ३१६-१७
गांधी, देवदास ११५, २३१
गांधी, मोहनदास करमचंद (मोहनिया, बापू, महात्माजी, गांधीजी) जन्म ४,—बचपन १-११,—विवाह ८—मैट्रिक करना ११,—माता से प्रतिज्ञा

१३—इग्लेड-यात्रा १२-१४,—अग्रेजी तौर-तरीको को अपनाना १६-१७, शाकाहार और धर्म-अभिमुखता १७-२०, आहार के प्रयोग और सादगी १८, कानून की पढाई और परीक्षा २१, ववई मे वकालत और विफलता २३-२४, पोलिटिकल एजेट से झगडा और दक्षिण अफ्रीका को प्रस्थान २५-२६, डरवन से प्रिटोरिया की विधि-निर्मित यात्रा २७-२८, नेटाल के भारतीय प्रवासी के अधिकारो की रक्षा के प्रयत्न २९-३०, ३२-४३, वकालत का सही दृष्टिकोण ३०-३१, भारत यात्रा ४४-४६, डरबन के गोरो का विरोध और आक्रमण ४८-५१, बोअर-युद्ध मे भारतीय एवुलेम दल का नेतृत्व ५०-५३, भारत-यात्रा और रग-भेद के खिलाफ आदोलन के सचालन के लिए पुन दक्षिण अफ्रीका को प्रस्थान ५४-५६, धार्मिक जिज्ञासा ५६-६३, विचारो और रहन-सहन मे परिवर्तन एव फिनिक्स-वस्ती की स्थापना ६३-७०, ट्रासवाल के पजीयन कानून का विरोध ७२-७६, सत्याग्रह की खोज और पहला सत्याग्रह ७६-७९, पहली गिरफ्तारी ७९, जनरल स्मट्स से समझौता ८०, पठान द्वारा साघातिक हमला ८१, दूसरा सत्याग्रह आदोलन ८२-८४, इग्लैड की असफल-यात्रा ८५, टाल्स्टाय-फार्म की स्थापना ८६-८८, गोखले की दक्षिण अफ्रीका-यात्रा मे साथ ८९, सत्याग्रह का आखिरी दौर ९०-९२ गिरफ्तारी और जेल ९२-९३, जनरल स्मट्स से समझौता ९४, दक्षिण अफ्रीका का चरित्र, विचारो और कार्यपद्धति पर प्रभाव ९५-९९, भारत लौटना और सक्रिय राजनीति से पृथक् रहना १००-०२, अहमदाबाद के निकट सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना और एकादश व्रत १०२-०६, देश की तत्कालीन राजनैतिक अवस्था ११५-१६, होमरूल-आदोलन के प्रति दृष्टिकोण ११७-२०, चपारन के किसानो को सहायता १२१-२५, अहमदाबाद के मिल-मजदूरो की हडताल का नेतृत्व १२५-२७, खेडा जिले के किसान-सघर्ष का नेतृत्व १२७-२८, प्रथम महायुद्ध के प्रति दृष्टिकोण और रगरूट भर्ती का कार्य १२८-३०, भीषण बीमारी १३१, रौलट बिलो का विरोध १३२-३६, पजाब का हत्याकाड और काग्रेस द्वारा स्थापित गैर-सरकारी जाच-समिति मे नियुक्ति १३६-३९, ब्रिटिश शासन को सहयोग देने के विचारो मे मौलिक परिवर्तन १४०, १४५-५१, खिलाफत-आदोलन का नेतृत्व १४१-४३, अहिंसात्मक असहयोग का कार्यक्रम

१५१-५६, काग्रेस द्वारा असहयोग आदोलन पर स्वीकृति की मुहर १५७, प्रसिद्धि और लोकप्रियता का रहस्य १५७-५६, गिरफ्तारी के सबध मे सरकारी विचार-विमर्श १६१-६३, सविनय अवज्ञा आदोलन की योजना १६६-६७, चौरीचौरा की प्रतिक्रिया १५८-१७३, गिरफ्तारी, मुकदमा और सजा १७४-७७, आपरेशन और रिहाई १८१, कौसिल प्रवेश के प्रश्न पर अपरिवर्तनवादियो को तटस्थ रहने की सलाह और गाधी-नेहरू-दास समझौता १८२-८३, काग्रेस के बेलगाम (१९२४) अधिवेशन की अध्यक्षता १८३, साम्प्रदायिक एकता के लिए उपवास १८५-८६ लोक-सग्रह के लिए देशव्यापी दौरे १८७-९२, बारडोली-सत्याग्रह १९४-९५, साइमन-कमीशन की नियुक्ति पर क्षोभ १९७, कलकत्ता-काग्रेस मे उपस्थिति और समझौता - प्रयत्न १९९-२००, गोलमेज परिषद् बुलाये जाने की सूचना पर सतोष २०४, डाडी-यात्रा २१२-१३, गिरफ्तारी २१५, समझौता-वार्ता और गाधी-इर्विन - पैक्ट २२०, गोलमेज - कान्फ्रेस मे २२५-२८, ईटन और लदन स्कूल ऑव इकानामिक्स के छात्रो के आगे भाषण २३०, रोमा रोला से भेट २३१-३२, सविनय अवज्ञा आदोलन का पुनरारभ २३३-३८, फिर कारावास २३६, दलित जातियो को पृथक् निर्वाचन के अधिकार के विरोध मे आमरण अनशन २४४-५०, हरिजनोद्धार का कार्य २५१-५६ सविनय अवज्ञा आदोलन बद और राजनैतिक कार्यो पर स्वेच्छा से प्रतिबध २५३, सेवाग्राम मे बसना २६२-६३, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक पुनरुत्थान, ग्राम-विकास, शिक्षा आदि पर विचार २५७-२७०, सामाजिक एव राजनैतिक सुधारो के लिए काग्रेसी मत्रियो का मार्गदर्शन २७४-७६, साप्रदायिक समस्या और पाकिस्तान की माग के प्रति दृष्टिकोण २८४-८५, शाति और युद्ध के प्रश्न पर दृष्टिकोण २८८-२९३, द्वितीय महायुद्ध के सबध मे लार्ड लिनलिथगो से भेट २९२, काग्रेस से सबध-विच्छेद २९५, काग्रेस का पुन मार्गदर्शन २९७, व्यक्तिगत सत्याग्रह २९८-९९, क्रिप्स-मिशन के प्रति दृष्टिकोण ३०२-०६, धुरी राष्ट्रो के बारे मे विचार ३०८-३०९, 'भारत छोडो' नारा और अगस्त-आदोलन ३१०-११ गिरफ्तारी ३१०, जेल मे इक्कीस दिन का उपवास ३११, आगा खा-महल मे महादेव देसाई और कस्तूरबा की मृत्यु

३१४-१६, रिहाई ३१७, साम्प्रदायिकता के प्रश्न पर जिन्ना-साहब से भेंट और वार्ता ३१८-३२०, केबिनेट मिशन पर प्रतिक्रिया ३२८-२९, साम्प्रदायिक दगो के शमन के लिए बगाल और बिहार का दौरा ३३३-३७, साम्प्रदायिक दगो और हिंसात्मक कार्रवाइयो से आघात ३३९, विभाजन पर दृष्टिकोण ३४४, कलकत्ता मे शाति के लिए उपवास ३४७, पजाब के दगो से व्यथित ३४८, दिल्ली मे उपवास ३५०, गोडसे द्वारा हत्या ३५२-५३, भारत के सार्वजनिक जीवन पर चतुर्दिक प्रभाव ३५३, राजनीति का धर्म से समन्वय ३५५-५८, विनम्रता ३५८-५९, सादगी ३६१, विनोदशीलता ३६१-६२, अहिंसा और मानवजाति का भविष्य ३६२-३६४।
गाधी, लक्ष्मीदास (काला) ४,२४
गाधी, हरजीवन २
'ग्रामोद्योग पत्रिका' २६३
गिरमिटिया मजदूर ३३, ३८-३९, ४६, ६६, ७१, ८८, ९२
गिरमिट-युक्त भारतीय मजदूर ८९, ९४
गिलडर, डॉ० ३१६
ग्रिग, जेम्स ३०१
गीता, २०, ५७, ६०, ६१, ७७, ८४, ९७
गीमी, दोरावजी एदलजी १
गुरुकुल कागडी १०२
गेट, सर एडवर्ड १२४
गेते १७७
गेल्डर स्टुअर्ट ३१८
गैरेट २७७
गोखले, गोपालकृष्ण ४५, ५४, ८०, ९०, ९३, ९८, १००-०२, ११५, ११९, १५३, ३०७, ३२३-२४,
—की दक्षिण अफ्रीका-यात्रा ३८९
गोडसे, नाथूराम ३५२-५३
गोवा, हरिकृष्णलाल १९
गोलमेज परिषद् २०३-०४, २१९, २६७
गो-सेवा-सघ २६३

घोष, श्रीअरविंद ११३, ११६

चडीपुर गाव ३३५
चपारन १२१-२२
चटगाव शस्त्रागार-काड २१५
चर्चिल, विंस्टन १५८, २१८, २७१, ३०४-०५, ३१०, ३१७, ३२४
चार्ल्सटाउन २७, ९१
चेंबरलेन ५४-५५
चेम्सफोर्ड, लार्ड १२४, १४९, १५३, १६३, २३५, ३२४
चैप्लिन, चार्ली २३०, २६७
चैपल सिस्टिन २३२
चौरीचौरा-काड १६८

जगलूल पाशा २२५,
जयकर, (माननीय) एम० आर० १३८, १९५, २१७, २१९-२०, २४१, २५०, ३५५

अनुक्रमणिका

जयप्रकाशनारायण ३५४
जलियावाला बाग (अमृतसर) काड १३६-३७
जानमन, एलन कैंपबेल २०८, २२१
जानमन, कर्नल १३८
जानमन, लुई ३०२
जार्ज, लायड १४१, २३०, ३२४
जिन्ना (माहब), मुहम्मदअली १२६, १३३, १५३, १५७, १६७, २७६-८६, ३०२, ३०४, ३१८, ३२६-३१, ३३७-३८, ३२१, ३४२-४३, ३६५
जूनागढ २, ३
जेममन ५२
जेम्म हेनरी १७७
जोहान्सवर्ग २८, ४७, ५५, ६३, ६६, ६८, ७४-७५, ७६, ८०, ८५-८७, ३५०
'ज्योर्नेल द इतालिया' २३३, २३७

'टाइम्म ऑव इडिया' ४७
टाटेनहेम २१३
टामम २४०
टाम्मन एडवर्ड २३०
टाल्स्टाय ५६, ६३, ६७-६८, ३६०
टाल्स्टाय-फार्म ८६-८८, ९०-९१, १०६, २१३, २७५
ट्रामवाल २८-३०, ४२-४३, ५५-५६, ७०-७२, ७६, ८३, ८४, ९०-९१, ९६
'ट्रामवाल गजट' ७२
'ट्रामवाल लीडर' ८०
'ट्रुथ' २३१

ठक्कर बापा २५३
ठाकुर रवीन्द्रनाथ (महाकवि, रवीन्द्र, कवीन्द्र, गुरुदेव) १०१-१०२, १०६, १३८, १५१, १७७, १६०, २०६, २४६, ३३५, ३६०

डफरिन लार्ड १११-१२
डरवन २६-२८, ३२, ३५, ३६, ४८, ५५, ६३, ६५-६७, ८६, ९०, ९६, ३५०
डार्विन, चार्ल्स १६
'डेली मेल' ८३
'डेली हेराल्ड' २१७
डोक, जोमेफ जे० ६८, ७७, ८१
डोक, श्रीमती ८१

तय्यबजी, अब्बास १३८, १५८
तिनकठिया पद्धति १२५
तिरहुत १२२, १४८
तिलक, बालगंगाधर ४५, ११३, ११६, ११८-११९ १२६, २६४
तुलसीदास, महाकवि १६१
तेलघानी केन्द्र २६३
तैयब सेठ ३०-३१

थोरो ८४

दयानद, स्वामी ३, ११०
दवे, मावजी १२
दांडी-कूच २१२-१३
दास, सी०आर० १३८, १५१, १५८, १६६, १६६, १७७, १७६-१८२, १६५, ३५४
दिनशा, डॉ० ३१६

दिल्लीमे हडताल, दगा और दमन १३५
'दि स्टार' ४७
देसाई, महादेवभाई २१५, २२५, २२९, २३१, २३९, २६३, २६७, २७७, ३१४-१५, ३५९
द्वारिकापुरी २

नमक-कानून का भग २१३-१४
नया इकरार २०, ५८, ७७
नरसी मेहता २
'नवजीवन' ७८, ९८, १६०, १८४
नागप्पा ८४
नादेरी ४७
नायडू सरोजिनी २२१
निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेजिस्टेंस) ७६-७७
नीरो १५१
नेटाल २६, ३०, ३२-३६, ३८-४६, ४८, ५०, ५२, ५४-५६, ५९, ७१, ७३, ८४, ८९-९०, ९२, ९६
नेटाल इडियन काग्रेस ३६-३८, ५१, ९६, १५६
'नेटाल मरकरी' ३२, ४७
नेशनल गार्ड ३४१
'नेशनल हेराल्ड ३०३
नेहरू, जवाहरलाल १५८-५९, १७२, १९१-९३, १९६, १९९, २०१, २०४, २०६ - २०७, २१४, २१७, २२०, २३५, २७२, २८०, २८८, २९१-९२, २९७-९८, ३००, ३०२-३०३, ३०८, ३१०, ३३१, ३३६-३८, ३४४, ३५४
नेहरू, मोतीलाल १३८, १५२, १५८, १६९, १७७, १८०-८२, १९५-९७, १९९, २०४-२०६, २१७, २२१, २९४, ३५४
नेहरू-रिपोर्ट १९९-२००, २८०
नैनी-जेल २१७
नैयर, डॉ० सुशीला ३१६, ३३४
नौआखाली-यात्रा, गाधीजी की ३६०
नौरोजी, दादाभाई २२, ३४, ३६, ९५, ११३, २७९
'न्यू इडिया' ११६
न्यू कैसेल ९०-९१
'न्यूज क्रानिकल' ३१८
'न्यू फ्री मैन' २१५

पजाब मे दगे ३३९, ३४७
पटना १२२
पटेल, वल्लभभाई (सरदार) १२८, १३०, १५८, १८०, १८३, १९४-९५, २०४, २१४, २३९, २४०, २५९, २९२, ३४४, ३५३-५४
पटेल, विट्ठलभाई १२७, १३३, १७८, १८०, २०२, २०३, २०५-०६, २१५, २१७
पर्ल हारबर पर जापानी आक्रमण २९९
परशुराम ३३४
पवनार २९८
पाकिस्तान का प्रस्ताव, लीग द्वारा २८३-८४
पायोनियर १९४
पारनेल १७९
पिकैडली सर्कस १६
पियर्सन ९४

अनुक्रमणिका

पिल्मना २३३
पुतलीबाई ४-६, १२, २०, ५७
पुरी २५५
पूना ४५, १०१, २१८,–(निर्णय)
पैक्ट २५०-५१,—मे गाधीजी पर
बम २५५, ३५०
पृथक् निर्वाचन का अधिकार, मुसल-
मानो को ११४,–दलित जातियो
को २४४
पेटिट, जहागीर १००
पेसिव रेजिस्टेंस १५१
पेसिव रेजिस्टेंस सघ ७८-७९
पोप २३३
पोरबदर ३-५, १२, १०१
पोलक ६६, ६८,—मिली ग्राहम ६८,
८५
पोपण और आहार की समस्या
पर गाधीजी के विचार २६४
प्यारेलाल २३१, ३३४
प्रतिनिधि सत्याग्रह २९८
प्रथम असहयोग-आदोलन ३१५
प्रह्लाद ११
प्रिटोरिया २६-२९, ३२-३३, ४२,
८०, ८६, ९३, ९७
'प्रिटोरिया न्यूज' ५३
प्रिंस ऑव वेल्स की भारत-यात्रा
१६५-६६

फिनिक्स-बस्ती ६७, ८६, ९०, १०२,
१०६, २१२, २७५
फेरिंग्डन स्ट्रीट १५
फ्राइडमैन, मारिस २६२

बग-भग ११३
बबई १३, २२-२४, ३३, ४४-४५,
१००, १११,—मे
४७,५४,६५ १३६,—मे दगा, १६५,-
उपद्रव में पहली मूती मिल १११,—मे
हडताल १३५,–रेगूलेशन २१५
बकल १७७
बटुकेश्वर दत्त २०२
बजाज, सेठ जमनालाल २६२
बनर्जी, डब्ल्यू० जी० ११०
बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ ११०, ११५
बरकन हेड, लार्ड १९७-९८
बर्रामघम २४७
बर्न्स, सर एलन ७०
बलकान-युद्ध ११५
बलदेवसिंह, सरदार ३३७
बाइबिल १९-२०, ५८, ६१, ७७
बारडोली, करबदी - आदोलन
१९३-९५,–सत्याग्रह १९७-९८
बालफोर ९२
बाल्डविन ३२४
बिडला, घनश्यामदास २५२, २७७
बिस्मार्क २९३
बुनियादी शिक्षा-प्रणाली २९५
बेतिया १२२
बुद्ध, गौतम २, ५७
बुलर, जनरल ५२-५३
बूथ, डाक्टर ५२
बेचरजी स्वामी १३
बेन ३२४
बेन, वेजवुड २०३-०४
बेसेंट, श्रीमती एनी ११६-१९,
१४७,१५७,१८६, २०४, २९४
बैंकर, शकरलाल १७४, १७९
बोअर राज्य ३०,–सरकार ३०,–

युद्ध ४७, ५१-५६, ७१, ७३, २८८
वोक्सरट ६२
बोस, निर्मलकुमार ३३४
बोस, सुभाषचन्द्र १५५, १६६, १९३, १९६
बोस्टन की चायपार्टी ८३
ब्रजकिशोर, बाबू १२३
ब्राइट, जान १०६
ब्राकवे ३२७
ब्रूम फील्ड, सी० एन० १७४
ब्रेल्सफोर्ड २१६, ३२७, ३३०

भसाली, प्रो० २६२
भगतसिंह २०२
भट्ट, श्यामल ५८
'भारत मे आधुनिक इस्लाम' २८६
भारत सेवक समिति ११०, ११६, १२७
भावनगर ११-१३, १८
भावे, आचार्य विनोबा २९८

मकनजी, गोकुलदास ८
मदनलाल ३५२
मदरास ४६, १३५
मदलेन रोला २२५
मनरो, टामस १०७
मनु, स्मृतिकार ५७, ६२,—स्मृति ५७, ६१
ममीबाई २४
मरे, डॉ० गिल्बर्ट २३०
मरी, जान मिडलटन २९१
मलाबार (केरल) २५४
महताब, शेख ६, १८
'महात्मा गांधी' १७३, २३१
महाभारत ७
महा (विश्व) युद्ध, पहला ११५-१६, १२८-२९, १४१, १४३,—दूसरा २७८-७९, २८६, २८७, ३२५
महावीर २
महिलाश्रम २६३
माटेगू, एडविन ११९, ३२४, ३५७
माटेगू-चेम्सफोर्ड-सुधार १५३
माउटबेटन-योजना ३४३-४५
माउटबेटन, लार्ड ३३८, ३४२-४३
माट, डॉ० जान २६२
मार्क्स, कार्ल १९
मार्ले, लार्ड ११४, ३२४
मालवीय, मदनमोहन १०९, १५१, १६२, १६६, १८३, १८६, २१४, २४०, २५०, ३५४
मिल, जान स्टुअर्ट १०९
मिलनर, लार्ड ३८
मिलर, वेब २१५
मीर आलम, पठान ८१, ८३
मीराबहन २३१, २३८, ३५०
मीराबाई २
मुंजे २५०
मुजफ्फरपुर १२२
मुनशी, के० एम० २१४
मुरारजीभाई (देसाई) २७७
मुसोलिनी १५१, २३२
मुस्लिम लीग ११४-१५, १४१, १९६, २८१-८४, २८६, ३०४, ३१८, ३१९, ३२२, ३२८, ३३०-३२, ३३७-३८, ३४१, ४३-३४४
मुहम्मद, नवाब सैयद ११५
मुहम्मद, पैगंबर हजरत ६०
मेरठ पड्यन्त्र केस २०३

'मेरी आस्था' (व्हाट आई बिलीव) ५९
मेसन फिलिप २७७
मेहता, सर फीरोजशाह २१, २५, ४८-४५, ७८, १००, ११५
मैकाले १२, १०९
मैक्डोनल्ड, रम्जे ११२, २१८-१९, २२८, २४५, ३२४
मैक्समूलर ११०
मैक्सवेल, सर रेजिनाल्ड ३१२
मैनचेस्टर १११
'मनचेस्टर गार्जियन' २७२
मैरित्सबर्ग २७-८
मोढ बनिया १३, २३
मोतीहारी १२२
मोपला विद्रोह १७१, १८४

'यंग इंडिया' १४४, १५१, १६०, १७१, १७४, १८४-८५, १८७, २२४, २५२
यरवदा-जेल १७६, २१६, २४४, ३६२

रलियात बहन (गोकी) ४
रसल, अर्ल २१३
रस्किन ६६-६७, ८४, ९७-९८
राजकोट १, ४-५, १३, २३-२४, २७, ४४, १०१-०२
राजगोपालाचार्य, सी० (राजाजी) १३५, १५८, १८०, १८३, २१४, २५०, २५६, ३१८, ३५४
राजपूताना जहाज २२४-२५
राजाजी फार्मूला ३१८, ३२०
राजेंद्रप्रसाद, देशरत्न, डॉ० १३०, १५८, १८०, २५०, २८३, ३५४
रामकृष्ण परमहंस ११०
राममोहनराय, राजा १०८
रामायण ७, २४६
रायचंदभाई ६०
राष्ट्र संघ २८७
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ३४१
रिपन लार्ड ११०
'रिवेल इंडिया' २१६
रीडिंग लार्ड १४४, १६३, १६५, १७८, १९६, २३५
रुस्तमजी ४९, ५०, ६५
रूजवेल्ट (अमरीकी राष्ट्रपति) ३०२, ३०४-०५
रेजिनाल्ड, सर क्रेडाक ११८, १२४
रोम २३२
रोमा रोला १७३, २२५, २३१
रौलट बिल और एक्ट १३१-३२, १३४-३५, १४९
रौलट, सर सिडने १३२

लंकाशायर १११, १४६, १५२, २२९
लंदन टाइम्स ३४, ४३, ७४, १०८, ३४७
लंदन विश्वविद्यालय २१
'लाइट ऑव एशिया' (एशिया की ज्योति) १९, ५७
लाजपतराय, लाला ११६, १६६, १८३, १९५-९६, १९८
लाटन ४९
लारेंस २७१
लारेंस, लार्ड पेथिक ३२१, ३२७
लारेंस, सर हेनरी १०७
लास्की, हेराल्ड ३२७
लाहौर में दमन १३८

लिड्से, डॉ० २३०
लिनलिथगो (विक्टर अलेक्जेडर जान) लार्ड २६१-६२ ३०२, ३०६, ३११, ३१४
लीस्टर म्यूरियल २२५, ३२७
लुइस डब्ल्यू० ए० १२२
लेफ्राम बिशप ६३
लेली १३
लो २४७
लोदियन, लार्ड २५०

वदेमातरम् ११३
वर्धा २५३, २६२, २६५, २६८, ३०५, ३०६
वर्धा-योजना (शिक्षा की) २७६
वल्लभाचार्य २
वाचा ४५
वायु-सेना और नाविको का विद्रोह ३२६
वाशिगटन इरविग ६०
विसेट, विलियम १६२
विअर स्टेट ५३
विक्रमजीतसिंह, राणा ४
'विभूतिया और विभूति-पूजा' ६०
विलिगटन २७१
विलिगडन, लार्ड २२३, २३५, २३७, २४१-४३, २४७, २७१, २७६, ३१४
विवेकानद, स्वामी ११०
वुडरफ, फिलिप ३०५
'वेजीटेरियन' १८, २०
वेडरवर्न ३२७
वेल्स १७७
वेवल, लार्ड ३१६, ३१८, ३२०-२१, ३३७-३८, ३४२-४३
वेस्ट, एलबर्ट ६७
'वैकुठ तुम्हारे हृदय मे' ५६, ७७
व्यक्तिगत सत्याग्रह २६८-३००, ३१३

शफी, मुहम्मद १६
शर्मा, शिव ३१६
शातिदल ३३०
शातिनिकेतन १०१-१०२, २४६
शा, जार्ज बर्नार्ड ११६, १७७
शास्त्री, श्रीनिवास १०२, १५१, १५३, ३२२, ३५५
शिवली ११५
शिमला-सम्मेलन ३२०-२१
शिरोल, वैलेटाइन ११३
शुक्ल, राजकुमार १२१-२२

श्रद्धानन्द, स्वामी १८३, १८६
श्रवण ७
श्रीकृष्ण २
श्रीकृष्णदास १६०
श्रीरामपुर गाव ३३४-३५

सयुक्त मन्त्रिमडल, लीग-काग्रेस का केद्र मे ३३७
सत्ता का हस्तातरण (१५ अगस्त १९४७) ३४५
सत्याग्रह ७६-७७, ८२-८३, ८५-८६, ८८-८९, १०१, १२०, १२६-१२८, १३४, १३६, १५६, १५६, १६२, १६६-७०, १७२-७४, १७६, २०७-१६, २३३-४२, २४३, २५७-५८, २८६, २६८-३००, ३१३, ३२५, ३५५-

५६ ३५८,—आश्रम (साबरमती) १०३, १०५ १२५, २१२-१३, २४५, २४६, २५३,—आश्रम का इतिहास १०३,—खेड़ा जिले के किसानों का १२७-२८,—आराधना २१५, —नमक २०६-१४, —मंडल ८५,—सभा १३५,—का नैतिक उद्देश्य २४३
'सत्याग्रह' १३५
'सनडे पोस्ट' ६१
सप्रू, सर तेजबहादुर १३३, २०४-०५, २१७, २१६, २२०, २४१, २५० ३५५
सर्वदल-सम्मेलन १६६
'सर्वोदय' १२५
सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ २१२,—पुनरारम्भ २३३
सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित १६२, २२०
ससेक्स २५०
साम्प्रदायिक दंगे १८३-८६, ३३०
साम्प्रदायिक निर्णय २७८
साइमन-कमीशन और उसका विरोध १६७-६६, २१८, २५०
साइमन, वाइकाउंट १६८
साइमन, सर जान १६७, ३०१
साम्यवाद २०३, ३६३
साल्ट १५, १८
साल्टर, गिल्बर्ट २३०
साराभाई अंबालाल १२५
सिंगापुर का पतन २६६
सिनहा, सच्चिदानंद १६, १६
सिपाही-विद्रोह (१८५७) १०८, १३७
सीतलवाड़, सर चिमनलाल १३३
सीधी कार्रवाई, लीग की ३३१-३२
सुहरावर्दी, एच० एस० ३३२, ३३८, ३८५
सेगांव (सेवाग्राम) २६२-६४, ३५१
सेनगुप्त जे० एम० २१४
सोमनाथ मंदिर २
'सौंग सेलेस्टियल' (दिव्य संगीत) १६, ५७
'स्टार' २८८
'स्टेट्समैन' ४६, १६४, ३३२
स्ट्रैंगमैन, जी० टी० १७८
स्टैंडरटन २७-२८
स्मट्स जनरल (फील्ड मार्शल) ७२, ८०-८३, ८६, ६३-६४, ३१२
स्मिथ, डब्ल्यू० सी० २८६
स्लोकोंब, जार्ज २१७
स्वदेशी व्रत का ग्राममूलक अर्थ-बोध २६१
स्वराज्य पार्टी १८०-८२, १६५-६६
स्वाधीनता-दिवस २०६
स्वाधीनता (इंडिपेंडेंस) लीग १६६

हंटर-कमेटी १३७, १४०
हंटर, डब्ल्यू० डब्ल्यू० (लार्ड) ३६, १३८
हक्सले, जूलियस १६
हक, मजरुल १६
'हरिजन' २५२, २८४, २८६, ३३०
हरिजनोद्धार (अस्पृश्यता-निवारण) २४६-५६
'हरिजन सेवक' ७८, २५२

हरिजन सेवक सघ २५३
हरिद्वार १०२
हरिश्चन्द्र ११
हडताल, अहमदाबाद के कपडा मजदूरो की १२५-२७
हडताले, औद्योगिक १९३
ह्यार्नीमेन, बी० जी० २२१
हापकिन्स ३०४
हार्डिज, लार्ड ९३, १०१, ३०७
'हिद स्वराज्य' ९८-९९, १३२, १३५, १४७, १५२, २६६, ३६०
हिदुस्तानी तालिमी सघ २६३
हिदू ४६, २९९
हिकाक, डव्ल्यू० एच० १२२
हिटलर २६८, २९५
हीथ कार्ल ३२७
हेग, सर हैरी २८३
हैप्सवर्ग साम्राज्य १४३
हैरीसन आगाथा ३२७, ३६१
होईलैड, जान एस० ८
होमरूल - आदोलन, आयरलैड १७९, भारतीय और लीग ११६-२०
होर, सर सेम्युअल २२८, २३६, २३७, २३९, २४२, २४४, २५०, २७१, २८१, ३२४
ह्यूम, ए० ओ० १११-१२, ३२७